# THE BOOK WAS DRENCHED

Damage Book

Brown Colour Book

भारतीय ग्रन्थमाला; संख्या २२ ,

# भारतीय अर्थशास्त्र



अर्थशास्त्र हो [redacted] हो, उसके ज्ञान का
महत्व तभी है, जब उसका उपयोग मनुष्य-जाति
की सेवा के लिए हो; जब वह जीवन की
जटिल समस्याओं को हल करे ।

भारतीय ग्रन्थमाला; संख्या ११.

# भारतीय अर्थशास्त्र



लेखक
भारतीय शासन, हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ, नागरिक शास्त्र,
और मनुष्य जाति की प्रगति, आदि
पुस्तकों के रचयिता

## भगवानदास केला



प्रकाशक
भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, इलाहाबाद



पाँचवाँ संस्करण
१५०० प्रतियाँ

सन् १९४९ ई०

मूल्य
पाँच रुपए

प्रकाशकः—
भगवानदास केला
व्यवस्थापक
भारतीय ग्रन्थमाला
दारागंज (इलाहाबाद)

इस पुस्तक के संस्करण

| | | |
|---|---|---|
| पहला संस्करण | २००० प्रतियाँ | सन् १९२९ ई० |
| दूसरा ,, | ६२५ ,, | ,, १९३७ ,, |
| तीसरा ,, | ५०० | ,, १९४२ ,, |
| चौथा ,, | १००० ,, | ,, १९४६ ,, |
| पाँचवाँ ,, | १५०० ,, | ,, १९४९ ,, |

मुद्रक :—
गयाप्रसाद तिवारी, बी० काम०,
नारायण प्रेस,
नारायण बिल्डिंग्स, प्रयाग।

# निवेदन

भारतीय ग्रन्थमाला जैसी साधारण साधन वाली संस्था 'भारतीय अर्थशास्त्र' का पाँचवाँ संस्करण प्रकाशित करने का साहस कर रही है। इसका श्रेय उन विविध सज्जनों और संस्थाओं को है, जिन्होंने इस माला के राजनैतिक और आर्थिक साहित्य को समय-समय पर प्रोत्साहन प्रदान किया है। उन सबको हार्दिक धन्यवाद!

इस पुस्तक को प्रथम बार लिखने का कार्य सन् १९१७ में आरम्भ किया गया था, परन्तु विविध बाधाओं के कारण इसकी रचना में यथेष्ट प्रगति न हुई। आखिर १९२१-२२ में जब मुझे प्रेम महाविद्यालय में यह विषय पढ़ाने का प्रसंग आया, और उस संस्था के आनरेरी जनरल मेनेजर स्वामी आनन्दभिक्षुजी ने मुझसे इस पुस्तक को लिखने का अनुरोध किया, तब इसे पूरा किया गया। श्री० प्रोफेसर दयाशंकर जी दुबे एम० ए० द्वारा संशोधित होने पर इसका प्रथम संस्करण, दो भागों में गंगा पुस्तकमाला से सन् १९२५-२६ में प्रकाशित हुआ। वह संस्करण दस वर्ष तक चलता रहा। यह बात पुस्तक के पुनः प्रकाशन में उदासीनता बढ़ानेवाली ठहरी। अन्त में जब श्री० दुबे जी के कहने पर श्री० दुलारेलाल जी भार्गव ने मुझे इस पुस्तक को छपाने का अधिकार दे दिया तो सन् १९३७ में आवश्यक संशोधन करके इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित किया गया। अब तो इसके पाँचवें संस्करण का नम्बर आ गया है। मित्रवर श्री० दुबे जी का सहयोग इस पुस्तक के हरेक संस्करण में मिलता रहा है; इस बार भी आपने इस पुस्तक के संशोधन में, तथा कई उपयोगी बातों को बढ़ाने में बहुत सहायता दी। इसके लिए मैं आपका बहुत कृतज्ञ हूँ।

महायुद्ध समाप्त हुए तीन साल होने को आए, तो भी उसकी

काफी छाया हमारे आर्थिक जीवन पर पड़ी हुई है, और उसकी कुछ बातें तो बहुत समय तक विचार करने की रहेंगी। इसलिए इस पुस्तक में उन पर सोचने के लिए कुछ सामग्री दे दी गई है।

अगस्त १९४७ से भारतवर्ष स्वतंत्र हो गया है। अब हम जन-साधारण की आर्थिक स्थिति के सुधार के उपायों का विचार कर रहे हैं। यहाँ उत्पत्ति की व्यवस्था किस प्रकार ऐसी हो कि जनता को आवश्यक भोजन वस्त्र अवश्य ही मिल सके? उपभोग में लोकहित की दृष्टि से किन-किन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है? हमारे देशी तथा विदेशी व्यापार में क्या-क्या बाधाएँ हैं? कुछ लोगों का निजी स्वार्थ या लोभ जनता का कैसा अहित कर रहा है? लगान, सूद और मुनाफेखोरी का किस प्रकार नियंत्रण किया जाना चाहिए, और मजदूरों को न्यूनतम वेतन देने के लिए किन सिद्धान्तों का ध्यान रखना आवश्यक है? इन सब बातों पर प्रसंगानुसार विचार किया गया है।

इस बात का ध्यान रखा गया है कि कोई आर्थिक प्रयत्न—उत्पत्ति, उपभोग, विनिमय, व्यापार और वितरण—धर्म-विरोधी न हो। धन कितना ही आवश्यक क्यों न हो, वह मनुष्य की एकमात्र आवश्यकता नहीं है। मनुष्य वस्तुतः सुख-शांति की खोज में रहता है, और इसकी प्राप्ति सेवा, परोपकार, ईमानदारी, और सद्व्यवहार से ही होती है। पुस्तक में कहीं-कहीं, विशेषतया अंतिम भाग में, भारतवर्ष की प्राचीन आर्थिक व्यवस्था का भी उल्लेख किया गया है; तुलनात्मक दृष्टि से ऐसे उदाहरण बहुत शिक्षाप्रद और मनोरंजक प्रतीत होंगे।

यह पुस्तक 'भारतीय' अर्थशास्त्र है। इसका हमने बराबर ध्यान रखने का प्रयत्न किया है। इसलिए स्थान-स्थान पर उन बातों का विरोध किया है, जो भारतीय आचार-विचार और नैतिक भावनाओं से मेल नहीं खातीं। पुस्तक में एक परिशिष्ट में अर्थशास्त्र का भारतीय दृष्टिकोण स्पष्ट किया गया है। इस समय देश में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सभी शासन-सूत्र कांग्रेस ने ग्रहण कर रखा है। इसलिए एक परिशिष्ट

में उसकी आर्थिक नीति, उसके ही प्रस्ताव के अनुसार दे दी गई है। हमारे आधुनिक इतिहास की एक महान घटना, स्वराज्य-प्राप्ति के अतिरिक्त, देश का विभाजन है। पाकिस्तान का एक अलग राज्य बन जाने से हमारे किस आर्थिक विषय पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका प्रसंगानुसार उल्लेख करने के अलावा एक परिशिष्ट में कुछ ब्योरेवार विचार किया गया है। इस प्रकार पुस्तक के इस संस्करण को भारतीय जीवन के निकट रखने तथा इसे अधिक-से-अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। इससे पुस्तक का आकार खासा बढ़ गया है, तथापि विषय के महत्व की दृष्टि से यह पुस्तक छोटी ही है।

हरेक नागरिक को देश की आर्थिक दशा का अच्छा ज्ञान होना बहुत ज़रूरी है। यह विषय किस्से-कहानियों या उपन्यासों की तरह रोचक अथवा रण-भूमि के वृत्तांतों की तरह उत्तेजक न होने पर भी धार्मिक ग्रन्थों की तरह कल्याणकारी है। स्वराज्य-प्राप्त भारत आर्थिक स्वावलम्बन चाहता है। प्रत्येक सज्जन का कर्त्तव्य है कि यहाँ की आर्थिक स्थिति के सुधार में भरसक भाग ले। केवल अनुमान के सहारे भावुकता की बातें करने से, देश का वैसा ही अनिष्ट हो सकता है, जैसा किसी अनाड़ी वैद्य से रोगी का। यहाँ जागृति हो रही है; अच्छे-अच्छे मस्तिष्क और हृदय देश-सेवा के लिए अपने आराम और सुख को तिलांजली दे रहे हैं। आशा है, ऐसे अवसर पर भारतीय राष्ट्र को अर्थ-रोग से मुक्त करने के लिए 'भारतीय अर्थशास्त्र' अध्ययन करनेवालों की कमी न रहेगी।

विनीत

भगवानदास केला

नोट—पिछले संस्करण की भांति इस संस्करण में पारिभाषिक शब्दावली नहीं दी गई है। इसके लिए हमारी स्वतंत्र पुस्तक 'अर्थशास्त्र शब्दावली' देखिए।

# सहायक साहित्य

जठार और बेरी ... Indian Economics
कुमारप्पा ... Why the Village Movement ?
दयाशंकर दुबे ... विदेशी विनिमय ( दूसरा संस्करण )
दुबे और केला ... धन की उत्पत्ति
,, ... सरल अर्थशास्त्र (तीसरा संस्करण)
दुबे और जोशी ... सम्पत्ति का उपभोग ( दूसरा संस्करण )
गुप्त और केला ... कौटल्य के आर्थिक विचार ( तीसरा " )
शङ्करसहाय सकसेना ... भारतीय सहकारिता आंदोलन( " " )
,, ... प्रारम्भिक अर्थशास्त्र (चौथा " )
द्वारकालाल गुप्त ... भारतीय बैंकिंग
राधाकृष्ण झा ... भारत की साम्पत्तिक अवस्था
बालकृष्ण ... अर्थशास्त्र
दुबे, अम्बष्ट और केला ... अर्थशास्त्र शब्दावली (तीसरा संस्करण)
पट्टाभि सीतारामैया ... म० गाँधी का समाजवाद
श्रीकृष्णदत्त भट्ट ... भारतवर्ष का आर्थिक इतिहास
दुबे और अग्रवाल ... हमारी आर्थिक समस्याएँ
कान्तानाथ गर्ग ... आधुनिक व्यापार

'अर्थ सन्देश' ( त्रैमासिक ), वर्धा; 'वाणिज्य' ( साप्ताहिक ) कलकत्ता; 'पूँजी' ( साप्ताहिक ), कलकत्ता; 'विश्वमित्र' ( मासिक ), कलकत्ता; 'लोकसेवक' ( साप्ताहिक ), इन्दौर; 'लोकवाणी' (दैनिक), जयपुर; 'खादी जगत' ( मासिक ), वर्धा; आदि पत्र-पत्रिकाएँ और विविध रिपोर्टें ।

---

# भूमिका

यह आर्थिक युग है। परन्तु भारत में अधिकांश पढ़े लिखे लोग भी अर्थशास्त्र के ज्ञान से कोरे हैं। यही कारण है कि भारत की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं। करोड़ों भारतवासियों को अथक परिश्रम करने पर भी पेट-भर भोजन नहीं प्राप्त होता। स्वदेश को समृद्धिशाली बनाने के लिए—उसको उन्नति के शिखर पर चढ़ाने के लिए—हम सबका यह प्रधान कर्त्तव्य होना चाहिए कि अर्थशास्त्र के ज्ञान का सर्व-साधारण के बीच प्रचुर प्रचार करने में कोई बात उठा न रखें। इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि अर्थशास्त्र-संबंधी साहित्य को सर्वाङ्ग सम्पन्न बनाया जाय—उसके हर एक हिस्से की, खासकर भारतीय अर्थशास्त्र की, भरसक तरक्की की जाय।

खेद है कि राष्ट्रभाषा हिंदी में अब भी अर्थशास्त्र-सम्बन्धी पुस्तकों की बहुत कमी है। दस-पांच पुस्तकों से ही उसका यह अंग सम्पन्न नहीं समझा जा सकता। हर्ष की बात है कि साहित्य-सेवा को अपना मुख्य उद्देश्य मानकर काम करनेवाले कुछ-उद्योग-शील लेखक और प्रकाशक इस ओर ध्यान देने लगे हैं। इन उद्योगशील लेखकों में श्रीयुत भगवानदासजी केला भी हैं। आप लगभग पैंतीस वर्षों से हिन्दी के इस अभाव को पूर्ति के लिए

प्राग-पण से परिश्रम कर रहे हैं। यह 'भारतीय अर्थशास्त्र' आप के इसी उद्योग का फल है।

हिन्दी संसार ने, विशेषतया अर्थशास्त्र-प्रेमी सज्जनों ने इस का अच्छा स्वागत किया। अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग, गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी, काशी विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, महिला विद्यापीठ प्रयाग, आदि राष्ट्रीय संस्थाओं ने इस ग्रन्थ को अपनी परीक्षाओं की पाठ्यपुस्तकों की सूची में स्थान देने की कृपा की है।

गत वर्षों में भारत की आर्थिक दशा में बड़ा परिवर्तन हो गया है। अतः इस ग्रन्थ को 'अप-टु-डेट' बनाने के लिए श्री० केलाजी को बहुत परिवर्तन और परिवर्द्धन करना पड़ा। कठिन परिश्रम करने के बाद यह नवीन संस्करण तैयार हुआ है। इसमें भारत की प्रायः सब आर्थिक समस्याओं पर निष्पक्ष विचार गम्भीरता और निर्भीकता-पूर्वक प्रकट किए गए हैं। मुझे विश्वास है कि इस रचना से पाठकों को देशवासियों की सच्ची आर्थिक दशा समझने में बड़ी सहायता मिलेगी, और इसमें बताए हुए तरीकों से कार्य करने पर यहाँ आशातीत आर्थिक सुधार होगा, और भारतवासी सुखी होंगे।

आशा है, भारतीय अर्थशास्त्र के इस नवीन संस्करण का पहले से अधिक आदर होगा, और जिन शिक्षा-संस्थाओं के पाठ्यग्रन्थों की सूची में इसे अभी तक स्थान नहीं मिला है, वे भी इसे शीघ्र अपनाएँगी।

श्री दुबे निवास,
दारागंज, प्रयाग।
१-१-१९४९

**दयाशंकर दुबे**
एम. ए., एल-एल. बी.
अध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय।

## स्व० स्वामी आनन्दभिक्षु सरस्वती

की पुण्य स्मृति में

जीवन के वे दिन भी याद रहेंगे! श्री० स्वामी जी ने तीन वर्ष गुरुकुल (वृन्दावन) की अवैतनिक सेवा करके प्रेम महाविद्यालय की बागडोर संभाली थी, और मैं इस संस्था के मुख-पत्र 'प्रेम' के सम्पादक के नाते यहाँ आया था। स्वामी जी वानप्रस्थ आश्रम में थे, जिसे लोग व्यवहार में प्रायः भूल गए हैं; और मैं गृहस्थ था, जैसा कि अधिकांश आदमी जीवन-भर रहा करते हैं। स्वामी जी उम्र में बड़े थे ही, अनुभव और पद में भी ऊँचे थे। पर उनके बात-व्यवहार में बड़े-छोटे का भाव न था; स्नेह था, प्रेम था, सुख-दुख में साथ देने का विचार था। जीवन-यात्रा में जितने भी समय किसी ऐसे सच्चे मित्र का साथ मिल जाय, मनुष्य अपने आपको धन्य मानता है।

स्वामीजी के बहुमूल्य सत्संग की यादगार में, यह पुस्तक उन्हें श्रद्धा सहित समर्पित है। परमात्मा करे, उनकी भावना के अनुसार देश में इस विषय के ज्ञान की वृद्धि और प्रचार हो।

भगवानदास केला

# विषय-सूची



## पहला भाग

## विषय-प्रवेश

### (१) भारतीय अर्थशास्त्र का विषय

अर्थशास्त्र—अर्थ या धन—राष्ट्रीय सम्पत्ति—अर्थशास्त्र एक सामाजिक विद्या है—अर्थशास्त्र के नियमों का व्यवहार—राष्ट्रीय अर्थशास्त्र—भारतीय अर्थशास्त्र—हमारी आर्थिक समस्याएँ—अध्ययन की आवश्यकता। विशेष सूचना। पृष्ठ १—६

### (२) अर्थशास्त्र के भाग

उत्पत्ति—उत्पत्ति के साधन—उपभोग—मुद्रा और बैंकिंग—विनिमय—वितरण। पृष्ठ ६—१८

---

## दूसरा भाग

## उत्पत्ति

### (३) भारत-भूमि

प्राक्कथन—भारतवर्ष की प्राकृतिक स्थिति—विस्तार—प्राकृतिक भाग—जलवायु और उसका आर्थिक प्रभाव—वर्षा और उसका आर्थिक प्रभाव—नदियों का आर्थिक प्रभाव—भूमि के भेद—जंगल—उन्नति की आवश्यकता—अन्य भूमि—खनिज पदार्थ—लोहा—कोयला—पेट्रोल—अन्य खनिज पदार्थ—भारतवर्ष की खनिज स्थिति—खनिज पदार्थों के सदुपभोग की आवश्यकता—प्राकृतिक शक्ति।
पृष्ठ १६—१२.

(४) भारतवर्ष की जनसंख्या

प्राक्कथन—भारतीय जनता—गाँव और नगरों में—जनसंख्या का घनत्व—जनसंख्या और भूमि—जनसंख्या की वृद्धि और खाद्य पदार्थ—जनसंख्या और कुल धनोत्पत्ति—जनसंख्या पर सामाजिक और धार्मिक विचारों का प्रभाव—जनसंख्या कितनी होनी चाहिए?—जनसंख्या और प्रवास—दूसरे प्रतिबन्धक उपाय। पृष्ठ ३१—४३.

(५) भारतीय श्रम

श्रम और मनुष्य—उत्पादक श्रम; व्यक्तिगत और सामाजिक—भारतवर्ष में अनुत्पादक—जाति-भेद—संयुक्त-कुटुम्ब-प्रणाली—क्या यहाँ धार्मिक विचार आर्थिक उन्नति में बाधक हैं?—भारतीय श्रमजीवी—कार्यकर्ता और आश्रित; पुरुष और स्त्रियाँ—भिन्न-भिन्न पेशों का विचार—कृषक—कृषकों की शिक्षा और स्वास्थ्य—कृषि-श्रमजीवी—कारखानों और खानों के मजदूर—कारीगर या स्वतंत्र श्रमी—औद्योगिक शिक्षा—मानसिक कार्य करनेवाले—घरेलू नौकर—क्या भारतवर्ष में श्रमजीवियों की कमी है?—कार्यकुशलता की वृद्धि। पृष्ठ ४४—६४.

(६) पूँजी

पूँजी और उसका महत्व चल और अचल पूँजी—भारतवर्ष में पूँजी की दशा—किसानों की पूँजी—पशु—उद्योग-धंधों के लिए पूँजी—मशीनें और इमारतें—अन्य पूँजी—विदेशी पूँजी का प्रयोग—भारतीय पूँजी की वृद्धि के उपाय—सरकार का प्रयत्न; नदियों की उन्नति की बहुमुखी योजनाएँ। पृष्ठ ६४—७६.

(७) व्यवस्था

प्रबन्ध—प्रबन्धक के कार्य—साहस—साहसी के गुण—भारतवर्ष में प्रबन्ध और साहस—व्यवस्था, ग्रामोद्योग में—कल-कारखानों में—व्यवस्था के भेद; एकाकी उत्पादक—साझेदारी—मिश्रित पूँजी की कम्पनियाँ—एकाधिकार—सहकारिता। पृष्ठ ७६—८९.

## (८) बड़ी मात्रा की उत्पत्ति और कल-कारखाने

स्वावलम्बी समुदाय—कारीगरों का जमाना—बड़ी मात्रा की उत्पत्ति—लाभ-हानि—कल-कारखानों का जमाना—श्रम-विभाग—लाभ-हानि—संचालन-शक्ति भारतवर्ष के बड़े-बड़े कारखाने—कारखानों में मजदूरों का जीवन—कारखानों का कानून—सन् १९४८ का कानून—खान और उनमें काम करनेवाले मज़दूर—खानों का कानून—कोयला-खान-मज़दूर सम्बन्धी कानून—पूँजी और श्रम का संघर्ष; हड़ताल और द्वारावरोध—समझौते की व्यवस्था—श्रमजीवियों की उन्नति के कार्य—मजदूरों को मुनाफे में साझा—बीमा-योजना—श्रमजीवी संघ—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ—८९—११०.

## (९) खेती

हमारी खेती की उपज—बाधाएँ—किसानों की निर्धनता और निरक्षरता—खेतों के छोटे-छोटे और दूर-दूर होने को रोकने के उपाय—बे-मुनाफे की खेती—ऐसी भूमि जिसमें खेती सम्भव है, पर की नहीं जाती—पड़ती भूमि का उपयोग—सिंचाई—खेती के पशुओं आदि का सुधार—बढ़िया तथा नई किस्म की चीजों की उत्पत्ति—सरकारी कृषि-विभाग—बंगाल का अकाल और उसकी जाँच—सरकारी अन्न-वितरण-नीति—'अधिक अन्न उपजाओ'-आन्दोलन—भूमि-सुधार—ट्रेक्टरों का उपयोग—कृषि-यंत्रीकरण और बैल—खाद्य उत्पादन बढ़ाने की योजनाएँ। पृष्ट ११० –१२६

## (१०) उद्योग धन्धे

औद्योगिक उन्नति की आवश्यकता—भारतवर्ष में छोटी दस्तकारियों की विशेषता—घरेलू उद्योग धन्धे—किसानों के लिए उपयोगी सहायक धन्धे; पशु-पालन—दूध-घी का काम—गुड़ बनाना—बगिया लगाना—हाथ की कताई-बुनाई—अखिल भारतीय चर्खा संघ—खादी का विकेन्द्रीकरण—खादी की शिक्षा—चर्खा-संघ और प्रदर्शनी—चर्खा-संघ का वर्तमान क्षेत्र—सरकार और खादी—स्वतन्त्र रूप से

किए जानेवाले धन्धे—लकड़ी और लोहे का काम--तेल पेरने का काम—चमड़े का काम— अ० भा० ग्रामोद्योग संघ · मरू उद्योग धन्धों की उन्नति के उपाय—सरकारी सहायता—छोटे उद्योग-धन्धों का भविष्य—बड़े उद्योग-धन्धे वस्त्र-संकट के कारण—मिल-उत्पादन में सावधान—कपड़े की समस्या का हल—चीनी का उद्योग—उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीकरण—कुछ ध्यान में रखने की बातें—उद्योग-धंधों के लिए सरकारी सहायता—उद्योग-धंधों का संरक्षण—युद्ध और उद्योग-धन्धे—स्वतंत्र भारत और औद्योगिक उन्नति—उत्पादन की नई योजनाएँ—भारत-सरकार की औद्योगिक नीति—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ १२६—५६.

(११) उत्पत्ति की वृद्धि और आदर्श

उत्पत्ति की वृद्धि; स्वावलम्बन की आवश्यकता—कैसी चीज़ों की उत्पत्ति की जानी चाहिए?—उत्पत्ति का आदर्श—पूँजीवाद या स्वार्थवाद—परमार्थवाद—मध्यम मार्ग—विशेष वक्तव्य।

पृष्ठ १५६—६०

———

तीसरा भाग

# उपभोग

(१२) उपभोग और आवश्यकताएँ

उपभोग के विचार का महत्व—विचार न करने से हानि—आवश्यकताएँ—आर्थिक आवश्यकताओं के लक्षण। पृष्ठ १६१-६५

(१३) उपभोग के पदार्थ

जीवन-रक्षक पदार्थ—निपुणता-दायक पदार्थ—कृत्रिम आवश्यकताओं के पदार्थ—आराम के पदार्थ—विलासिता के पदार्थ—अधिकतम तृप्ति—कुछ पदार्थों के उपभोग का विचार; (१) अन्न—(२) नमक—(३) घी-दूध—(४) खाँड और गुड़—(५) कपड़ा—(६) चाय—(७) तम्बाकू—(८) मादक द्रव्य—भोजन-वस्त्र का आवश्यक परिमाण

—भोजन वस्त्र आदि के उपभोग की विधि—उपभोग के पदार्थों के शुद्ध होने की आवश्यकता—भारतवासियों के मकान—घरों का सामान—सामूहिक उपभोग के पदार्थ—युद्ध, और उपभोग के पदार्थ—राशनिंग—कुव्यवस्था से हानि—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ १६६—८५

(१४) रहनसहन और पारिवारिक आय-व्यय

रहनसहन पर प्रभाव डालनेवाली बातें—भारतवासियों का रहन-सहन—रहनसहन का दर्जा नीचा होने के प्रमाण—रहनसहन के दर्जे के ऊँचे होने की आवश्यकता—रहनसहन का दर्जा ऊँचा करने के साधन—युद्ध और रहनसहन का दर्जा—मध्यम वर्ग की दुर्दशा—पारिवारिक आय-व्यय—भारतवर्ष में पारिवारिक आय-व्यय-साहित्य—व्यय सम्बन्धी अनुभव—जाँच के लिए नक्शे का नमूना—नक्शे का कुछ स्पष्टीकरण। पृष्ठ १८६—२०१

(१५) उपभोग का विवेचन

सदुपभोग—दुरुपभोग—मादक पदार्थों का उपभोग—विदेशी वस्तुओं का उपभोग—बिना सोचे-विचारे दान-धर्म—रीति-रस्म आदि में अपव्यय—मुक़दमेबाजी—दुरुपभोग और आदतें—आवश्यकताओं का नियन्त्रण—उपभोग का आदर्श। पृष्ठ २०१—२०६

------

चौथा भाग

## मुद्रा और बैंक

(१६) मुद्रा; रुपया पैसा

विनिमय का माध्यम—माध्यम के ज़रूरी गुण—सिक्का—माध्यम का चलन या करेन्सी—प्रामाणिक और सांकेतिक सिक्का—भारतवर्ष में प्रामाणिक सिक्के—भारतवर्ष में सांकेतिक मुद्रा—भारतवर्ष के वर्तमान सिक्के—युद्ध का प्रभाव—भारतवर्ष के लिए सोने का सिक्का—दशमिक पद्धति का विचार—स्वतन्त्र भारत का सिक्का। पृष्ठ २१०—२१

## (१७) कागजी मुद्रा; नोट आदि

भारतवर्ष में नोटों का प्रचार—कागज़ी-मुद्रा-कानून—नोटों की अधिकता से बट्टा और मँहगी—युद्ध-काल में अत्यधिक मुद्रा—इसके दुष्परिणामों से बचने के उपाय—वर्तमान मुद्रा-प्रसार और सरकारी नीति—सरकारी नीति पर विचार—कागजी-मुद्रा-कोष का रूप और स्थान। पृष्ठ २२१—३३

## (१८) साख और बैंक

साख का महत्व—साख-पत्र—प्रामिसरी नोट—हुँडी—चेक—नोट (करेन्सी)—महाजनी—सर्राफी—बैंक—बैंकों के भेद—सहकारिता—सहकारी साख समितियाँ—सेन्ट्रल और प्रान्तीय सहकारी बैंक—भूमि-बन्धक बैंक—पोस्ट आफिस सेविंग बैंक—मिश्रित पूँजीवाले बैंक—इम्पीरियल बैंक—रिजर्व बैंक—रिजर्व बैंक के कार्य—नोट-विभाग और बैंक-विभाग—रिजर्व बैंक की नीति—बैंक का राष्ट्रीकरण—एक्सचेंज बैंक—बीमा कम्पनियाँ—भारतवर्ष की बैंक सम्बन्धी आवश्यकताएँ—क्लियरिङ्ग हाउस या चेक-चुकाई भवन। पृष्ठ २३४—२५६

## (१६) विनिमय की दर

भारतवर्ष का दूसरे देशों से लेन देन—भुगतान की विधि—सरकारी हुँडियाँ—विनिमय की दर का आधार—टकसाली दर—भारतवर्ष की विनिमय-दर; सन् १६१६ तक—सन् १६१६ की करेन्सी कमेटी—बहुमत की सलाह—श्री० दलाल की सलाह—भारत-सरकार का निर्णय—इसका परिणाम—हिल्टन यंग कमीशन—विनिमय-दर ऊँची होने का प्रभाव—युद्ध और विनिमय-दर—विनिमय-नियंत्रण—सोनेकी निर्यात और भारत-सरकार—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-बैंक और कोष—बैंक की पूँजी और हिस्से—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-बैंक और भारत।

पृष्ठ २५६—७२

---

## पाँचवाँ भाग

# विनिमय और व्यापार

### (२०) कीमत

विनिमय और कीमत—पदार्थों का बाजार और उसका क्षेत्र—कीमत का माँग और पूर्ति से सम्बन्ध—कीमत पर यातायात के साधनों की वृद्धि का प्रभाव—कीमत और उत्पादन व्यय—कीमत की घटबढ़—कुछ विशेष पदार्थों की कीमत घटने-बढ़ने के कारण—सब पदार्थों की कीमत एकसाथ घटने-बढ़ने के कारण—कीमत पर विनिमय-दर का प्रभाव—एकाधिकार में कीमत—कीमत की घटबढ़ का प्रभाव—कीमत बढ़ने का प्रभाव; (क) किसानों पर -(ख) देहाती मज़दूरों पर—(ग) जमींदारों पर—(घ) कस्बों और शहरों के श्रमियों पर—(च) दस्तकारों पर—(छ) कल-कारखाने वालों पर—(ज) निर्धारित वेतन पानेवालों पर—(झ) ऋण-ग्रस्तों और साहूकारों पर—विशेष वक्तव्य—कीमतों पर युद्ध-समाचारों का प्रभाव—युद्ध और कीमत-नियन्त्रण—वर्तमान मँहगाई—मँहगाई; युद्ध-काल में—मँहगाई; युद्धोत्तर-काल में—स्वतंत्रता के समय में—विशेष वक्तव्य।

पृष्ठ २७४—६१

### (२१) व्यापार के साधन

व्यापार के मार्ग—सड़कों की आवश्यकता और उन्नति—रेल—रेलों की व्यवस्था के दोष—रेलों की वर्तमान स्थिति—सुधार की आवश्यकता—मोटर—नदियाँ और नहरें—जहाज—बन्दरगाह—हवाई जहाज—डाक, तार, टेलीफोन और रेडियो—राष्ट्रीय सरकार द्वारा इस कार्य की उन्नति—व्यापार के साधनों की उन्नति और उसका प्रभाव—युद्ध और व्यापार के साधन। पृष्ठ २९१—३११

### (२२) देशी व्यापार

देशी व्यापार के भेद—आन्तरिक व्यापार और उसके केन्द्र—

अन्तर्प्रांतीय सहयोग की आवश्यकता—तटीय व्यापार—व्यापारी और उनका संगठन—तौल, माप और सिक्कों की विभिन्नता—क्रय-विक्रय सम्बन्धी असुविधाएँ—दलालों की अधिकता—पदार्थों का भाव-ताव करने के विषय में ग्राहकों का व्यवहार—हाट-व्यवस्था—माल का विज्ञापन—व्यापारिक सफलता—युद्ध और देशी व्यापार—देशी व्यापार की वस्तुएँ और उनका परिमाण। पृष्ठ ३११—२७

## (२३) विदेशी व्यापार

प्राक्कथन—भारतवर्ष का प्राचीन व्यापार—विदेशी व्यापार का परिमाण—व्यापार का स्वरूप—आयात की वस्तुएँ—रूई और सूती माल—रेशमी और ऊनी माल—लोहे और फौलाद का सामान—चीनी—मिट्टी का तेल और पेट्रोल—कागज़—आयात की अन्य वस्तुएँ—हमारे निर्यात के पदार्थ; जूट और उसका सामान—रूई और सूती माल—खाद्य पदार्थ—तेलहन—चाय—चमड़ा और खाल—ऊन—धातुएँ—व्यापार की बाकी—सीमा की राह से व्यापार—पाकिस्तान से होनेवाला व्यापार—युद्ध और विदेशी व्यापार—युद्धोत्तर व्यापार; पौंड पावना—व्यापारियों के स्वार्थ-साधन से देश की हानि—आयात-निर्यात सम्बन्धी विशेष वक्तव्य—विदेशी बहिष्कार और विश्वबंधुत्व—विदेशों में भारतवर्ष का गौरव। पृष्ठ ३२७—४७

## (२४) विदेशी व्यापार की नीति

मुक्तद्वार-व्यापार-नीति—संरक्षण नीति—इन नीतियों का व्यवहार—भारत की व्यापार नीति—साम्राज्यान्तर्गत रियायत—साम्राज्य सम्बन्धी व्यापार का स्वरूप—साम्राज्यान्तर्गत रियायत से भारत की हानि—जापान और बर्मा से व्यापारिक समझौते—स्वतंत्र भारत और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार—भारत की आयात-नीति—केन्द्रीय निर्यात-नीति—व्यापार-नीति और अन्तर्राष्ट्रीयता—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ ३४७—५६

## छठा भाग

# वितरण

### (२५) लगान

लगान का प्रारम्भ—लगान के भेद—लगान पर दस्तूर और आबादी आदि का प्रभाव—भारतवर्ष में लगान—भारतवर्ष में माल-गुज़ारी-प्रथा—ज़मींदारी प्रथा की उत्पत्ति—बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त—स्थायी बन्दोबस्त के गुण-दोष—अस्थायी बन्दोबस्त—बन्दोबस्त का हिसाब—मालगुजारी और लगान निर्धारित करने की विधि—बन्दोबस्त की अवधि—किसानों के भेद—संयुक्तप्रान्त का नया लगान कानून—जमींदारी प्रथा के दोष—ज़मींदारी प्रथा हट रही है—संयुक्तप्रान्त की बात—मुआवज़े का सवाल—मुआवज़े का आधार—भुगतान की पद्धति—ज़मींदारी उठने के बाद कृषि-प्रणाली कैसी हो?—भावी भूमि-व्यवस्था किसानों का सीमित अधिकार—पंचायतों के विशेष अधिकार—ज़मींदारी उठा देने का प्रभाव कितने व्यक्तियों पर पड़ेगा?—रैयतवारी प्रथा का विचार—लगान की उचित व्यवस्था। पृष्ट ३५७—८१

### (२६) मजदूरी

नकद और असली मजदूरी—मजदूरी समय और कार्य के हिसाब से—मजदूरी की दर—अलग-अलग व्यवसायों के वेतन में फरक क्यों होता है?—मज़दूरी पर सामाजिक और धार्मिक स्थिति का प्रभाव—रहनसहन का दर्जा और मजदूरी—युद्ध और वेतन—कृषि-श्रमियों को मजदूरी—खानों और कारखानों के श्रमजीवियों को मजदूरी—कारीगरों या स्वतंत्र श्रमियों को मजदूरी—शिक्षितों का वेतन—स्त्री-श्रमियों का वेतन—न्यूनतम मजदूरी—ग्राम-उद्योग-संघ और चर्खा-संघ का प्रयोग—सरकार और न्यूनतम मजदूरी—प्रान्तीय सरकारों का कार्य—वेतन सम्बन्धी समस्या—वेतन का आदर्श। पृष्ठ ३८२-४०२

## (२७) सूद

पूँजी का व्यवहार—सूद के दो भेद ; कुल और वास्तविक—सूद के प्रति लोगों की भावना—विविध ऋणदाता—सूद की दर—युद्ध-काल में सूद की दर—कर्जदारी या ऋण-ग्रस्तता—किसानों का कर्ज-भार—कर्जदारी के कारण—ऋण ग्रस्त किसानों की रक्षा—किसानों की ऋण-मुक्ति—मजदूरों के ऋण की समस्या—अन्य ऋणग्रस्तों का विचार—सूद लिया जाना कहाँ तक उचित है ! पृष्ठ ४०२-१८

## (२८) मुनाफा

मुनाफे का अर्थ—कुल मुनाफा—असली मुनाफा—मुनाफे की कमी-बेशी के कारण—भारतवर्ष में साहस का क्षेत्र—कृषि में—उद्योग-धन्धों में—व्यापार में—किसानों का मुनाफा—कारीगरों का मुनाफा—साहूकार का मुनाफा—दुकानदारों का मुनाफा—आयात-निर्यात करने वालों का मुनाफा—पुस्तक प्रकाशकों का मुनाफा—कल-कारखाने वालों का मुनाफा—युद्ध और मुनाफा—मुनाफे का नियन्त्रण—मुनाफा और आदर्श। पृष्ठ ४१८—३०

## (२९) वितरण और असमानता

समानता का युग—असमानता का जन्म और वृद्धि—मज़दूरी से पूँजी और राज्य का झगड़ा—असमानता से हानि—असमानता के कारण—प्राचीन व्यवस्था—भारत का विचार—वर्णाश्रम धर्म और आर्थिक व्यवस्था—समानता के आधुनिक उद्योग—समानता और समाजवाद—धन-वितरण की पद्धति में सुधार—असमानता दूर करने के उपाय—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ ४३१—४३

# परिशिष्ट

## (१) अर्थशास्त्र का भारतीय दृष्टिकोण

भारतीय अर्थशास्त्र की प्राचीनता—भारतीय अर्थशास्त्र की विशेषता

—भारतीय दृष्टिकोण का महत्व—वास्तविक अर्थशास्त्र—सच्चे अर्थशास्त्र का पश्चिमी अर्थशास्त्र से भेद—कर्तव्यों और अधिकारों का समन्वय—भारत और संसार की वास्तविक उन्नति।

पृष्ठ ४४४—४६

(२) कांग्रेस की आर्थिक नीति

आर्थिक कार्यक्रम सम्बन्धी प्रस्ताव—छोटी मात्रा की उत्पत्ति—खाद्यान्न की प्राप्ति—सूती वस्त्र सम्बन्धी नीति—औद्योगिक झगड़े न हों—औद्योगिक नीति। पृष्ठ ४४६—५२

(३) भारत के विभाजन का आर्थिक प्रभाव

विभक्त भारत का स्वरूप; पाकिस्तान और भारतीय संघ—विस्तार और जन-संख्या—विभाजन में आर्थिक दृष्टिकोण का अभाव—भूमि जलवायु और नहरें—कृषि और खाद्य पदार्थ—वन-सम्पत्ति—खनिज सम्पत्ति—उद्योग-धन्धे—यातायात के साधन—व्यापार—पाकिस्तान की उन्नति की योजना—भारतीय संघ सम्बन्धी विचार—विशेष वक्तव्य।

पृष्ठ ४५३—६०



# पहला भाग
# विषय-प्रवेश

## पहला अध्याय
## भारतीय अर्थशास्त्र का विषय

इस पुस्तक का नाम 'भारतीय अर्थशास्त्र' है। इसे आरम्भ करने के लिए पहले हमें जान लेना चाहिए कि भारतीय अर्थशास्त्र किसे कहते हैं, इसका आशय या मतलब क्या है। इसके वास्ते हमें यह विचार करना होगा कि अर्थशास्त्र किसे कहते हैं, और अर्थ, धन या सम्पत्ति में कौन-कौनसी चीजें गिनी या समझी जाती हैं।

**अर्थशास्त्र**—अर्थशास्त्र वह विद्या है, जो समाज में रहनेवाले आदमियों के आर्थिक या धन सम्बन्धी प्रयत्नों और सिद्धान्तों का विवेचन करती है। मनुष्य अपने सुख के लिए भोजन या दूसरी चीज़ें पैदा करके उन्हें खर्च करते हैं, वे उनका उपभोग करते हैं। अकसर एक आदमी को दूसरे की बनाई वस्तु की आवश्यकता होती है और वह उसके बदले में अपनी वस्तु या उसकी क़ीमत देता है। बहुत सी चीज़ें ऐसी हैं, जिन्हें पैदा करने या बनाने में दूसरे आदमियों से, अथवा उनके साधनों से सहायता ली जाती है; उन्हें उनका प्रतिफल देना होता है। यह सब आर्थिक या धन सम्बन्धी प्रयत्न या कोशिश है। अर्थशास्त्र इन प्रयत्नों को समझाता है, इनका बयान करता है, और वह देशों की आर्थिक स्थिति या माली हालत, उन्नति और अवनति का विचार करता है।

इस शास्त्र को अर्थशास्त्र के अलावा सम्पत्ति-शास्त्र, धन-शास्त्र, अर्थ-विज्ञान, और धन-विज्ञान आदि भी कहते हैं।

**अर्थ या धन**—अर्थशास्त्र में धन या अर्थ का अभिप्राय ऐसी प्रत्येक वस्तु से होता है जिससे मनुष्य की किसी तरह की कोई आवश्यकता पूरी हो सकती हो, और जिसको देकर बदले में दूसरी उपयोगी वस्तु मिल सकती हो। इस तरह अन्न, कोयला, लोहा, लकड़ी आदि चीज़ें भी धन हैं। संक्षेप में सब उपयोगी और विनिमय-साध्य चीज़ें धन हैं। कोई वस्तु 'विनिमय-साध्य' तब कही जाती है, जब उसे देकर उसके बदले में दूसरी उपयोगी वस्तु मिल सके। संसार में बहुत सी वस्तुएँ ऐसी हैं, जो उपयोगी तो हैं, परन्तु विनिमय-साध्य नहीं, इन वस्तुओं को अर्थशास्त्र में धन नहीं कहते। मिसाल के तौर पर हवा और रोशनी का विचार कीजिए। इनके उपयोगी होने में किसी को सन्देह नहीं है, परन्तु आमतौर से ये अपरिमित मात्रा में मिलती हैं, अतः ये विनिमय-साध्य नहीं होतीं, और इसलिए अर्थशास्त्र में धन नहीं मानी जातीं। हाँ विशेष दशाओं में, खान आदि में, ये परिमित परिमाण में होती हैं, इन्हें अधिक मात्रा में प्राप्त करने के लिए श्रम अथवा धन खर्च करना होता है, तब ये विनिमय-साध्य होती हैं, और इसलिए धन मानी जाती हैं। इससे मालूम हुआ कि धन होने के लिए किसी चीज़ का, परिमाण में कम पाया जाना और साथ ही उपयोगी होना आवश्यक है।

आज-कल साधारणतया धन का अर्थ सोना, चाँदी, धातु, रुपए-पैसे नोट, आदि लिया जाता है; किन्तु विचार-पूर्वक देखा जाय तो ये चीजें धन नहीं, वरन धन का प्रतिनिधित्व करनेवाली हैं। ये सब विनिमय के माध्यम हैं, इस विषय में खुलासा आगे लिखा जायगा।

ऊपर धन के जो उदाहरण दिए गए हैं, वे भौतिक पदार्थों के हैं। इनके अतिरिक्त, अभौतिक धन भी होता है। एक आदमी दूसरे की, किसी प्रकार की सेवा करता है; यह उपयोगी है, इसके बदले में उसे द्रव्य या अन्न आदि अन्य आवश्यक वस्तु मिलती है। अतः उसकी सेवा धन है। इसी प्रकार किसी दूकान या कोठी की प्रसिद्धि

ख्याति उपयोगी भी है, और विनिमय-साध्य भी है; यानी इसका क्रय-विक्रय हो सकता है। इसलिए यह भी अर्थशास्त्र में धन मानी जाती है।

**राष्ट्रीय सम्पत्ति**—सम्पत्ति के दो भेद—निजी और राष्ट्रीय—किए जा सकते हैं। कौन-कौनसी वस्तुएँ निजी सम्पत्ति मानी जायँ, और कौनसी राष्ट्रीय संपत्ति समझी जायँ, इस विषय में अकसर लेखकों में बड़ा मत-भेद होता है। पर यह स्पष्ट है कि बहुत सी चीज़ें निजी सम्पत्ति न होने पर भी राष्ट्रीय सम्पत्ति में सम्मिलित हो जाती हैं; जैसे सड़कें, पुल, नहरें, नदी-नाले, सार्वजनिक मकान, शिक्षा-भवन, अजायबघर, डाक, तार, रेल, बंदरगाह आदि।

भारतवर्ष की राष्ट्रीय सम्पत्ति में जनता की सम्पत्ति के अलावा भारत-सरकार, प्रान्तीय सरकारों, रियासतों, म्युनिसपल और लोकल बोर्डों तथा ग्राम-पंचायतों आदि संस्थाओं की, और मंदिर, मसजिद, धर्मशाला आदि की सम्पत्ति सम्मिलित होनी चाहिए। इन सब के जोड़ में से वह रकम घटा देनी चाहिए, जो भारतवर्ष में दूसरे देशों की लगी हुई है, यानी जो दूसरों को देनी है। कुछ अर्थशास्त्रियों के मत से तो राष्ट्रीय साहित्य, वैज्ञानिक आविष्कार आदि के अलावा देश के निवासी भी राष्ट्रीय सम्पत्ति में गिने जाने चाहिएँ; क्योंकि ये भी अपने देश के धन को बढ़ाते हैं। अस्तु; देश की कुल राष्ट्रीय सम्पत्ति का ठीक-ठीक हिसाब लगाना बहुत कठिन एवं विवादग्रस्त है।

**अर्थशास्त्र एक सामाजिक विद्या है**—'सामाजिक' विद्या उस विद्या को कहते हैं, जो सामाजिक मनुष्यों के आपसी सम्बन्धों का वर्णन और विवेचन करती हो। सामाजिक मनुष्यों से मतलब ऐसे मनुष्यों से है, जो एक-दूसरे से मिलकर या पास-पास रहते हैं, और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आपस में तरह-तरह के सम्बन्ध रखते हैं। बनों में या पर्वतों पर जुदा-जुदा रहनेवाले साधु-सन्यासी, या इधर-उधर अलग-अलग घूमते रहनेवाले असभ्य मनुष्य, सामाजिक नहीं कहला

सकते। किसी देश के नगरों और ग्रामों के रहनेवाले मनुष्य ही सामाजिक मनुष्यों की गणना में आते हैं। अर्थशास्त्र ऐसे ही सामाजिक मनुष्यों के आर्थिक सम्बन्धों का वर्णन करता है, इसलिए यह एक सामाजिक विद्या है, अथवा समाजशास्त्र का एक भाग है।

**अर्थशास्त्र के नियमों का व्यवहार**—समाज में सभी मनुष्यों का स्वभाव, आचार-व्यवहार एकसा नहीं होता, इसलिए अर्थशास्त्र के सब नियम सभी आदमियों के लिए लागू नहीं हो सकते। अर्थशास्त्र उन्हीं आर्थिक नियमों का विचार करता है, जो अधिकांश जनता के लिए लागू हो सकते हैं।

इस शास्त्र के, और भौतिक विज्ञान आदि शास्त्रों के नियमों में भेद है। भौतिक विज्ञान के नियमों की परीक्षा प्रायः थोड़े समय में, सहज ही, हो सकती है। आदमी भौतिक पदार्थों के सम्बन्ध में, कोई जाँच करने के लिए अलग-अलग परिस्थितियाँ पैदा करके अपना ज्ञान बढ़ा सकता है। परन्तु अर्थशास्त्र के विद्यार्थी को ये सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं। उसके अध्ययन का विषय है, मनुष्य-समाज के आर्थिक व्यवहार; और इसके लिए हर समय यथेष्ट साधन और विविध परिस्थितियाँ नहीं मिल सकतीं। उसे समाज के आर्थिक इतिहास का विचार करके कुछ अनुमान करना होता है। धीरे-धीरे विविध घटनाओं और परिस्थितियों के गुजरने पर उस अनुमान की जाँच होती है, और कुछ नियम निश्चित किए जाते हैं।

अन्य शास्त्रों की अपेक्षा अर्थशास्त्र के विषय का वैज्ञानिक विवेचन थोड़े ही समय से होने लगा है। समाज के आर्थिक व्यवहारों के सम्बन्ध में जैसे-जैसे विद्वानों का ज्ञान और अनुभव बढ़ेगा, यह शास्त्र अधिकाधिक पूर्ण होता जायगा।

**राष्ट्रीय अर्थशास्त्र**—अर्थशास्त्र का आधार मनुष्यों के आपसी व्यवहार हैं। इन व्यवहारों में, देश के प्राकृतिक, सामाजिक या राजनीतिक परिवर्तन के कारण, अंतर पड़ता रहा है। इसलिए अर्थशास्त्र

के सिद्धान्तों के प्रयोग में भेद उपस्थित हो जाता है।

दृष्टांत के लिए इंगलैंड की ही बात लीजिए। बारहवां और तेरहवीं सदी में वह कृषि-प्रधान देश था, मुद्रा का व्यवहार कम होने से वहाँ पदार्थों का क्रय-विक्रय न होकर उनका अदल-बदल ही होता था, और थोड़ी-बहुत दासता की प्रथा से मेहनत-मज़दूरी का काम लिया जाता था। पीछे वहाँ दस्तकारी बढ़ने लगी, मुद्रा का चलन हुआ और व्यापार तथा व्यवसायों की समितियाँ बन गई। यह हालत अठारहवीं सदी के मध्य तक रही। बाद में फिर विशेष आर्थिक परिवर्तन हुए; व्यावसायिक क्रान्ति हुई, धन की उत्पत्ति का क्रम बदल चला, दस्तकारी का स्थान कारखानों ने ग्रहण किया और यन्त्रों के उपयोग और नए-नए आविष्कारों से देश की उत्पादक शक्ति कई गुना बढ़ गई। पूँजीपतियों तथा मज़दूरों के नए दल बन गए, नई समस्याएँ पैदा हो गईं। इसलिए अब वहाँ पहले के अर्थशास्त्र-सम्बन्धी व्यावहारिक नियमों का व्यवहार नहीं हो सकता।

एक ही समय में भी दो देशों का हालत बराबर नहीं होती। मिसाल के लिए हम बीसवीं सदी के इंगलैंड और भारत की तुलना करते हैं। इङ्गलैंड में विज्ञान का खूब प्रचार है, और वह कल-कारखानों का देश है। वहाँ के निवासी थोड़े से मानसिक परिश्रम और बुद्धि-बल से बहुत सी मामूली चीजों को बहुमूल्य बना सकते, और बना रहे हैं। वहाँ साधारण शिक्षा तथा उद्योग-शिक्षा के लिए काफी प्रबन्ध है; और हरेक आदमी की दैनिक आय का औसत दूसरे योरपीय महायुद्ध के पहले ढाई रुपये था, और अब तो बहुत बढ़ गया है। इसके विरुद्ध, भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है, कभी-कभी वर्षा ठीक समय तथा उचित मात्रा में न होने के कारण अथवा किसी वर्ष यहाँ से खाद्य पदार्थों की विदेशों में निकासी हो जाने से, करोड़ों मनुष्यों का निर्वाह कठिन हो जाता है। विज्ञान यहाँ शुरू ही हुआ है। औद्योगिक शिक्षा के सुप्रबन्ध का तो जिक्र ही क्या, जब केवल अक्षर-ज्ञान का प्रचार ही

मी स्त्री-पुरुषों में से केवल चौदह में हो। यहाँ के प्रत्येक मनुष्य की औसत दैनिक आय, अलग-अलग लेखकों के अनुसार, महायुद्ध से पहले छः पैसे से तेरह पैसे तक थी। ऐसी स्थिति में अर्थशास्त्र के, व्यापार और उद्योग आदि सम्बन्धी, जो व्यावहारिक नियम इङ्गलैंड के लिए हितकर होंगे, उनका भारत के लिए भी हितकर होना आवश्यक नहीं। मतलब यह कि सब देशों की स्थिति किसी एक समय में, अथवा किसी एक देश की स्थिति सब कालों में, बराबर नहीं रहती। इसलिए हरेक देश के लिए उसकी मौजूदा हालत के अनुसार अर्थशास्त्र के नियमों का व्यवहार जुदा-जुदा होना चाहिए। इस प्रकार के व्यावहारिक अर्थ-शास्त्र को किसी देश का, उस समय का राष्ट्रीय अर्थशास्त्र कहते हैं।

**भारतीय अर्थशास्त्र**—भारत-भूमि, भारतीयसमाज, और भारत-वर्ष की वर्त्तमान शासन-प्रणाली आदि को ध्यान में रखकर इस देश की आधुनिक स्थिति के अनुकूल व्यावहारिक नियमों और सिद्धान्तों के विचार से तैयार किया हुआ अर्थशास्त्र 'भारतीय अर्थशास्त्र' कहलाता है। इसमें देश के आर्थिक प्रश्नों का राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार किया जाता है। इस शास्त्र के अध्ययन से हम यहाँ की विविध आर्थिक समस्याओं पर अच्छी तरह विचार कर सकते हैं।

मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं पर उनकी रुचि, स्वभाव, शक्ति या विचार का प्रभाव तो पड़ता ही है; इसके अलावा उस के एक सामा-जिक प्राणी होने के कारण, उस पर दूसरों के विचारों, पिछली परम्प-राओं तथा वर्त्तमान अवस्थाओं का भी प्रभाव पड़ता है। जहाँ पूर्वजों की संस्कृति उस पर असर डालती है, वहाँ माता-पिता, समाज या बिरादरी आदि के संस्कार का भी उस पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। देश की धार्मिक, राजनीतिक, या आर्थिक स्थिति, तथा सामाजिक रीति-रस्म आदि भी उन संस्कारों के बनाने में बड़ा भाग लेती हैं। भारतीय अर्थशास्त्र में इस प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसका ठीक अध्ययन, भारतीय परिस्थियों के आधार पर ही किया जा सकता है।

यह ठीक है कि अर्थशास्त्र के मूल या बुनियादी सिद्धान्तों का सम्बन्ध मनुष्य मात्र से होता है, परन्तु हमें यह भी विचार करना चाहिए कि वे सिद्धान्त भारतीय समाज में किस प्रकार और कहाँ तक लागू होते हैं।

**हमारी आर्थिक समस्याएँ**—भारतीय अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों को इस देश के विविध आर्थिक समस्याओं पर विचार करना आवश्यक है। मिसाल के तौर पर यह सोचना चाहिए कि भारतवर्ष दूसरे देशों से गरीब क्यों है, यहाँ सर्वसाधारण, खासकर किसान इतने ऋण-ग्रस्त या कर्जदार क्यों हैं, उनका उद्धार किस प्रकार हो सकता है, हमारे ग्रामों की वर्त्तमान दशा कैसी शोचनीय है, उसे किस तरह सुधारा जाना चाहिए, विदेशी माल की इतनी माँग क्यों होती है, हमें अपने उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए किन-किन उपायों को काम में लाना चाहिए, साधारण भारतवासियों का रहन-सहन अपेक्षाकृत कितना नीचे दर्जे का है, उसे किस प्रकार ऊँचा किया जा सकता है, इत्यादि। आज दिन संसार के कई औद्योगिक देशों में पूँजीवाद अपनी चरम सीमा को पहुँच गया है। आधुनिक साम्राज्यवाद उसी का रूपान्तर है, और उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हो रही है, जिसे समाजवाद कहा जाता है। यह लहर बढ़ती जा रही है। और, क्योंकि इस समय संसार में वैज्ञानिक उन्नति के कारण, कोई विचार-धारा बहुत मुद्दत तक किसी खास क्षेत्र में बन्द नहीं रहती, हम चाहें या न चाहें, हमारे यहाँ भी विश्वव्यापी आर्थिक समस्याओं का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। हमें इस बात का विचार करना चाहिए कि यहाँ किस सीमा तक तथा किस रूप में समाजवाद आदि के प्रचार होने की संभावना है।

**अध्ययन की आवश्यकता**—अर्थशास्त्र मनुष्यों के रोजमर्रा के काम का विषय है। प्रत्येक देश के आदमियों की भोजन वस्त्रादि की कुछ आवश्यकताएं होती हैं, जिनको पूरा किए बिना निर्वाह ही नहीं हो सकता। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के नियम क्या हैं इनमें देश और समाज की परिस्थिति का क्या प्रभाव पड़ता है,

इत्यादि बातों का ज्ञान हमें अर्थशास्त्र से मिलता है ; इसलिए इस शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता साफ़ ज़ाहिर है। फिर, इस समय तो यह आवश्यकता और भी अधिक है; कारण, आजकल लोगों का रहन-सहन सरल नहीं है, रोजमर्रा की जरूरतें बढ़ गई हैं, उनकी पूर्ति में ही जीवन का बहुत-सा समय और शक्ति लगानी पड़ती है—मानव जीवन अधिकतर आर्थिक विषयों में लगा रहता है, यहाँ तक कि इस युग को 'अर्थ-युग' कहना बहुत-कुछ ठीक है। संसार आर्थिक चिन्ताओं और अर्थ-संकट में फँसा हुआ है। भारतवर्ष की तो आर्थिक स्थिति और भी खराब है। चिरकाल तक सोने की चिड़िया समझी जाने-वाली, दूध-दही की नदियों के वास्ते विख्यात, आज इस भूमि की यह दशा है कि यहाँ लाखों आदमियों को रूखा-सूखा भोजन भी भर-पेट नहीं मिलता। यह देश पहले अपने वस्त्र से दूसरे देशों के निवासियों की लज्जा निवारण करता था, आज अपनी सन्तान को शरीर ढकने, और सर्दी-गर्मी से बचाने के लिए काफी वस्त्र नहीं देता।

इन बातों से विशाल भवनों में रहनेवालों, सरकारी दफ्तरों में काम करनेवालों, तथा केवल सरकारी रिपोर्टों से ही ज्ञान प्राप्त करनेवालों को भले ही आश्चर्य हो ; बड़े-बड़े नगरों में जल्दी-जल्दी सैर-सपाटा करनेवाले रईसों और शाही यात्रियों को चाहे ये बातें कुछ बढ़ा कर कही जान पड़ें; जनता से हिलमिल कर रहनेवालों को इनकी सच्चाई सहज ही मालूम हो सकती है। कोई आदमी देश के बड़े-बड़े शहरों और सड़कों को छोड़कर, अन्दरूनी भागों में जाय, गांवों और कस्बों में कुछ समय साधारण लोगों के साथ रहे तो उसे हमारे कथन का प्रत्यक्ष अनुभव हुए बिना न रहेगा। आर्थिक दृष्टि से इस दीन-हीन देश के उत्थान में भाग लेने के अभिलाषी, प्रत्येक स्वदेश-प्रेमी और हितचिन्तक का यह अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य है कि वह भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन करे, और यहां की आर्थिक समस्याओं का विचार करे।

भारतवर्ष के आर्थिक प्रश्नों पर भली भाँति विचार करने के लिए, इसके भिन्न-भिन्न भागों की आर्थिक परिस्थिति तथा विविध समस्याओं सम्बन्धी सूक्ष्म जांच करने की बड़ी आवश्यकता है। भारतीय अर्थशास्त्र के जिज्ञासुओं को भारतीय जनता के सम्पर्क में आना चाहिए; और, क्योंकि यह देश अधिकांश में गावों का देश है, अधिकतर जनता गांवों में रहती है, यहाँ के ग्राम-जीवन के अध्ययन की विशेष आवश्यकता है।

**विशेष सूचना**—सन् १९४७ से भारतवर्ष दो भागों में विभक्त है—भारतीय संघ और पाकिस्तान। परन्तु इन दोनों भागों के अलग-अलग आथिक तथ्य अभी ठीक-ठीक सामने नहीं आए हैं। खासकर पाकिस्तान के सम्बन्ध में हमारी प्रामाणिक जानकारी बहुत कम है। इसलिए इस पुस्तक में भारतवर्ष के इन दोनों भागों के सम्बन्ध में मिलाजुला विचार ही किया जा सका है। 'भारतवर्ष' कहने से दोनों भागों के सम्मिलित रूप का आशय लिया गया है। हाँ, जिस भाग की जिन बातों के बारे में सम्भव हुआ, उसकी उन बातों पर अलग भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

---

## दूसरा अध्याय

# अर्थशास्त्र के भाग



अर्थशास्त्र का विवेचन करने के लिए इसे कितने भागों में बाँटा जाय, यह बात बहुत कुछ लेखक की रुचि या शैली पर निर्भर है। साधारण तौर पर इसके पांच भाग किए जाते हैं:—धन की उत्पत्ति, उपभोग, मुद्रा और बैंक, विनिमय, और वितरण। इस अध्याय में हम

यह बतलाते हैं कि इन शब्दों का अर्थशास्त्र में क्या मतलब होता है। पहले उत्पत्ति को लीजिए।

**उत्पत्ति**—किसी चीज में उपयोगिता पैदा करना या बढ़ाना अर्थशास्त्र में उत्पत्ति कहा जाता है। उदाहरण के लिए एक दर्ज़ी कोट सी रहा है। वह कपड़े को थान से काट-काट कर उसे ऐसे रूप में बदल रहा है कि पहननेवाले के लिए अधिक उपयोगी हो जाय। जुलाहे का देखो, वह सूत को ऐसे रूप में बदल रहा है कि कपड़ा बन जाय और दर्ज़ी के लिए उसकी उपयोगिता बढ़ जाय। इसी तरह कातनेवाले के काम को लो; उसने कपास को ऐसे रूप में ब ल दिया है कि सूत बन गया है, जो जुलाहे के लिए अधिक उपयोगी है। अच्छा; क्या कपास की खेती करनेवाले ने कुछ नई चीज़ पैदा नहीं की ? विचार करके देखा जाय तो उसने उसके बीज ( बिनौले ) को इस तरह खेत में रखा और उसे खाद तथा पानी आदि दिया कि वह बीज उनके तथा हवा के अंशों को लेकर ऐसे रूप में बदल गया कि उसकी पहले से अधिक उपयोगी वस्तु बन गई। इसी तरह भेड़ का ऊन भी कोई नई चीज नहीं है। यह उपयोगी ऊन उस खुराक से बना है, जो भेड़ ने खाई है, और यह खुराक उसी प्रकार मिट्टी, पानी और हवा से बनी है, जैसे कपास बनी थी। इस प्रकार असल में मनुष्य कोई नई चीज़ पैदा नहीं कर सकता, वह केवल उपयोगिता पैदा करता है। इसी को हम उत्पत्ति या उत्पादन-कार्य कहा करते हैं।

क्या व्यापारी का कार्य उत्पादक है ? इसकी भी हमें उपयोगिता के विचार से ही जांच करनी चाहिए। व्यापारी विविध वस्तुओं को ऐसे स्थान पर पहुँचाते हैं, जहाँ वे पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगी हो जाती हैं। उदाहरण के लिए कोयले की खान पर पड़े हुए कोयले को किसी कारखाने में पहुँचा देने से उसकी उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है।

एक आदमी से दूसरे आदमी के पास पहुँचने से भी, चीज़ों की

उपयोगिता बढ़ सकती है। जिस आदमी के पास एक हज़ार मन अन्न भरा हुआ है, उसके लिए वह इतना उपयोगी नहीं है, जितना वह छोटे-छोटे सौदागरों के पास जाकर हो जाता है। साधारण गृहस्थों के यहाँ उस अन्न की उपयोगिता और भी अधिक हो जाती है। इसलिए किसी चीज़ को बड़े-बड़े व्यापारियों से लेकर साधारण श्रेणी के आदमियों के पास पहुँचाने का कार्य भी उसकी उपयोगिता बढ़ाना है।

बहुत सी चीज़ें ऐसी हैं, जो एक समय बहुत उपयोगी नहीं होतीं, लेकिन दूसरे समय उनकी बहुत माँग हो जाती है। अपनी-अपनी ऋतु में बहुत सी जड़ी-बूटियाँ अपने आप ही बड़ी मात्रा में पैदा हो जाती हैं। जिस समय उनकी पैदा होने की ऋतु न हो, उस समय तक उन्हें संग्रह करके रखने से उनकी उपयोगिता बढ़ती है।

रुपया बैंक में जमा करना या ब्याज पर उधार देना भी उपयोगिता बढ़ाने का उदाहरण है; ऐसा करने में रुपया सुरक्षित रहता है, और ब्याज के रूप में उसकी जो वृद्धि होती है, वह रही अलग। विज्ञापन या इश्तहार देने से वस्तुओं की माँग दूर-दूर तक होती है, उनकी बिक्री बढ़ती है। इसलिए विज्ञापन देना भी उपयोगिता बढ़ाने का काम है।

ऊपर, पदार्थों के रूप, स्थान, समय या अधिकारी में परिवर्तन होने से उत्पत्ति की, अर्थात् उपयोगिता बढ़ाने की, बात समझाई गई है। ये परिवर्तन भौतिक है। उनके बिना भी उत्पत्ति होती है। उदाहरण के लिए मदारी, नट, नर्तक, गवैये आदि अपनी कला से दर्शकों और श्रोताओं को खुश करते हैं, उनकी आवश्यकता पूरी करते हैं, इसलिए अर्थशास्त्र की दृष्टि से ये भी उत्पादक है। इस प्रकार जज, पुलिस का सिपाही, सैनिक, डाक्टर, अध्यापक, तथा घरू नौकर आदि अपनी सेवा से लोगों की तरह-तरह की जरूरतें पूरी करते हैं, और इसलिए उत्पादक हैं। इसके अलावा दुकानदार, वकील, डाक्टर या पंडे आदि की प्रसिद्धि या ख्याति की भी उपयोगिता या आर्थिक मूल्य होने से उसे बढ़ाने की क्रिया अर्थशास्त्र में उत्पत्ति कही जाती है। ये

लोग सर्वसाधारण से जितना मेलजोल बढ़ाते हैं, उतना ही इन्हें ग्राहक मुवक्किल, मरीज़ या जजमान अधिक मिलते हैं। इस तरह कुछ दशाओं में जनता से मेलजोल करना भी धनोत्पत्ति का कार्य है।

अर्थशास्त्र में उत्पत्ति के दो भेद हैं, भौतिक और अ-भौतिक। भौतिक उत्पत्ति में किसी पदार्थ का रूप, स्थान आदि परिवर्तन करके उसकी आर्थिक उपयोगिता बढ़ाई जाती है, और अ-भौतिक उत्पत्ति में कोई ऐसा सेवा-काय करके आदमियों की ज़रूरतें पूरी की जाती है, जिसके बदले में धन मिले।

**उत्पत्ति के साधन**—प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने भूमि या प्रकृति, श्रम या मजदूरी, और पूँजी—ये तीन ही उत्पत्ति के साधन माने थे। लेकिन अब इनके अलावा प्रबन्ध और साहस को भी उत्पत्ति का साधन माना जाता है। इस तरह आधुनिक मत से उत्पत्ति के पाँच साधन हैं। इनमें से प्रबन्ध और साहस को संयुक्त रूप में व्यवस्था (या संगठन) कहा जाता है।

कल्पना कीजिए, अन्न उत्पन्न करना है। खेती के लिए भूमि की आवश्यकता होगी। किसान को हल चलाने और पानी देने आदि में मेहनत करनी होगी। साथ ही उसे बीज, बैल आदि ऐसी चीजों की भी ज़रूरत होगी, जिन्हें हम उसकी पूँजी कह सकते हैं। इस तरह अनाज आदि कच्चे पदार्थ पैदा करने के लिए भूमि, श्रम और पूँजी की आवश्यकता होती है। अब तैयार माल बनाने का उदाहरण लें; कपड़ा सीने के काम का विचार करें। दर्ज़ी को, उसके बैठने के वास्ते स्थान (दुकान आदि) चाहिए; यह भूमि हुई। उसे इस कार्य में श्रम करना होता ही है। उसे कपड़े, सुई-डोरे आदि की ज़रूरत होती है, यह उसकी पूँजी है। इस प्रकार लुहार, बढ़ई, जुलाहे आदि के कार्य का विचार किया जा सकता है। निदान, कच्चा माल हो या तैयार; भौतिक उत्पत्ति में इन तीन साधनों की ज़रूरत होती है। अच्छा, अ-भौतिक उत्पत्ति के सम्बन्ध में क्या बात है? मिसाल के तौर पर

अध्यापक के कार्य का विचार करें। उसे पढ़ाने का काम करने के लिए स्थान ( पाठशाला या मकान) चाहिए, यह भूमि हुई। उसे श्रम करना पड़ता है, यह साफ़ जाहिर है। और, वह अपना काम करने योग्य तभी हुआ है, जब उसने खुद शिक्षा पा ली है, जिसमें कुछ धन खर्च हुआ है। उस खर्च किए हुए धन के कारण उसे अब अधिक धन मिलता है, इसलिए वह धन पूँजी है। इसी तरह जज, सैनिक, या डाक्टर, आदि द्वारा होनेवाली अ-भौतिक उत्पत्ति के भी तीन साधन होते हैं। अस्तु, भौतिक एवं अ-भौतिक उत्पत्ति के तीन साधन साफ मालूम हो गए,—भूमि, श्रम, और पूँजी।

अब उत्पत्ति के दो अन्य साधनों—प्रबन्ध और साहस—के बारे में विचार करें। पहले इन्हें उत्पत्ति के साधनों में अलग नहीं गिना जाता था। लेकिन अब कल-कारखानों में इकट्ठे बहुत-से आदमियों और बड़ी-बड़ी पूँजी से उत्पत्ति का काम होता है। इससे प्रबन्ध, इन्तज़ाम या निरीक्षण की आवश्यकता बढ़ गई है। साथ ही कार्य बड़ा होने के कारण उसके संचालन की जिम्मेदारी, जोखम अथवा साहस की बहुत आवश्यकता मालूम होती है। इस प्रकार उत्पत्ति के ये साधन हुए—(१) भूमि, (२) श्रम, (३) पूंजी, (४) प्रबन्ध, और (५) साहस। यह आवश्यक नहीं है कि ये सब साधन हर प्रकार की उत्पत्ति में अलग-अलग रूप से काम करते हुए दिखाई दें। सब का महत्त्व भी हमेशा बराबर नहीं होता। सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में भूमि और श्रम की प्रधानता रहती थी; आज-कल पूंजी, प्रबन्ध और साहस का महत्व बहुत बढ़ गया है।

उत्पत्ति के साधनों में भूमि तो प्रकृति या कुदरत की देन है, दूसरे साधन मनुष्य ( पुरुष ) सम्बन्धी हैं। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति प्रकृति और पुरुष से हुई। अर्थशास्त्र भी सृष्टि की धनोत्पत्ति सम्बन्धी विविध क्रियाओं का मूल कारण इन्हें ही

बताता है।

अब उत्पत्ति के एक-एक साधन की बात लें। भूमि में यह विचार किया जाता है कि देश की प्राकृतिक या कुदरती ताकत कितनी है, जल-वायु, वर्षा, नदी, पहाड़, जंगल, खान आदि कहाँ तक उत्पादन-कार्य में सहायक हैं, और उन्हें कहाँ तक उपयोग में लाया जा रहा है। श्रम, या मेहनत में जनता के सम्बन्ध में विचार होता है—जनसंख्या कितनी है, वह देश की उत्पादन शक्ति की तुलना में अधिक तो नहीं है, वह कहाँ तक बढ़ रही है, उसका स्वास्थ्य, शिक्षा, कुशलता आदि कैसी है, और देश की धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक स्थिति का उस पर क्या प्रभाव पड़ता है; श्रम करने की विधि कैसी है, और मजदूर कहाँ तक अपनी योग्यता का उपयोग कर सकते हैं। पूँजी के सम्बन्ध में यह सोचा जाता है कि देश के भिन्न-भिन्न वर्गों के पास कितनी पूँजी है, उससे कहाँ तक धन पैदा किया जाता है, वह किस तरह बढ़ाई जानी चाहिए, क्या विदेशी पूँजी का उपयोग लाभकारी है। प्रबन्ध के बारे में विचार करने की बातें ये होती हैं कि आधुनिक उत्पादन में इसकी विशेष आवश्यकता क्यों होती है। भूमि, श्रम और पूँजी को किस परिमाण में जुटाकर उपयोग किया जाय कि उत्पत्ति अधिक हो। कब किसी रीति या साधन को बदल कर दूसरे से काम लेना लाभदायक होगा। जो माल तैयार हो उसे कैसे अच्छे भाव से बेचा जाय जिससे उत्पत्ति का क्रम बनाए रखने में प्रोत्साहन मिलता रहे। साहस के प्रसंग में उत्पत्ति की जोखम, अर्थात् हानि-लाभ या घाटा-नफा सहकर भी उत्पादन-कार्य करने के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

इन बातों के अलावा उत्पत्ति में खेती और उद्योग-धन्धों की स्थिति तथा उन्नति पर भी प्रकाश डाला जाता है। भारतीय अर्थशास्त्र में इस प्रसंग में इस विषय का भी विचार करना जरूरी है कि देश में जो उत्पादन-कार्य हो उसमें धार्मिक अर्थात् नैतिक

नियमों की अवहेलना न की जाय। असल में धन तो सिर्फ एक साधन है, वह समाज के हित के लिए है। मानव समाज का अहित करके धन पैदा करना भारतीयों को, और हम कह सकते हैं, किसी भी ज्ञानवान आदमी को अच्छा नहीं लगना चाहिए।

**उपभोग**—अब हम अर्थशास्त्र के दूसरे भाग—'उपभोग'—के विषय को स्पष्ट करते हैं। अर्थशास्त्र में वस्तुओं के सभी प्रकार के ख़र्च को उपभोग नहीं कहा जाता। यह विचार करना होता है कि उस वस्तु के ख़र्च होने से किसी आदमी को तृप्ति या संतुष्टि मिली या नहीं। उदाहरण के लिए एक आदमी तो रोटी खाता है, और दूसरा उसे आग में फेंक कर जला डालता है। दोनों दशाओं में रोटी खर्च हो गई, उसकी उपयोगिता नष्ट हो गई। परन्तु पहली दशा में रोटी से, खानेवाले की संतुष्टि हुई; इस दशा में रोटी का उपभोग हुआ, यह कहा जायगा। इसके विपरीत, दूसरी दशा में रोटी के जलने से किसी आदमी की संतुष्टि नहीं हुई, इस दशा में, अर्थशास्त्र की दृष्टि से उसका उपभोग होना नहीं माना जायगा।

अच्छा, एक कारखाने में कोयला ख़र्च होता है, उसके जलने से उसकी उपयोगिता नष्ट होती है। इसी प्रकार वहाँ मशीन धीरे-धीरे घिसती है, क्रमशः उसकी उपयोगिता घटती जाती है। क्या इसे उपभोग कहा जायगा? यहाँ विचारने की बात यह है कि यद्यपि कोयले और मशीन के उपयोग से जो वस्तुएँ बनेंगी, उनसे मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति होगी, कोयले और मशीन के उपयोग का जो उद्देश्य उस समय सामने है, वह किसी आदमी की तृप्ति या संतुष्टि नहीं है, बल्कि और अधिक धन की उत्पत्ति है, इसलिए इस क्रिया को, अर्थशास्त्र में उपभोग न कह कर उत्पत्ति कहा जायगा।

अस्तु, अर्थशास्त्र में उपभोग का आशय किसी वस्तु (या सेवा) के ऐसे उपयोग से होता है, जिससे किसी आदमी की तृप्ति या संतुष्टि हो। अर्थशास्त्र के इस भाग में यह विचार किया जाता है कि मनुष्य

जो तरह-तरह के पदार्थों का उपभोग करते हैं, वह कहाँ तक उनके देश के लिए हितकर है, और किन दशाओं में वह हानिकर है। इसी में परिवार या कुटुम्बों की आय-व्यय का भी विचार होता है, और यह भी सोचा जाता है कि रहन-सहन का दर्जा कहाँ तक बढ़ाना उपयोगी है, एवं वस्तुओं के उपभोग से अधिक-से-अधिक संतुष्टि किस प्रकार मिल सकती है।

**मुद्रा और बैंकिंग**—कोई मनुष्य अपनी आवश्यकता की सभी चीज़ें खुद ही पैदा नहीं कर सकता। हमें अकसर अपने गुजारे के लिए भी दूसरों की पैदा की हुई या बनाई हुई चीज़ों की ज़रूरत होती है। ये चीज़ें तभी मिल सकती है, जब हम उनके मालिक को बदले में कुछ अपने परिश्रम या मेहनत का फल दें। निदान, अदल-बदल समाज में रहनेवाले आदमी के लिए बहुत ही ज़रूरी है. इसके बिना उसका काम नहीं चलता। परन्तु हर समय हर एक चीज़ के अदल-बदल का सुभीता नहीं होता, इसलिए समाज ने बड़े अनुभव से इस कार्य के लिए एक माध्यम या मुद्रा का निश्चय किया। मुद्रा या सिक्कों से विशेष सम्बन्ध रखनेवाली संस्थाएँ बैंक कहलाती हैं।

अर्थशास्त्र में मुद्रा और बैंक के बारे में यह विचार किया जाता है कि देश में मुद्रा किस धातु की और कितनी होनी चाहिए, तथा उसका विदेशी मुद्राओं से विनिमय किस दर से होना चाहिए, काग़ज़ी मुद्रा का चलन किस हद तक होना उचित्त है, उसके सम्बन्ध में किन नियमों का पालन होना ज़रूरी है, बैंक किस-किस उद्देश्य से खोले जाते है, उनका संचालन किस प्रकार किया जाय कि उनका दिवाला न निकले और उनसे जनता को यथेष्ट लाभ होता रहे।

**विनिमय**—पदार्थों का अदल-बदल इसलिए होता है कि दोनों पक्षवालों को सुभीता हो; और, तभी तक होता है, जब तक कि दोनों को लाभ होता रहे। किसी भी पक्ष का लाभ घटते ही यह कार्य बन्द हो जायगा। जब दो चीजों का अदल-बदल होता है, तो उनके

परिमाण, राशि या मात्रा में कुछ अनुपात-सम्बन्ध रहता है, अर्थात् एक वस्तु के कुछ परिमाण के बदले कुछ परिमाण में दूसरी वस्तु दी जाती है। इसे हम उसका मूल्य कहते हैं। उदाहरण के लिए यदि दस सेर चावल के बदले बीस सेर गेहूँ मिलें, तो दस सेर चावल का मूल्य बीस सेर गेहूँ, यानी एक सेर चावल का मूल्य दो सेर गेहूँ हुआ। जब किसी वस्तु की एक इकाई का मूल्य मुद्रा में बताया जाता है, तो हम उसे उस चीज़ की क़ीमत कहते हैं। ऊपर के उदाहरण में यदि एक सेर गेहूँ का मूल्य दो आने हो, तो गेहूँ की कीमत दो आने फी सेर हुई। पदार्थों को ऐसे हिसाब से लेना-देना आधुनिक समय का विनिमय है। पुनाने समय में, जब मुद्रा का प्रचार नहीं था, पदार्थों का अदल-बदल ही विनिमय था।

अर्थशास्त्र में विनिमय के बारे में यह विचार किया जाता है कि देश के जुदा-जुदा स्थानों में तथा विदेशों में, कहाँ तक कैसी-कैसी वस्तुओं का व्यापार होता है, उसमें क्या बाधाएँ हैं, और उन बाधाओं को किस प्रकार हटाया जा सकता है; विदेशी व्यापार से देश को कोई हानि तो नहीं हो रही है, सरकार की व्यापार-नीति क्या होनी चाहिए, वह विदेशों को भेजे जानेवाले या वहाँ से आनेवाले माल पर, यानी आयात निर्यात के पदार्थों पर, कर लगाने में किन-किन बातों का ध्यान रखे।

वितरण—धनोत्पत्ति के विविध साधनों के मालिकों को उनका प्रतिफल मिलने का नाम अर्थशास्त्र में वितरण है। भूमिवाले को लगान, श्रम करनेवाले को वेतन, पूँजीवाले को सूद, प्रबन्ध करनेवाले को प्रबन्धक-आय, और साहस करनेवाले को मुनाफ़ा मिलता है। संभव है, किसी-किसी उत्पादन-कार्य में दो या अधिक उत्पादक साधनों का प्रतिफल पाने का अधिकारी एक ही आदमी हो, या कुछ आदमियों का एक समूह हो, तथापि हरेक के प्रतिफल का अलग-अलग मोटा हिसाब लगाया जा सकता है।

आजकल प्रायः उत्पादकों को उत्पन्न वस्तु का हिस्सा न देकर ऐसी रक़म दी जाती है, जो उनके हिस्से की वस्तु के मूल्य के बराबर हो। किसी उत्पन्न वस्तु से प्राप्त होनेवाले कुल मूल्य को कुल उपज रक़म कहते हैं। उसमें से उस वस्तु में लगी हुई कच्ची सामग्री और कारख़ाने की टूट-फूट की सँभाल तथा बीमे आदि की रक़म निकाल देने पर जो रक़म शेष बचती है, उसे वास्तविक या असली उपज रक़म कहते हैं। उत्पादक साधनों के मालिकों में असली उपज रक़म का ही वितरण होता है।

अर्थशास्त्र के इस भाग में यह विचार किया जाता है कि इन मालिकों को लगान, वेतन, सूद आदि किस हिसाब से मिलना चाहिए; ऐसा न हो कि भूमि वाला या पूँजी वाला अथवा प्रबन्धक या साहसी असली उपज रकम में से इतना अधिक भाग लेले कि श्रमियों के लिए बहुत कम रह जाय, और सर्वसाधारण जनता की माली हालत खराब हो; देश में धन-वितरण यथा-सम्भव समान हो; ऐसा असमान न हो कि उससे असन्तोष जाहिर करनेवाले विविध आन्दोलनों की नौबत आए।

अर्थशास्त्र के विविध भागों—उत्पत्ति, उपभोग, मुद्रा और बैंकिंग, विनिमय, और वितरण—का आगे अलग-अलग वर्णन करेंगे।



## दूसरा भाग
# उत्पत्ति

---

## तीसरा अध्याय
# भारत-भूमि

---

प्राक्कथन — जैसा कि पहले कह आए हैं, धनोत्पत्ति में भूमि का एक खास और महत्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य के काम में आनेवाले सब पदार्थ, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से, भूमि से ही पैदा हुए हैं। भूमि प्रकृति की देन है। इसे मनुष्य ने नहीं बनाया, यह उसे बिना श्रम तथा बिना मूल्य मिली हुई है। प्रकृति से मिले हुए दूसरे पदार्थों में और भूमि में एक अन्तर है। दूसरे पदार्थ हवा, पानी आदि अपरिमित हैं, परन्तु भूमि की मात्रा (क्षेत्रफल) परिमित है। कोशिश करने पर दलदलवाली, समुद्र के किनारे की, रेगिस्तान या पर्वत आदि की कुछ भूमि अधिक उपयोगी बनाई जा सकती है, लेकिन उसमें बहुत समय लगता है, साथ ही उसे हम जितना चाहें उतना नहीं बढ़ा सकते; जितनी भूमि है, मनुष्य की आवश्यकता उससे अधिक की ही होती जाती है। प्रायः हवा आदि में यह बात नहीं, कुछ अपवादों को छोड़-कर, साधारण तौर पर वह जितनी चाहे उतनी खर्च कर ली जाय, उसके बारे में किसी का यह विचार नहीं होता कि यह मुझे कम मिलती है, दूसरे को ज्यादह।

धन की उत्पत्ति में पृथ्वी के ऊपर के तल के अलावा उसके भीतरी भाग (भू-गर्भ), जल-वायु, वर्षा आदि का भी प्रभाव पड़ता है। इन

सब को भूमि के ही अंतर्गत समझा जाता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र के अनुसार भूमि में वे सब उपयोगी वस्तुएँ आ जाती हैं, जो मनुष्य ने न बनाई हों; मिसाल के तौर पर जंगल, पहाड़, खान, नदी, झील, तालाब, और समुद्र आदि, और इनसे अपने आप बिना मेहनत मिलने-वाले विविध पदार्थ—लकड़ी, पशु-पक्षी, ओषधियाँ, धातुएँ, शंख, मोती, मछलियाँ आदि। इसी तरह कुदरती तौर पर मिलनेवाली जल-शक्ति, वायु-शक्ति, सूर्य का प्रकाश आदि भी भूमि के ही अंतर्गत हैं। इस अध्याय में भारतवर्ष सम्बन्धी इन बातों का विचार किया जायगा।

**भारतवर्ष की प्राकृतिक स्थिति**—भारतवर्ष एक विशाल भूखंड है। इसके उत्तर में हिमालय की ऊँची, बर्फ़ से ढकी दीवार है; बाकी तीन तरफ़ यह समुद्र से घिरा हुआ है। जुदा-जुदा जल-वायु, तरह-तरह की भूमि, विचित्र-विचित्र दृश्य और भाँति भाँति की पैदावार देकर मानो प्रकृति ने इसे जगत की प्रदर्शिनी या नुमायश बना दिया है। ऐसी कोई मुख्य चीज़ नहीं, जो यहाँ पैदा न हो सकती हो। कच्चे पदार्थों का भंडार होने के कारण इसे औद्योगिक पदार्थों की आवश्यकता पूरी करने के लिए खास प्राकृतिक सुविधा प्राप्त है। पूर्वी गोलार्द्ध का केंद्र होने से इसकी स्थिति एशिया, योरप और अफ्रीका से व्यापार करने के लिए बहुत अनुकूल है। हाँ, इसे एक बड़ी बाधा का सामना करना पड़ता है, यहाँ अच्छे बन्दरगाहो की कमी है। करीब तीन हज़ार मील लम्बा समुद्र-तट होते हुए भी, यहाँ व्यापार के लिए अच्छे उपयोगी बन्दरगाह इने-गिने हैं। इस विषय का विशेष विचार व्यापार के सिलसिले में किया जायगा। भीतरी आमदरफ़्त के विचार से दक्षिण भारत की तुलना में उत्तर भारत की स्थिति अच्छी है; कारण कि वहाँ पर एक तो ऐसी नदियाँ हैं, जिनमें नाव अच्छी तरह जा-आ सकतीं हैं, दूसरे, वहाँ सड़कें और रेलें बनाने में बहुत सुविधा रहती है, जब-कि दक्षिण में पहाड़ या पथरीली भूमि होने से इसमें बड़ी कठिनाई होती है।

विस्तार—विभाजन (सन् १९४७) से पूर्व भारतवर्ष का क्षेत्रफल १५,८१,४१० वर्गमील था। पीछे सिन्ध, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, पश्चिमी पंजाब, बिलोचिस्तान, पूर्वी बंगाल, और सिलहट तथा इन प्रदेशों से मिली हुई रियासतों का पाकिस्तान राज्य बन गया; और बम्बई, संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त बरार, बिहार, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, पूर्वी पंजाब, दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा, कुर्ग और इन प्रदेशों से मिली हुई रियासतें भारतीय संघ में रह गईं। इस प्रकार भारतीय संघ का क्षेत्रफल १२,२०,०९९ वर्गमील रह गया, इसमें से ५,८७,८८८ वर्गमील रियासतों का था। सन् १९४८ में छोटी-बड़ी २१९ रियासतें अपने पास के प्रान्तों में मिल गईं, इनका कुल क्षेत्रफल ८४,७७४ वर्ग मील था। इस प्रकार अब भारतीय संघ के सवा बारह लाख वर्गमील से अधिक क्षेत्रफल में से पांच लाख वर्गमील क्षेत्रफल देशी रियासतों में है। पाकिस्तान और उसकी रियासतों का क्षेत्रफल ३,६१,३११ वर्गमील है।

प्राकृतिक भाग—भारतवर्ष प्राकृतिक रूप से चार भागों में बटा हुआ है :—(१) उत्तरी पहाड़ी भाग, (२) सिन्ध गंगा का मैदान (३) दक्षिण भारत, और (४) समुद्र-तट।

उत्तरी पहाड़ी भाग में हिमालय १५०० मील तक बल खाता हुआ चला गया है। इस भाग की अधिक-से-अधिक चौड़ाई २०० मील है। हिमालय बड़ी-बड़ी नदियों द्वारा उत्तरी भारत को हरा-भरा रखता है। इसके पश्चिमी भाग का जल विविध नदियों में बहकर सिन्ध में, तथा पूर्वीय भाग का गंगा में जा मिलता है। इस भाग में बड़े मैदान नहीं हैं। यहाँ तरह-तरह की लकड़ियाँ वनौषधियाँ (जगली दवाइयाँ) पैदा होती हैं। पहाड़ी नालों के जल में बिजली का बड़ा भंडार जमा है, परन्तु देश में विज्ञान का प्रचार कम होने से इसका अभी काफी उपयोग नहीं किया जाता।

सिन्ध-गंगा का मैदान हिमालय से निकली हुई नदियों की घाटियों

से बना हुआ है, और हिमालय की पश्चिमी शाखाओं से पूर्वी शाखाओं तक फैला हुआ है। इसका क्षेत्रफल तीन लाख वर्ग मील से अधिक है; सारा उत्तरी भारत इसमें सम्मिलित है। पश्चिमी रेतीले भाग को छोड़कर, यह बहुत उपजाऊ, व्यापार के अनुकूल और घनी आबादी-वाला है। सिन्ध और गङ्गा आदि से इसकी सिंचाई अच्छी तरह हो जाती है।

दक्षिणी भारत, सिन्ध और गङ्गा के मैदान के दक्षिण में, पहाड़ों से घिरा हुआ तिकोना पठार (ऊँचा मैदान) है। इसमें छोटे-छोटे पेड़ और झाड़ियाँ अधिक हैं। जहाँ पानी बहुत है या सतह के निकट है, वहाँ बड़े-बड़े वृक्षों के जङ्गल भी हैं। पत्थरों से बनी हुई मिट्टी काले रङ्ग की है। इसमें आना-जाना मुश्किल है, सड़कें और रेलें कठिनाई से बनती हैं। इस पठार की ऊँचाई १२०० से लेकर ३००० फुट तक है। यह भारतवर्ष के ऊपर बताए हुए दोनों भागों से ऊँचा तथा पुराना है।

दक्षिण के पठार के पूर्व और पश्चिम में समुद्र-तट का मैदान है। इसका बहुत सा भाग समुद्र-जल से ढका हुआ है, जो अधिक-से-अधिक दो सौ गज़ गहरा है। पश्चिमी समुद्र-तट की चौड़ाई २० मील से ६० मील तक है। पूर्वी समुद्र-तट की चौड़ाई ५० मील से १०० मील तक है। इन समुद्र-तटों में नारियल के पेड़ बहुत होते हैं, और इनमें पैदावार अच्छी होती है।

**जल-वायु और उसका आर्थिक प्रभाव**—भारतवर्ष भूमध्यरेखा के पास (उत्तर में) है, परन्तु तीन तरफ समुद्र से घिरा होने के कारण यहाँ गर्मी का प्रभाव बहुत अधिक नहीं होने पाता। जमीन की सतह या धरातल समुद्र से कहीं तो अधिक ऊँचा है और कहीं कम। इससे सारे देश में एक ही तरह का जल-वायु नहीं रहता। अकसर दक्षिण में गर्मी और उत्तरी पहाड़ी प्रदेश में सर्दी रहती है; बीच में तरह-तरह की जल-वायु मिलती है। मध्यभारत और राजपूताना समुद्र से दूर हैं और सूखे हैं। अतएव ये प्रायः जाड़े में शीतल और गरमियों में बहुत

गर्म रहते हैं।

भारतवर्ष जैसे प्राकृतिक शक्ति वाले देशों में थोड़ा-सा ही परिश्रम करने से शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है। गरम भागों में कपड़े की खास ज़रूरत नहीं होती। मामूली आदमी वर्ष का अधिक समय केवल लँगोट या अंगोछा पहने बिता देता है। भोजन भी कम ही चाहिए। मकान की भी बहुत ज़रूरत नहीं होती। गरम देश में मनुष्य जल्दी थक जाते हैं, और बहुधा आरामतलब, रोगी, व्यसनी, दुर्बल, और अल्पायु अर्थात् कम उम्र वाले होते है।

विज्ञान की सहायता से मनुष्य जल-वायु को कुछ हद तक बदल कर अपने अनुकूल बना सकता है। मिसाल के तौर पर रेगिस्तान में बड़ी-बड़ी नहरें निकालकर तथा बड़े पैमाने पर पेड़ लगाकर जल-वायु में परिवर्तन किया जा सकता है। भारतवर्ष में अभी विज्ञान का इस दिशा में विशेष प्रयोग नहीं हुआ है।

**वर्षा और उसका आर्थिक प्रभाव**—कृषि-प्रधान-देश होने के कारण, यहां पैदावार को वर्षा का बहुत आसरा रहता है। ज़रूरत से अधिक या कम बारिश होने से फ़सलें मारी जाती हैं, और बहुत से आदमियों की जीवन-संग्राम की कठिनाई बढ़ जाती है। वर्षा की मात्रा अलग-अलग होने से भारतवर्ष के किसी हिस्से में कुछ चीज़ों की फसल होती है, और किसी में दूसरी चीज़ों की। और, देश में लगभग सभी चीज़ें पैदा होती हैं। जनसंख्या का आधार भी कुछ अंश में वर्षा की मात्रा ही है; जहाँ वर्षा अच्छी होती है, और लोगों को खाने को आसानी से मिलता है, वहाँ आबादी प्रायः घनी होती है।

वर्षा के सम्बन्ध में, अन्य देशों से यहां यह विशेषता है कि साल में दो मौसमी हवाएँ निश्चित हैं। यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रान्तों में पहाड़ आदि के कारण उनकी दिशा बदल जाती है, अप्रेल से सितम्बर तक दक्षिण-पश्चिम या समुद्र की तरफ से, और अक्तूबर से मार्च तक उत्तर-पूर्व अर्थात् स्थल की ओर से, हवा चलती है। इनमें से पहली हवा से

ही वर्षा विशेष होती है।

मोटे हिसाब से, वर्षा की दृष्टि से, भारतवर्ष के चार हिस्से किए जा सकते हैं :—

(१) अधिक वर्षा वाला। सौ इंच से ऊपर वर्षा पश्चिमी तट, गंगा के डेल्टा, आसाम और सुरमाघाटी में होती है।

(२) अच्छी वर्षा वाला। चालीस से अस्सी इंच तक वर्षा गंगा की घाटी में इलाहाबाद तक, और पूर्वी तट पर होती है।

(३) खुश्क या सूखा। बीस से चालीस इँच तक वर्षा दक्षिण में और मध्य भारत के पठार में होती है।

(४) बहुत खुश्क। एक से दस इंच तक वर्षा अरावली पर्वत के पश्चिम में, सिन्ध और बिलोचिस्तान में होती है।

अकसर यह ख्याल किया जाता है कि भारतवर्ष में जिस साल कम वर्षा होती है, उसी साल अकाल अधिक पड़ते हैं; पर यह बात पूरे तौर पर सत्य नहीं है। अकालों का मुख्य कारण जनता की गरीबी भी है। वर्षा की बहुधा यहाँ कमी नहीं रहती; परन्तु इस देश में उसका पानी संचित करके नहीं रखा जाता; वह भूमि में अज्ब हो जाता है, अथवा नदियों द्वारा समुद्र में बह जाता है। उसे बड़ी-बड़ी झीलों में इकट्ठा करके उसका वैज्ञानिक रीति से बँटवारा करने की जरूरत है। फिर, यहाँ बहुत ज्यादह वर्षा से, या फसल पक जाने के समय की वर्षा से, कई स्थानों में बड़ी हानि होती है। डा० बालकृष्ण जी ने लिखा है कि पश्चिमी देशों में ऐसे अवसर पर बादलों को तोपों से उड़ा देते हैं। कुछ वैज्ञानिक इस बात का भी प्रयत्न कर रहे हैंकि आवश्यकता प्रतीत होने पर पर, बिजली द्वारा वर्षा कराई जा सके।

हिन्दुओं के प्राचीन शास्त्रों में ऐसे यज्ञों के होने का उल्लेख पाया जाता है, जिनका उद्देश्य वर्षा कराना था। आज-कल एक तो लोगों का हवन-यज्ञ आदि में विश्वास नहीं रहा; दूसरे, इन कामों में इतना अधिक खर्च होता है कि मामूली हैसियत के आदमी इन्हें नहीं

कर सकते। अस्तु, भारतवर्ष में खेती वर्षा के भरोसे, या आबपाशी के सहारे ही की जाती है।

**नदियों का आर्थिक प्रभाव**—नदियों से व्यापार और कृषि में बड़ी सहायता मिलती है। उनसे बने हुए डेल्टों और टापुओं की भूमि बहुत उपजाऊ होती है। नदियों की बाढ़ से बहुधा गाँव नष्ट हो जाते हैं; खेती की उपज, पशु और अन्य माल असबाब बह जाता है। लेकिन साथ ही उससे यह लाभ भी होता है कि कहीं कहीं भूमि पर उपजाऊ मिट्टी के परत जम जाते हैं, सूखे और बंजर स्थानों में तरावट पहुँच जाती है, एवं ऊसर और रेहवाली मिट्टी बह जाती है। नदियों द्वारा, पहाड़ों से लकड़ियाँ और लट्ठे बहाकर मैदान में लाए जाते हैं। नदियों में से नहरें काटकर, वर्षा न होने के समय में भी खेती की जा सकती है।

भारतवर्ष में पंजाब की पाँचों नदी उसके अधिकाँश भाग को हरा-भरा रखती हैं। उनके द्वारा इस प्रांत का माल सिन्ध तक जा सकता है। गंगा, जमुना ब्रह्मपुत्र और गोदावरी तथा उनकी शाखाओ से पूर्वी भारत सींचा जाती है, और उनसे देश के कई हिस्से ऐसे मिले हैं कि खूब व्यापार हो सकता है। गंगा में एक हजार मील तक, तथा ब्रह्मपुत्र और सिन्ध में ८०० मील तक बड़ी नाव या छोटे जहाज आ-जा सकते हैं। गंगा १५०० मील, और सिंध १८०० मील लम्बी है। दक्षिण भारत में नदियाँ छोटी हैं, और माल ढोने या सिंचाई करने के लिए बहुत उपयोगी नहीं हैं।

नदियों को अधिक उपयोगी बनाने के लिए ऐसी व्यवस्था करनी आवश्यक है कि इनकी बाढ़ से यथा-सम्भव हानि न हो, इनके बांध बना कर, तथा इनमें से नहरें निकाल कर अधिकाधिक क्षेत्र में सिंचाई की जाय, इनसे बड़े परिमाण में बिजली पैदा की जाय, जिससे कल-कारखाने आदि चलाने में सहायता मिले। यातायात की सुविधा के लिए नदियों पर आवश्यकतानुसार पुल भी बनाने होते हैं। इन बातों

की ओर अभी तक बहुत कम ध्यान दिया गया। अब भारतवर्ष स्वतंत्र हो गया है, और सरकार नदियों की उन्नति की विविध योजनाएँ हाथ में ले रही है। इसके विषय में खुलासा छठे अध्याय में लिखा जायगा।

**भूमि के भेद**—रियासतों के क्षेत्र को छोड़ कर, भारत की कुल भूमि लगभग ५१ करोड़ एकड़ है। उपज के विचार से इसके भेद इस प्रकार है :—

| | |
|---|---|
| १—जिसमें फसल बोई जाती है | २१ करोड़ एकड़ |
| २—जिसमें फसल नहीं बोई जाती— | |
| (क) जंगल | ७ ” ” |
| (ख) परती भूमि | ५ ” ” |
| (ग) जिसमें खेती सम्भव है | ६ ” ” |
| (घ) खेती के अयोग्य | ६ ” ” |
| योग | ५१ करोड़ एकड़ |

बोई जाने वाली भूमि के बारे में पीछे, खेती के अध्याय में लिखा जायगा, यहाँ दूसरी ज़मीन का विचार करते हैं।

**जङ्गल**—इनका आर्थिक प्रभाव बहुत है—(क) ये बारिश के पानी को जल्द बहकर चले जाने से रोकते हैं, और उसे ज़मीन में इकट्ठा करके उसे पीछे धीरे-धीरे देते रहते हैं। (ख) पेड़ों के पत्ते हवा को तरी देकर उसकी गरमी कम करते हैं। (ग) इनसे पशुओं के चरने के लिए अच्छी चरागाहें होती हैं, तथा इमारतों और ईंधन आदि के लिए लकड़ी मिलती है। (घ) इनसे कई व्यवसाय-सम्बन्धी पदार्थ मिलते हैं, जैसे गोंद, रबड़, लाख, चमड़ा, रँगने के लिए पेड़ों की छाल, तारपीन, मसाले तथा कागज बनाने की घास आदि। (च) जंगलों से भूमि पर वर्षा भी अधिक होती है।

भारतवर्ष में पश्चिमी घाट, आसाम और हिमालय प्रदेश में घने-घने जंगल अधिक हैं, जिनकी लकड़ियाँ मकान बनाने के काम में आती हैं। पश्चिमी घाट के जंगल में, मध्यप्रान्त की बड़ी-बड़ी नदियों

के किनारे, और हिमालय की तलहटी में साल के पेड़ होते हैं। सागौन के वृक्ष मालाबार में अधिक होते हैं; इसकी लकड़ी कड़ी और ठोस होती है, तथा दीमक न लगने के कारण बड़ी टिकाऊ रहती है। देवदार और चीड़ के पेड़ हिमालय में होते हैं। आबनूस के पेड़ मैसूर और मालाबार के जंगलों में, तथा चन्दन के पेड़ मैसूर के जंगलों में, होते हैं। नारियल के पेड़ समुद्र के किनारे ही अधिक होते हैं। अनन्नास और केला गर्म और तर जलवायु में पाए जाते हैं। हिमालय के मुख्य फल सेब, नास्पाती और अखरोट हैं। सिन्ध और गंगा के मैदान का, तथा दक्षिण का मुख्य फल आम है।

जंगल को आग से बचाने और छोटे-छोटे पेड़ों को काटने से रोकने के लिए सरकारी जंगल-विभाग सन् १८६१ ई० में स्थापित हुआ था। इस विभाग ने उपयोगी पेड़ों के लगाने का भी प्रबन्ध किया है। मदरास में कपूर के पेड़ लगाने में सफलता हुई है। कई प्रान्तों में महागनी और युकलिप्टस के पेड़ लगाने का प्रयत्न किया गया। लाख उपजाने की ओर भी अधिक ध्यान दिया गया। सरकार को इस विभाग से होनेवाला लाभ बढ़ रहा है; लकड़ी तथा जंगल की दूसरी पैदावार की बिक्री से उसे आमदनी होती है। हाँ, इसके स्थापित होने से बहुत-से स्थानों में लोगों को पशु चराने के लिए काफी भूमि नहीं मिलती; और लकड़ी के अभाव में गोबर के उपले अधिक जलाए जाने के कारण खेतों में खाद की कमी हो जाती है।

**उन्नति की आवश्यकता**—भारतवर्ष के पराधीनता-काल में सरकार ने बनों के विकास में काफी दिलचस्पी नहीं दिखाई। इसलिए उनकी विशेष उन्नति नहीं हुई। भूमि में जब कोई वृक्ष लगाया जाता है तो बहुत वर्ष बाद उसकी, काम में आने योग्य पकी हुई लकड़ी मिल पाती है। इस ओर यथेष्ट ध्यान न दिए जाने से अब बन-सम्पत्ति जितनी होनी चाहिए थी, नहीं है। बनों की उन्नति के लिए इसका ध्यान रहना चाहिए। इसके अलावा बेकार वृक्षों की

जगह उपयोगी वृक्ष लगाए जाने की, और दूर-दूर के तथा सघन जंगलों में जाने के लिए रास्ते बनाने की, भी आवश्यकता है। अभी तक वृक्ष ऐसे ही अधिक लगाए गए हैं, जिनकी लकड़ी इमारत के काम में आती है। हां, खेल-कूद के सामान की लकड़ी प्राप्त करने का प्रयत्न हुआ है। ऐसे पेड़ों के लगाए जाने की बहुत जरूरत है, जिनसे बढ़िया, मजबूत, टिकाऊ लकड़ी मिले, जो इस समय हमें विदेशों से मंगानी होती है। ईंधन और चारे के लिए बन-क्षेत्र निर्धारित किया जाना चाहिए। अब भारतवर्ष स्वतन्त्र हो गया है, आशा है, सरकार जनता की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर नवीन बन-नीति निर्धारित करेगी।

**अन्य भूमि**—परती भूमि के, तथा जिस भूमि में खेती होना सम्भव है पर की नहीं जाती, उसके उपयोग का विचार आगे, खेती के सम्बन्ध में लिखते हुए, किया जायगा। कृषि के अयोग्य भूमि वह होती है, जिसमें कोई चीज़ पैदा नहीं हो सकती। इस भूमि पर या तो मकान आदि बने हुए हैं, या नदी-नाले या सड़कें हैं, अथवा उसका कृषि को छोड़कर अन्य कार्यों के लिए उपयोग हो रहा है।

**खनिज पदार्थ**—हम पहले कह आए हैं कि अर्थशास्त्र की दृष्टि से भूमि में खानों का भी समावेश होता है। प्राचीन समय से यह देश खनिज पदार्थों के लिए प्रसिद्ध रहा है, इसे रत्नगर्भा भूमि कहते आए हैं। सोने-चाँदी के आभूषण, तांबे, पीतल, फूल आदि के बर्तन, लोहे के औजार और हथियार यहाँ चिरकाल से बर्ते जा रहे है। और भी तरह-तरह के खनिज पदार्थ यहाँ मिलते हैं। हम यहाँ इस विषय की की कुछ मुख्य-मुख्य बातों का उल्लेख करते हैं।

**लोहा**—आजकल यंत्रों और मशीनों का युग है और ये चीज़ें अधिकतर लोहे की ही बनती हैं। इसके अलावा हमारे घरों के निर्माण में, तथा सामान बनाने में भी लोहे का खास स्थान है। इस तरह जिस देश में लोहा नहीं होता, उसे अपनी एक मुख्य आवश्यकता के लिए

दूसरे के आसरे रहना पड़ता है। सौभाग्य से भारतवर्ष में यह पदार्थ काफी मात्रा में मिलता है। बंगाल और बिहार अपनी लोहे की खानों के लिए प्रसिद्ध है, जो कोयले को खानों के नजदीक हो होने से विशेष उपयोगी हैं। इसके अलावा मध्यप्रान्त, मैसूर और मद्रास में भी लोहा खासे परिमाण में मिलता है।

**कोयला**—आधुनिक औद्योगिक जगत में कोयले का बड़ा महत्त्व है। जहाँ कोयला निकलता है, वहाँ रेलें, यन्त्र और कल-कारखाने आसानी से जारी हो सकते हैं। भारतवर्ष का ६० फी-सदी कोयला बंगाल तथा बिहार से मिलता है; कुल कोयले का आधा भाग झरिया से, और एक-तिहाई रानीगंज से, आता है। पंजाब, मध्यप्रान्त, मध्य-भारत, आसाम, हैदराबाद, रीवा और बिलोचिस्तान में छोटी-छोटी खानें हैं। अलग-अलग स्थानों के कोयले में काफी फरक होता है; इसका कारण कोयले का गुण, उसकी गहराई, काम में आनेवाली मशीनें, मज़दूरी आदि के व्यय का अन्तर होता है। भारतवर्ष में अन्य देशों की अपेक्षा कोयला सतह के पास ही मिलता है। परन्तु जिस रीति से यह यहाँ खानों से निकाला जाता रहा है, वह ठीक नहीं है, उससे उसका भंडार जल्दो समाप्त हो जायगा। उसमें सुधार की जरूरत है। पाकिस्तान में कोयले की बहुत कमी है।

**पेट्रोल**—आधुनिक यातायात और मशीनों के लिए इसका बड़ा महत्व है। बर्मा के अलग हो जाने से भारतवर्ष में इसकी बहुत कमी हो गई है। अब भारतीय संघ में यह खासकर आसाम प्रान्त में ही मिलता है। पाकिस्त न में यह रावलपिंडी के पास थोड़ी सी मात्रा में मिलता है।

**अन्य खानिज पदार्थ**—मैंगनीज़ की खानें मध्यप्रान्त और मद्रास में है। यह इस्पात बनाने के काम आता है। यह विदेशों को भी भेजा जाता है। नमक की खान पंजाब में झेलम के किनारे से सिंध के पार कुछ दूर तक चली गई है। यह पहाड़ी नमक कहलाता है।

सांभर की झील में तथा समुद्री तटों पर खारी पानी से भी नमक बनाया जाता है। शोरा ज्यादातर उत्तरी बिहार में मिलता है। सोने की खानें कोलार ( मैसूर ) में है। अभ्रक की खानें अजमेर, मद्रास और बिहार में हैं। संसार भर के खर्च के लिए आधे से अधिक अभ्रक भारत से ही जाता है। राजपूताना, मध्यप्रान्त, बम्बई, हैदराबाद तथा दक्षिण में इमारतों आदि के लिए पत्थर कई प्रकार का मिलता है। संगमरमर विंध्याचल श्रेणी में बहुत पाया जाता है।

**भारतवर्ष की खनिज स्थिति**—भारतवर्ष के विस्तार और जन-संख्या को देखते हुए यह कहना भ्रममूलक है कि यहाँ खनिज साधन बहुत अधिक हैं, अथवा यह देश औद्योगिक और सामरिक सभी खनिजों में सम्पन्न और स्वावलम्बी है। भारत-सरकार के, जनवरी १९४७ के विचार-पत्र के अनुसार यहाँ के खनिजो को चार श्रेणियों में बांटा जा सकता है—

(१) ऐसे खनिज, जो हमारी जरूरत से इतने अधिक हैं कि उनका निर्यात करके हम दुनिया के बाजारों में अपना प्रभुत्व कायम कर सकते हैं—जैसे कच्चा लोहा, कच्चा टिटेनियम और अभ्रक आदि।

(२) ऐसे खनिज जो हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के अतिरिक्त पर्याप्त मात्रा में बाहर भेजे जा सकते हैं—जैसे कच्चा मैंगनीज, बाक्साइट, सिलिका, खड़िया मिट्टी, इमारती पत्थर, ग्रेनाइट और सिमेंट आदि।

(३) ऐसे खनिज जो यहाँ की वर्तमान तथा निकट भविष्य की आवश्यकताओं के लिए ही काफी समझे जाते हैं—जैसे कोयला, कच्चा अल्यूमिनियम, सोना, सोडियम, नमक, क्षार पदार्थ, संगमरमर, स्लेट, उद्योग के काम की मिट्टियाँ, चूना आदि।

(४) ऐसे खनिज जिनके लिए भारत को बहुत-कुछ विदेशी आयात पर निर्भर रहना पड़ता है—जैसे ताम्बा, चादी, निकल, पेट्रोलियम, गंधक, सीसा, जस्ता, टीन, पारा, पोटाश आदि। ये चीजें लगभग

आधी ऐसी होती हैं जो भारत से ही भेजे गए कच्चे माल से तैयार की जाती हैं।

**खनिज पदार्थों के सदुपयोग की आवश्यकता**—हमारे पराधीनता-काल में भारतवर्ष की खनिज सम्पत्ति का देशवासियों की दृष्टि से उपयोग नहीं किया गया। पेट्रोलियम, सोना, और ताम्बे की खानों के स्वामी विदेशी पूँजीपति रहे, उन्होंने ही कोयला और मेंगनीज की खानों का नियंत्रण किया। उनके खुदाई के ढंग ऐसे अवैज्ञानिक रहे कि खनिजों का बहुत सा परिमाण नष्ट हो गया। फिर, उनका ध्यान मुनाफा कमाने की ओर रहा, इस लिए उन्होंने खानिजों का खूब निर्यात किया। निर्यात के पदार्थ साफ किए बिना ही, बहुत नीची दरों पर भेजे गए, इससे भारतीय आय की बहुत हानि हुई। इसके अलावा हम कोयला, अभ्रक आदि के बड़े परिमाण से वंचित हो गए। हमारी खानें खाली होने या उनमें 'क्रमागत ह्रास' नियम लगने लगा। इस का अर्थ यह है कि ऐसी सीमा आने लगी कि उसके आगे जिस अनुपात से श्रम और पूंजी बढ़ाया जाय, उस अनुपात से उत्पत्ति न बढ़े। यह बात बहुत चिन्तनीय रही; क्योंकि खानों से जब एक बार पदार्थ निकाल लिए जाते हैं तो वे सदा के लिए खाली हो जाती हैं; धातुएँ फिर पैदा नहीं की जा सकतीं।

अब देश स्वाधीन हो गया है। आशा है, खानों की रक्षा का यथेष्ट विचार रखा जायगा। उनसे पदार्थ निकालने के लिए वैज्ञानिक पद्धति का व्यवहार होगा, तथा उन पदार्थों का देश के लिए अधिक-से-अधिक उपयोग होगा। खासकर जो खनिज पदार्थ उद्योगों के लिए तथा सैनिक सामग्री के लिए अत्यावश्यक हैं, उनका प्रबन्ध प्रान्तीय या रियासती सरकारों पर न छोड़ कर केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जायगा।

**प्राकृतिक शक्ति**—भारतवर्ष में प्राकृतिक शक्तियों के उपयोग की बड़ी सुविधा है। कोयले और ईंधन (लकड़ी) के बारे में पहले लिखा जा चुका है; इनसे मिलनेवाली संचालन-शक्ति का अनुमान हो सकता

है। यहाँ संसार का सब से ऊंचा पहाड़ हिमालय और दूसरे बड़े-बड़े और ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं, जिनमें बहुत से जल-प्रपात हैं। बड़ी-बड़ी नदियों की भी कमी नहीं। इस प्रकार यहाँ जल-शक्ति भी खूब है। हाँ, बिजली के रूप में उसका जो उपयोग अब तक किया गया है, वह कम ही है। अब स्वतंत्र भारत की सरकार इस ओर ध्यान दे रही है। इस विषय में खुलासा आगे लिखा जायगा।

भारतवर्ष में वायु-शक्ति भी काफी है; परन्तु आजकल उससे काम लेना बहुत लाभदायक नहीं होता। भारतवर्ष का अधिकतर भाग उष्ण कटिबंध में होने से यहाँ सूर्य के प्रकाश (धूप) से मिलनेवाली शक्ति भी अनंत है। परन्तु विज्ञान की उन्नति न होने से, उसे यहाँ इकट्ठा नहीं किया जाता, और संचालन शक्ति के रूप में उसका प्रायः कुछ भी उपयोग नहीं हो रहा है।

भूमि सम्बन्धी विविध बातों का विचार करके हम सहज ही इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि भारत-भूमि को स्वर्ण-भूमि, रत्न-गर्भा, या अनंत-शक्ति का स्रोत कहना ठीक है। यहाँ की जनता सुखी और संतुष्ट नहीं, तो इसका कारण स्वयं जनता की ही कोई कमी या दोष है। जनता के सम्बन्ध में, आगे लिखा जायगा।



## चौथा अध्याय

# भारतवर्ष की जनसंख्या

**प्राक्कथन**—भारतवर्ष की धनोत्पत्ति के एक साधन—भारत-भूमि—का विचार हो चुका। दूसरे साधन श्रम का विचार करने से पूर्व भारतवर्ष की जनसंख्या के बारे में आवश्यक बातें जान लेनी चाहिएँ। अर्थशास्त्र में मनुष्यों के ही प्रयत्न को श्रम माना जाता है; पशुओं आदि द्वारा किए जानेवाले के प्रयत्न को नहीं। श्रम की विशेष व्याख्या अगले अध्याय में की जायगी।

**भारतीय जनता**—सन् १९४१ की गणना के अनुसार भारतवर्ष की जनसंख्या ३८ करोड़ ८९ लाख थी—२९ करोड़ ५८ लाख तो प्रान्तों की; और शेष, देशी रियासतों की। कुल जनता में २० करोड़ १० लाख मनुष्य थे, और १८ करोड़ ७९ लाख स्त्रियाँ।

सन् १९४७ में भारतवर्ष दो भागों में विभक्त हो गया—भारतीय संघ और पाकिस्तान। भारतीय संघ की आबादी लगभग ३१ करोड़ और पाकिस्तान की ७ करोड़ रही। विभाजन के बाद इन दोनों भागों के लगभग ८० लाख आदमी एक भाग से दूसरे में गए, पर पाकिस्तान जाने वालों की अपेक्षा वहां से भारतीय संघ में आने वालों की संख्या बहुत अधिक थी। फिर, जो आदमी पाकिस्तान गए थे, उनमें से कुछ वहाँ से लौट भी आए। इस प्रकार पाकिस्तान की आबादी लगभग साढ़े छः करोड़ रहने का अनुमान है। भारतीय संघ की आबादी में ८ करोड़ ८८ लाख आबादी देशी रियासतों की थी, परन्तु सन् १९४८ में छोटी-बड़ी २१९ रियासतें अपने पास के प्रान्तों में मिल गईं, इनकी आबादी १ करोड़ २० लाख है।

**गांव और नगरों में**—सन् १९४१ में यहाँ ३३ करोड़ ९१ लाख आदमी गाँवों में रहने वाले थे, और ४ करोड़ ९६ लाख आदमी नगरों में रहते थे; इसका अर्थ यह है कि हमारी ८७ फी सदी जनता ग्राम्य थी, और १३ फी सदी नागरिक या शहरी। ग्राम्य जनता की इस विशेष अधिकता के कारण ही भारतवर्ष को 'देहातों का देश' कहा जाता है। सन् १९३१ की गणना के अनुसार यहाँ देहाती जनता ८९ फी सदी, और नगर निवासी जनता ११ फी सदी थी। इससे मालूम हुआ कि दस वर्ष में नगर निवासियों में दो फीसदी की वृद्धि हुई। आज कल उद्योग धंधों, शिक्षा, और सभ्यता के केन्द्र प्रायः नगर ही होते हैं, इस दृष्टि से यह समझा जाता है कि नगर निवासी जनता की उपर्युक्त वृद्धि इस बात की सूचक है कि यहाँ उन्नति की गति बहुत मन्द है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हमें ग्रामों की उपेक्षा कर वहाँ के

निवासियों को नगरों में आ बसने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए। भारतीय राष्ट्र की यथेष्ट उन्नति के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, आजीविका आदि की दृष्टि से गाँवों का धरातल ऊँचा करना है।

सन् १९४१ में भारतवर्ष में देहातों की संख्या ६,५५,८९२ थी, जब कि यहाँ नगर थे १,७०३। नगरों की संख्या और आकार प्रकार क्रमशः बढ़ता जा रहा है।

**जनसंख्या का घनत्व**—भारतवर्ष में सन् १९४१ में प्रति वर्गमील के हिसाब से २४६ आदमी रहते थे। अन्य उन्नत देशों की तुलना में आबादी का यह घनत्व कम ही है। उदाहरण के लिए जापान की फी वर्गमील औसत आबादी ४७८ और इंगलैंड की ६८६ है। भारतवर्ष एक विशाल देश है। यहाँ के विविध भागों की प्राकृतिक तथा अन्य प्रकार की स्थिति में काफी अन्तर है। इस लिए आबादी का घनत्व भिन्न-भिन्न भागों में जुदा-जुदा है। रियासतों का हिसाब अलग लगाया जाय तो सन् १९४१ में वहाँ जनसंख्या का घनत्व १३०, और शेष भारत (प्रान्तों) में ३४१ था। पृथक्-पृथक् प्रान्तों में प्रति वर्गमील जनसंख्या इस प्रकार थी—देहली १५९९, बंगाल ७७९, बिहार ५२७, संयुक्तप्रान्त ५१८, मद्रास ३९१, पंजाब २८७, बम्बई २७२ और बिलोचिस्तान ९। एक-एक रियासत या प्रान्त के विविध भागों तथा नगरों में भी जनसंख्या का घनत्व जुदा-जुदा है।

जनसंख्या का घनत्व कई बातों पर निर्भर रहता है। खासकर कृषि-प्रधान देशों में जहाँ वर्षा, आबपाशी के साधन, और भूमि का उपजाऊपन अधिक होता है, वहाँ जनसंख्या का घनत्व भी अधिक होता है। भारतवर्ष में सिंध-गंगा के मैदान में आबादी घनी होने का कारण यही है। पंजाब में जब से नहरें बढ़ी हैं, जनसंख्या में विलक्षण वृद्धि हुई है। जलवायु की अनुकूलता भी जनसंख्या बढ़ाने में सहायक होती है। भारतवर्ष के कई पहाड़ी स्थानों में जाड़े की अपेक्षा गर्मी में आबादी कई गुनी हो जाती है। आर्थिक विकास के साथ साथ भी

आबादी बढ़ा करती है। जंगल की पैदावार तथा वहाँ मिलनेवाले शिकार से थोड़े ही आदमियों का निर्वाह हो पाता है, वहाँ खेती होने पर अधिक आदमी निर्वाह कर सकते हैं, इस लिए उसी भूमि में आबादी बढ़ जाती है। नगरो में गांवों की अपेक्षा आबादी अधिक घनी होने का कारण यही है कि वहां लोगों की आजीविका के साधन अधिक होते हैं। अन्य बातें समान रहने की दशा में, दो स्थानों में से जहां मनुष्यों की जान-माल की रक्षा की व्यवस्था अधिक होगी, वहाँ जन-संख्या का घनत्व अधिक होगा। पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, बिलोचिस्तान आदि में जनसंख्या घनी न होने का मुख्य कारण यही है।

**जनसंख्या और भूमि**—रियासतों को छोड़ कर शेष भारत में कुल २१ करोड़ एकड़ भूमि जोती जाती है। इसमें प्रायः वह सब भूमि है, जो काम में लाई जा सकती है; थोड़ी सी ही जमीन और है, जो परिश्रम करने से व्यवहारोपयोगी बनाई जाती है। हिसाब लगाने पर एक आदमी पीछे एक एकड़ भूमि भी नहीं आती। भारतवर्ष में हर सौ मनुष्यों में ६६ सिर्फ खेती से गुजारा करते हैं; यदि केवल इन्हीं लोगों की दृष्टि से भूमि का विचार किया जाय, तो भी एक आदमी पीछे सवा एकड़ से अधिक भूमि नहीं पड़ती।

यदि मनुष्य-संख्या बढ़ती ही गई, और लोग दूसरी ओर न जाकर खेती पर ही भरोसा करते रहे, तो या तो जिस ज़मीन पर खेती हो रही है, उससे, अधिक पैदावार करने का प्रयत्न करना होगा, अथवा नई ज़मीन पर खेती करनी होगी। अधिक पैदावार करने में 'क्रमागत-ह्रास'-नियम * लगता है। और, नई ज़मीन सब अच्छी ही नहीं निकलेगी,

*इसका आशय यह है कि भूमि की पैदावार में, एक खास सीमा के आने पर, फिर मूलधन और परिश्रम जिस अनुपात में बढ़ाया जाता है, पैदावार उसी अनुपात में नहीं बढ़ती, कम बढती है। उत्पत्ति का यह अनुपात आगे चलकर क्रमशः कम होता जाता है। अधिक परिश्रम और मूलधन लगाने से जो अधिक फसल होती है, वह परिश्रम और मूलधन की अधिकता के अनुपात में नहीं होती; उससे कम होती है।

उसमें से बहुत-सी ख़राब भी होगी। इस प्रकार जनसंख्या की समस्या हमारे सामने उपस्थित होती है, खासकर जबकि यह बराबर बढ़ती जा रही है।

**जनसंख्या की वृद्धि, और खाद्य पदार्थ**—किसी देश की जनसंख्या की वृद्धि दो बातों पर निर्भर होती है, (क) मृत्यु-संख्या की अपेक्षा जन्मसंख्या अधिक होना, (ख) देश से बाहर जाकर बसनेवालों की अपेक्षा, विदेशियों का अधिक होना। भारतवर्ष में कुछ विदेशियों ने निवास कर रखा है, तो यहाँ के भी कुछ आदमी बाहर जाकर बसे हुए हैं; और, विदेशियों की संख्या यहाँ की जनसंख्या की तुलना में विशेष महत्व नहीं रखती; उसका यहाँ की जनसंख्या की वृद्धि में विशेष भाग नहीं है।

यहाँ जनसंख्या बढ़ने का मुख्य कारण, मृत्यु-संख्या की अपेक्षा जन्म-संख्या का अधिक होना ही है। जनसंख्या के अंक समय-समय पर बदलते रहते हैं। अकसर जैसे-जैसे जन्म-संख्या बढ़ती है, वैसे-वैसे मृत्यु-संख्या भी अधिक होती है। तथापि यहाँ जनता की वृद्धि हो रही है। सन् १८७१ ई० में भारतवर्ष और बर्मा की जनसंख्या २०,६ करोड़ थी, १८८१ में २५.४ करोड़, १८९१ में २८.७ करोड़, १९०१ में २९.४ करोड़, १९११ में ३१.५ करोड़, १९२१ में ३२ करोड़, और १९३१ में ३५.३ करोड़ रही। सन् १९४१ में भारतवर्ष की जनसंख्या ३८ करोड़ ८९ लाख थी।* आगामी गणना के समय (सन् १९५१) भारतवर्ष की जनसंख्या ४५ करोड़ होने का अनुमान है। यही क्रम जारी रहा तो यह सन् १९६१ में ५० करोड़ और सन् २००१ में तो ७० करोड़ तक पहुँच जायगी। इस बढ़ने वाली आबादी का निर्वाह कैसे होगा? हम यह विचार करें कि यहाँ खाद्य पदार्थों की स्थिति कैसी है।

पिछले वर्षों में खाद्य पदार्थों की मात्रा किस अनुपात से बढ़ी है,

*सन् १९४१ की मनुष्य-गणना हुई तो उससे पहले सन् १९३५ के विधान से बर्मा को भारतवर्ष से जुदा कर दिया गया था।

इस विषय में हिसाब लगानेवालों में मत-भेद है। कुछ लोगों का कहना है कि खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति, जनसंख्या की वृद्धि के अनुपात से अधिक हुई है; सिंचाई और कृषि सम्बन्धी उन्नति से, पैदावार अभी और भी बढ़ सकती है। लेकिन दूसरे विद्वानों का मत है कि खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति की वृद्धि उक्त अनुपात से कम हुई है। यही नहीं, इनका कथन है कि अब खेती-योग्य भूमि बढ़ाने की ज्यादह गुंजाइश नहीं है। नहरों आदि के निकालने से खाद्य पदार्थों का परिमाण कुछ अंश में और भी बढ़ाया जा सकेगा, पर वह अब अपनी चरम सीमा के नज़दीक आ रहा है। एक सीमा के बाद यह परिमाण बढ़ाना करीब-करीब असम्भव होगा। फिर, अब मनुष्यों की आवश्यकताएँ बहुत बढ़ गई हैं, जीवन के आदर्श बदल गए हैं। पहले जितनी चीज़ों से निर्वाह हो जाता था, अब उतनी चीज़ों से काम नहीं चलता। ऐसी दशा में जनसंख्या का बराबर बढ़ते रहना चिन्ता की बात है; कारण, इसका नतीजा अकाल या महामारी होता है।

[मालथस नामक अर्थशास्त्री का यह सिद्धान्त है कि यदि कोई बाधा उपस्थित न हो, तो देश की जनसंख्या ज्यमितिक वृद्धि अर्थात् १, २, ४, ८, १६, ३२ या १, ३ ६, २७ ८१, २४३ आदि के हिसाब से बढ़ती है। खाद्य पदार्थ १, २, ३, ४, ५, ६, या १, १॥, २, २॥, ३, ३॥ आदि अर्थात् अंक-गणित की वृद्धि के हिसाब से बढ़ते हैं। यदि जनता की वृद्धि नियमित रूप से न रोकी जाय तो दरिद्रता (जो अनियमित वृद्धि का आवश्यक परिणाम है) या ईश्वरीय कोप द्वारा उसका ह्रास होता है, राज्यों में परस्पर युद्ध छिड़ जाता है, भांति-भांति के रोग फैलते हैं, और बालकों की मृत्यु-संख्या बढ़ जाती है।]

**जनसंख्या और कुल धनोत्पत्ति**—कुछ लेखकों का मत है कि "जनसंख्या का, खाद्य पदार्थों की उपज की दृष्टि से विचार करना युक्तिसंगत नहीं। हमें देखना चाहिए कि देश की कुल धनोत्पत्ति से उस का क्या अनुपात है, हरेक आदमी के हिसाब से देश में जितनी औसत

धनोत्पत्ति होती है, वह उसकी आवश्यकताओं को पूरा करने लिए काफी है या नहीं। इस समय व्यापार का स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय होने से जनसंख्या की समस्या का स्वरूप बदल गया है। यदि हमारे देश मे काफी खाद्य पदार्थ नहीं होते और हमारे पास यथेष्ट सम्पत्ति है तो खाद्य पदार्थ विदेशों से मोल मँगवाए जा सकते हैं।" ये लेखक यह सिद्ध करते हैं कि चाहे खाद्य पदार्थों की दृष्टि से भारतवर्ष की वर्त्तमान जनसंख्या अधिक हो, परन्तु देश के औद्योगिककरण से, यानी उद्योग धन्धों की काफी उन्नति से, यह बात न रहेगी, उससे लोगों की सम्पत्ति अधिक होगी। फिर, उनके लिए खाद्य पदार्थों की समस्या उपस्थित न होगी; यहाँ आवश्यक सामग्री न मिलने पर वह; कुछ महँगे भाव से ही सही, विदेशों से सहज ही मँगाई जा सकेगी।

देश में उद्योग-धन्धों की वृद्धि को हम भी आवश्यक मानते हैं, (इसके सम्बन्ध में विशेष विचार आगे किया जायगा), और यह भी ठीक है कि कुछ अंश में उससे जनसंख्या की समस्या हल होने में सहायता मिलेगी। परन्तु वह इस समस्या का स्थायी हल नहीं है। अन्य देश भी औद्योगिककरण में लग रहे हैं, तथा लगेंगे। यदि संसार के हरेक देश के आदमी अपने गुज़ारे की खाद्य सामग्री के लिए दूसरे देशों के आसरे रहने लगें तो क्या परिणाम होगा, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। फिर, आजकल तो हर समय युद्ध के बादल छाए रहते हैं, और किसी भी देश के, युद्ध में फँसने की आशा बनी रहती है। ऐसी स्थिति में अपने खाद्य पदार्थों के लिए परावलम्बी बना रहना जोखिम से खाली नहीं। अस्तु, भारतवर्ष का अपनी जनसंख्या के सम्बन्ध में असावधान रहना उचित नहीं; चाहे इसकी समस्या आज उतनी उग्र न हो, जितनी कुछ सज्जन बतलाते हैं।

**जनसंख्या पर सामाजिक और धार्मिक विचारों का प्रभाव**—भारतवर्ष में जनसंख्या बढ़ने का कारण कुछ अंश में यहाँ की जलवायु गर्म होना, शिक्षा का प्रचार न होना, लोगों की गरीबी और अन्ध-

विश्वास है। 'शिक्षा' का उपयोग हम व्यापक अर्थ में कर रहे हैं। अशिक्षित आदमी अपनी सन्तान के प्रति अपने उत्तरदायित्व को नहीं समझते और सन्तान पैदा करने की इच्छा का नियंत्रण नहीं करते। गरीब लोगों का रहन-सहन नीचे दर्जे का होता है। इन्हें यह विचार नहीं होता कि यदि हमारे सन्तान होगी तो उसके यथेष्ट पालन-पोषण और शिक्षण के लिए हमें विविध साधन जुटाने होंगे। वे भाग्यवादी होते हैं, सोचते हैं कि परमात्मा सब की गुजर करता है, जैसे हमें किसी तरह खाने-पीने को मिलता है, हमारी सन्तान भी अपने भाग्य का खाए-पीएगी।

प्रायः हिन्दुओं में खासकर कन्या का विवाह अनिवार्य माना जाता है। पुत्र पैदा करना धार्मिक कर्त्तव्य समझा जाता है। शास्त्रों में कहा गया है कि 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति'। प्राचीन काल में, जब नई-नई भूमि में बस्ती होने लगी होगी, तब देश में जनसंख्या बहुत कम होगी, और आर्थिक या अन्य कारणों से उसे बढ़ाने की बहुत जरूरत मालूम हुई होगी। अब वह बात नहीं रही, परन्तु अधिकांश आदमी पुराने विचारों को ही अपनाए हुए हैं।

इसके अलावा प्राचीन काल में इस सम्बन्ध में जो मर्यादाएँ या सीमाएँ थीं, वे भी अब नहीं रहीं। पहले ऐसी व्यवस्था थी कि पुरुष पच्चीस वर्ष तक और कन्याएँ सोलह वर्ष तक ब्रह्मचर्य आश्रम में रहें, तब जाकर गृहस्थाश्रम में दाखिल हों। फिर गृहस्थ आश्रम की मियाद आयु के चौथाई हिस्से अर्थात् पचीस वर्ष की ही थी। इसके बाद सन्तान नहीं होती थी, जीवन आत्मोन्नति तथा परोपकार में लगाया जाता था। पिछली सदियों में इन बातों का विचार न रहा। बाल-विवाह प्रचलित हो गया। वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम केवल धर्म-ग्रन्थों में रह गए, व्यवहार में आदमी इन्हें भूल से गए। विवाह होने के बाद आदमी जन्म भर गृहस्थाश्रम में रहने लगे। पुरुष की एक स्त्री मर जाने पर उसका दूसरा, तीसरा और कुछ दशाओं में इसके बाद भी

विवाह होने लगा।

नतीजा यह हुआ कि एक ओर तो अनेक छोटी उम्र के लड़के-लड़कियों के सन्तान होने लगीं; दूसरी ओर कितने ही बूढ़े आदमियों के बेमेल विवाहों से जनसंख्या बढ़ी। इससे बच्चों का दुर्बल रोगी और अल्पायु होना स्वाभाविक ही था। अब कुछ समय से इसमें धीरे-धीरे सुधार हो रहा है। बाल-विवाह बन्द करने के कानून बन गए हैं, समाज-सुधारक भी इस दिशा में आन्दोलन कर रहे हैं। हाँ, और भी बहुत कार्य होने की गुंजाइश है। शिक्षा के प्रचार, आर्थिक संघर्ष, कुछ लोगों के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होने, और मनचाहा आज़ाद जीवन बिताने की इच्छा से भी जनसंख्या की वृद्धि पर कुछ रुकावट होने लगी है। तो भी वर्त्तमान अवस्था में यहाँ आबादी की अधिकता की समस्या थोड़ी बहुत है ही।

**जनसंख्या कितनी होनी चाहिए?**—आर्थिक दृष्टि से भारतवर्ष क' जनसंख्या कितनी होनी चाहिए, इसका ऐसा उत्तर नहीं दिया जा सकता, जो हमेशा के लिए ठीक हो। हाँ, इस विषय का सिद्धान्त बतलाया जा सकता है। बात यह है कि देश की आर्थिक परिस्थिति समय-समय पर बदला करती है। वैज्ञानिक आविष्कारों या उन्नति आदि से देश की उत्पत्ति बढ़ती रहती है, और कभी-कभी एकदम बहुत बढ़ जाती है। इसी प्रकार भयंकर बाढ़ या भूकम्प आदि से कभी-कभी उत्पत्ति बहुत घट भी सकती है। इसलिए स्थूल रूप से यही कहा सकता है कि किसी खास समय में देश की अधिकतम जनसंख्या इतनी होनी चाहिए, जिसके द्वारा प्रति व्यक्ति, धनोत्पत्ति या आय उस समय अधिक-से-अधिक हो; यदि जनसंख्या उससे कम या उससे अधिक हो जाय तो प्रति व्यक्ति, उत्पत्ति का अनुपात कम रह जाय। नए उपनिवेशों में, अथवा धनोत्पत्ति में उत्तरोत्तर उन्नति करनेवाले देशों में, जनसंख्या बढ़ना अनुचित नहीं। भारतवर्ष पुराना देश है; हाँ, अब स्वाधीन हो जाने से यहाँ आर्थिक उन्नति की बहुत आशा है, तथापि अभी लोगों

का रहन-सहन का दर्जा बहुत नीचा है, उसे उठाने की आवश्यकता है। इसलिए जनसंख्या की वृद्धि को प्रोत्साहन देना ठीक नहीं! उसे यथा-सम्भव रोकना ही चाहिए।

**जनसंख्या और प्रवास**—जनसंख्या की वृद्धि को रोकने का एक उपाय यह है कि आदमी काफी संख्या में विदेशों में जाकर बसते रहें। आजकल आमदरफ़्त के साधन बढ़ने के कारण जनता का दूसरे देशों में जाना-आना सुगम हो गया है; किन्तु सर्वसाधारण की अपना निवास-स्थान छोड़ने की प्रवृत्ति बहुत कम है इसका एक कारण तो यही है कि कितने ही आदमी खेती-बाड़ी करते हैं, जिसे सहसा छोड़ा नहीं जा सकता। परन्तु आर्थिक आवश्यकताएँ लोगों से उनके घर का मोह छुटा रही हैं। कुछ आदमी नौकरी आदि की तलाश में बाहर जाते रहते हैं; यद्यपि इनमें से ज्यादहतर की पहुँच पास के नगर या क़स्बे तक होती है; कुछ आदमी दूर-दूर चले जाते हैं, यहाँ तक कि अपने प्रान्त को छोड़ कर दूसरे प्रान्त में जा सकते हैं। उदाहरण के लिए मारवाड़ी इस समय बंगला, आसाम हैदराबाद आदि अनेक भागों में फैले हुए हैं, और वहाँ के व्यापार में खासा भाग ले रहे हैं। प्रायः अशिक्षित होते हुए भी उन्होंने दूर-दूर जाकर वहाँ की भाषा सीखकर अपना कारोबार जमाने और किफायत से काम चलाकर खासा धन जोड़ने में बड़ा साहस और कौशल दिखाया है। इसी प्रकार गुज़राती, बंगाली, पंजाबी, आदि भी प्रवास में खासे उद्योगी रहे हैं।

यह तो हुई, अन्तर्प्रान्तीय प्रवास की बात। विदेश गमन की कठिनाइयों का अधिक होना साफ ही है। नई भाषा, और नए रहन-सहन आदि के अलावा यहाँ हिन्दुओं की समुद्र-यात्रा में धार्मिक और सामाजिक बाधाएँ भी थीं; ये अब कम हो रही हैं। हाँ, एक बाधा और है; अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति की चिन्ता के कारण हरेक देश के निवासी-यथा सम्भव बाहर वालों को अपने यहाँ आकर बसने से रोकते हैं। नए उपनिवेश बसाने के समय आरम्भ

में तो दूसरे देशों के आदमियों को, मज़दूरों के रूप में, बुलाने के लिए तरह-तरह की सुविधाएँ तथा प्रलोभन दिए जाते हैं, पर कुछ समय बाद यह बात नहीं रहती। इस तरह जो भारतीय यहाँ साहस करके बाहर गए भी, उन्हें वहाँ अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसका एक खास कारण यह भी था कि ये पराधीन थे, यहाँ की सरकार विदेशों में इनके स्वार्थों की समुचित रक्षा नहीं करती थी। अब यह बात नहीं रही, परन्तु उपनिवेशो में प्रायः वर्ण-विद्वेष या रंग-भेद आदि की बातें तो हैं ही। इस तरह भारतवासियों के लिए जनसंख्या की वृद्धि रोकने के वास्ते प्रवास का मार्ग प्रायः बन्द ही है।

**दूसरे प्रतिबन्धक उपाय**—इस विषय में करीब-करीब सभी विचारशील एक मत हैं कि यहाँ जनसंख्या की वृद्धि में कमी होनी चाहिए, परन्तु उसके लिए उपायों के बारे में दो मत हैं। एक पक्ष का कहना है कि संयम और ब्रह्मचर्य का सिद्धान्त बहुत अच्छा अवश्य है, किन्तु यह केवल ऊँचे विचारवालों के वास्ते है, सर्वसाधारण के लिए यह व्यवहारिक नही है, उन्हें कृत्रिम उपायों से सन्तान-निग्रह करना चाहिए। ये लोग जनता में इस प्रकार के विचारों का, अपने भाषणों तथा लेखों आदि से प्रचार कर रहे हैं। कुछ स्थानों में सन्तान-निग्रह की शिक्षा देने को भी व्यवस्था हो चली है। यह मत यहाँ थोड़े समय से ही प्रचलित हुआ है; पर इस मत के पक्षवालों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है; खासकर नव शिक्षितों की प्रवृत्ति इस ओर बढ़ रही है। तो भी अधिकाँश समाज इन बातों को भयंकर आशंका और घृणा की दृष्टि से देखता है। वह भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति, नीति और धर्म के नाम पर उसका विरोध करता है, यह भी बताता है कि उन देशों में जहाँ ये उपाय विशेष रूप से काम में लाए गए हैं, समाज को बहुत हानि उठानी पड़ी है; यहाँ तक कि वहाँ कितने ही समाज-हितैषी इनके घोर विरोधी रहे हैं।

जनसंख्या की अनुचित वृद्धि को रोकने के लिए ये उपाय काम में लाए जाने चाहिएँ :—

(१) जनता में यह प्रचार किया जाय कि रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करें। आदमी अच्छे मकान तथा उत्तम भोजन-वस्त्र का उपयोग करें। रहन-सहन का दर्जा ऊँचा रखनेवालों में सन्तान की इच्छा कम होती है।

(२) बालक-बालिकाओं की ऊँची-शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय, जिससे बड़े होने पर वे अपने उत्तरदायित्व को पहिचानें, दूरदर्शी बनें,। आदमी, सन्तान पैदा करने की इच्छा होने पर आगे पीछे की परिस्थति का विचार करके उसका यथा-सम्भव नियन्त्रण करें; और कई अयोग्य सन्तान की अपेक्षा एक-एक दो-दो सुयोग्य सन्तान पैदा करने का ही विचार रखें।

(३) बालक-बालिकाओं को सदाचार और संयम की शिक्षा दी जाय, तथा विवाह करने की उम्र बढ़ायी जाय; और बहुत ज्यादह उम्रवालों के विवाह ( कुछ खास हालतों को छोड़कर ) बन्द किये जायँ। इस सम्बन्ध में हिन्दुओं की आश्रम-व्यवस्था का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

(४) निर्बल, दरिद्र, वंशानुगत रोगी, पागल, या ऐसे शारीरिक या मानसिक विकारवाले आदमियों के विवाह बन्द होने चाहिएँ, जिनकी सन्तान सुदृढ़ और सुयोग्य होने की सम्भावना न हो।

(५) विदेशों के उन्हीं आदमियों को तथा उसी दशा में, आकर बसने की अनुमति दी जानी चाहिए, जब वे यहाँ का धन बढ़ाने में सहायक हों, अथवा ऊँचे नैतिक विचारों का प्रचार करनेवाले हों।

(६) देश की विशेषतया आर्थिक स्थिति का सुधार किया जाय।

इन उपायों से भारतवर्ष की जनसंख्या बढ़ने की समस्या बहुत-कुछ हल होने की आशा की जा सकती है।

———

# पाँचवाँ अध्याय

# भारतीय श्रम



**श्रम और मनुष्य**—भारत-भूमि के विषय में पहले लिखा जा चुका है। भूमि बिना मेहनत, केवल थोड़े-से, सो भी कच्चे पदार्थों को पैदा कर सकती है। जंगलों में अपने आप पैदा होनेवाले पदार्थ, मेहनत के बिना, मनुष्य के लिए विशेष उपयोगी नहीं होते, उसकी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते। भिन्न-भिन्न उपयोगी वस्तुओं का संग्रह करके रखने में या उन्हें ऐसे रूप में लाने में कि वे मनुष्य की ज़रूरतें पूरी कर सकें, श्रम आवश्यक है। अर्थशास्त्र में, श्रम के अंतर्गत किसी मनुष्य द्वारा किया हुआ मानसिक या शारीरिक वह सब प्रयत्न समझा जाता है, जिसका उद्देश्य उस मनुष्य का मनोरञ्जन न होकर धनोत्पत्ति हो, जो उत्पादक हो, चाहे उस प्रयत्न में, मनुष्य का मनोरञ्जन भी होता हो, जैसा कि कवि, लेखक, चित्रकार आदि कलाकारों का प्रायः होता है।

श्रम की परिभाषा में प्रयत्न के साथ 'मनुष्य द्वारा किया हुआ' कहा गया है। बात यह है कि प्रगति करने के साथ मनुष्य खेती आदि बहुतसी धनोत्पत्ति पशुओं द्वारा या उनकी सहायता से करने लगा। और अधिक ज्ञानवृद्धि होने पर यन्त्रों का भी उपयोग आरम्भ हुआ, और अब तो यह बढ़ता ही जाता है। इस प्रकार अब धनोत्पत्ति में पशुओं तथा यंत्रों का बड़ा भाग है। तथापि अर्थशास्त्र में इनका विचार पूँजी में किया जाता है। श्रम के अन्तर्गत धनोत्पत्ति में सहायक होनेवाला केवल मनुष्य का ही श्रम समझा जाता है।

पिछले अध्याय में भारतवर्ष की जनसंख्या का विचार किया गया

है। जनसंख्या के अलावा, धनोत्पत्ति पर इस बात का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है कि मनुष्यों का श्रम उत्पादक है या अनुत्पादक, और उस श्रम की कुशलता कितनी है। इस अध्याय में इन बातों का विचार किया जायगा। पहले श्रम की उत्पादकता का विषय लेते हैं।

**उत्पादक श्रम; व्यक्तिगत और सामाजिक**—जिस श्रम से कोई ऐसी वस्तु बनाई जाती है, जो धन की उत्पत्ति या वृद्धि में सहायक हो, अथवा जो श्रम दूसरों की धनोत्पादक शक्ति बढ़ाए उसे उत्पादक श्रम कहा जाता है। मनुष्य को ऐसा ही श्रम करना चाहिए, जो उत्पादक हो। परन्तु इसमें भी उसकी दृष्टि व्यक्तिगत न रह कर सामाजिक होनी चाहिए। इसका आशय समझने के लिए हमें जानना चाहिए कि कुछ श्रम ऐसे हैं, जो व्यक्तिगत दृष्टि से उत्पादक होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से अनुत्पादक होते हैं; इसी प्रकार कुछ श्रम सामाजिक दृष्टि से उत्पादक होते है, परन्तु वे व्यक्ति की दृष्टि से अनुत्पादक हो सकते हैं। एक आदमी चोरी करके धन लाता है, उसका श्रम उस व्यक्ति की दृष्टि से धनोत्पादक है, परन्तु समाज को इससे कोई लाभ नहीं, वरन् बहुत हानि है। आतिशबाजी, नशे और विलासिताओं की चीज़ों की उत्पत्ति में लगनेवाला श्रम भी व्यक्ति की दृष्टि से उत्पादक गिना जाता है। इससे समाज का हित नहीं होता, उसकी दृष्टि से यह अनुत्पादक है। ऐसे कुछ अन्य श्रम जो व्यक्ति की दृष्टि से उत्पादक, और समाज की दृष्टि से अनुत्पादक हैं, उन वकील और जमींदारों आदि के हैं, जो देश में मुकदमेबाजी बढ़ाने या किसानों की दशा बिगाड़ने में सहायक होते हैं। ऐसे श्रम करनेवाले अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का ध्यान रख कर काम करते हैं। भारतवर्ष में जमींदारी प्रथा उठाई जा रही है, और गांवों में पंचायत राज्य की स्थापना से वकीलों की अब पहले की तरह नहीं बन आएगी।

संसार में ऐसे परोपकारी महात्माओं, संतों और स्वयंसेवकों का अभाव नहीं है—हाँ, उनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम रहती है—

जो व्यक्तिगत या निजी स्वार्थ की प्रायः अवहेलना करके भी अपना जीवन अपनी जाति, देश, या मानव समाज के हित के लिए अर्पण करते हैं। जब कोई आदमी बहुत कष्ट उठाकर लेखक या वैद्य आदि के रूप में समाज की सेवा करता है, और धनोत्पत्ति का उद्देश्य नहीं रखता, उस श्रम के उपलक्ष्य में कोई धन न लेकर सब कार्य अवैतनिक रूप से करता है, तो यह श्रम समाज की दृष्टि से उत्पादक और व्यक्ति की दृष्टि से अनुत्पादक कहा जाता है। भारतवासियों को स्वदेशोन्नति के लिए ऐसा श्रम भी काफ़ी परिमाण में करना चाहिए।

सामाजिक दृष्टि से अनुत्पादक या हानिकर श्रम दो प्रकार के होते हैं। कुछ तो राज्य की ओर से दण्डनीय माने जाते हैं, और कुछ के लिए दण्ड नहीं दिया जाता। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में चोरी या लूट मार आदि करनेवालों को दण्ड मिलता है, परन्तु आतिशबाजी की चीजें, या अनेक प्रकार के मादक पदार्थ (जो औषधियों के लिए काम में नहीं आते) बनानेवालों के, और मुकदमाबाजी बढ़ानेवाले वकीलों के हानिकर श्रम को दण्डनीय नहीं माना जाता। आज-कल शहरों में 'कार्निवल' होते हैं, उनमें प्रतियोगिता के नाम पर नए-नए ढँग के जुए से दर्शकों का धन अपहरण किया जाता है। तरह-तरह की लाटरियाँ निकालकर उनमें लोगों को फँसाया जाता है। इन कामों के करनेवालों के श्रम भी कानून से वर्जित नहीं है। किन्तु हमें चाहिए कि कानून की न्यूनता, त्रुटि या दोष से अनुचित लाभ न उठावें। राज्य से दण्ड मिलने की व्यवस्था हो, या न हो, हम कोई कार्य ऐसा न करें, जो सामाजिक दृष्टि से हानिकर हो।

**भारतवर्ष में अनुत्पादक**—यों तो सभी देशों में कुछ-न-कुछ आदमी ऐसे होते हैं, जो उत्पादक श्रम नहीं करते, किन्तु भारतवर्ष में तो वे बहुत ही अधिक हैं। छोटे बालकों को उत्पादक कार्य न करने के लिए दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वे इसके योग्य नहीं हैं। यदि वे उपयोगी कार्यों की शिक्षा या ट्रेनिंग प्राप्त करते हैं तो समझना

चाहिए कि वे अपना कर्तव्य पालन कर रहे हैं। इसी प्रकार लंगड़े लूले, या अपाहिज तथा बेकार भी अनुत्पादक होने के कारण दोषी नहीं ठहराए जा सकते; कारण कि वे ऐसा होने के लिए बाध्य हैं। परन्तु जो आदमी हट्टे-कट्टे और काम करने योग्य होते हुए भी भिक्षा आदि से अपना निर्वाह करते हैं, वे (परोपकारी सन्त महात्माओं को छोड़कर) दूसरों पर भार हैं। इसके अतिरिक्त, विशेषतः संयुक्त परिवारों में अनेक आदमी और औरतें ऐसी हैं जो उत्पादक कार्य नहीं करतीं। अनेक रईस, धनवान, या सेठ साहूकार तथा उनके लड़के भी अपने हाथ से कोई उत्पादक कार्य करना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं। कितने ही पुजारी और महन्त आदि भी ऐसे हैं जो समाज के लिए विशेष उपयोगी कार्य नहीं करते और मज़े से विलासिता का जीवन बिताते हैं।

इन सब बातों का निवारण किया जाना आवश्यक है। इसका एक उत्तम उपाय यह है कि मुफ़्तखोरी और परावलम्बन के विरुद्ध लोकमत संगठित किया जाय, जो आदमी बिना श्रम किए खाता-पीता है, उसे समाज में प्रतिष्ठा न मिलनी चाहिए, चाहे वह स्वयं अपने ही पूर्वजों की कमाई खाता हो, या सरकार की किसी विशेष कृपा के फलस्वरूप बड़ा आदमी कहा जाने लगा हो।

**जाति-भेद**—'श्रम' में शारीरिक बल के अलावा मनुष्यों के ज्ञान, कौशल, शिक्षा, स्वास्थ्य, धर्म, रीति-रस्म, रहन-सहन आदि की वह सब योग्यता समझी जाती है, जो धनोत्पादन में सहायक हो सके। इस लिए भारतीय श्रम के सम्बन्ध में हमें यहाँ के निवासियों की इन बातों का भी विचार करना होगा। पहले जाति-भेद को लेते हैं। प्राचीन काल में बहुत समय तक गुण-कर्मानुसार चार जातियाँ रहीं। पीछे समय के फेर से वे सहस्रों छोटी-छोटी जातियों में विभक्त हो गईं। बहुत-से लोगों का मेल-जोल रहन-सहन, खान-पान, विवाह-सम्बन्ध आदि प्रायः उनके छोटे-छोटे दायरे (क्षेत्र)

में ही होता है। इस प्रकार जन-साधारण के विचार तथा कार्य का केन्द्र बहुत परिमित हो गया। पिछली दशाब्दियों में इस स्थिति में क्रमशः परिवर्तन हुआ है। वर्तमान शिक्षा, सभ्यता, धार्मिक जागृति, आजीविका-प्राप्ति की कठिनाइयों और राष्ट्रीय आन्दोलन ने भी इस परिवर्तन में कुछ सहायता पहुँचाई है।

आर्थिक दृष्टि से जाति-भेद के प्रधान लाभ ये मालूम होते हैं:—(अ) इससे वंशानुगत कार्यकुशलता की प्राप्ति होती है, बाप-दादे के किए हुए काम की शिक्षा और उसके रहस्य जल्दी जान लिए जाते हैं। (आ) हर एक जातिवालों का संघ होता है, जिसके सदस्य परस्पर एक-दूसरे की मदद करते हैं, तथा काम की मज़दूरी नियमानुसार बनाए रखने में सहायक होते हैं। (इ) इससे कुछ अंश तक स्थूल श्रम-विभाग होता है, एक जाति के पुरुष एक कार्य करते हैं; हाँ, उन्हें किसी नवीन कार्य का आरंभ करना कठिन भी हो जाता है।

जाति-भेद से होनेवाली मुख्य हानियाँ ये है—(क) धन्धे या पेशे के बदलने में कठिनाई होती है। कुछ लोगों को नए ढंग से अपना कार्य चलाने में बाधा होती है। (ख) कई जातियों को नीचा माने जाने से समाज में श्रम का यथेष्ट गौरव या महिमा नहीं रहती। (ग) कल-कारखाने आदि बड़े-बड़े कार्यों के संगठन के लिए जाति-भेद बाधक होता है। (घ) चौके की छुआ-छूत के कारण बहुत अपव्यय होता है। जब भिन्न-भिन्न-जाति के आदमी अपना-अपना भोजन अपने ही हाथ से पकाते हैं, तो उसकी अलग-अलग व्यवस्था करने में स्थान, ईंधन आदि की अधिक आवश्यकता होती है; तथा कुशल या निपुण आदमी को, अपना बहुत सा समय खाना पकाने के काम में ही लगा देना पड़ता है, जिसे सम्भव है, वह अच्छी तरह करना न जानता हो।

जादि-भेद के वर्तमान दोषों को देख कर बहुत से आदमी जातपाँत को समूल नष्ट करना चाहते हैं। कुछ वर्षों से जातपाँत तोड़क मंडल

आदि संस्थाएँ इस दिशा में कुछ संगठित कार्य कर रही हैं। परन्तु विशाल सामाजिक क्रांति के बिना, ऐसे प्रयत्नों में सफलता नहीं हो सकती। यहाँ अधिकतर जनसमुदाय कृषि-कार्य में लगा है, वह पुराने विचार वाला है; देश के औद्योगिककरण से इस मनोवृत्ति में क्रमशः सुधार होगा।

**संयुक्त-कुटुम्ब-प्रणाली**—भारतवर्ष के बहुत-से भागों में एक कुटुम्ब या परिवार के आदमी इकट्ठे रहते, और मिल कर धन पैदा तथा व्यय करते हैं। सब कमानेवालों की आमदनी घर के बड़े-बूढ़े के पास जमा होती है। वह सबकी ज़रूरतें पूरी करने की कोशिश करता है। इससे अनाथों की शिक्षा तथा परवरिश में कुछ सुविधा होती है; तथा बीमारी या बुढ़ापे में कोई आदमी असहाय या बिना सहारे के नहीं होता। लेकिन इससे कई हानियाँ भी होने लगी हैं—

(१) कोई आदमी अपनी मेहनत का तमाम फल अपनी संतान के लिए ही नहीं छोड़ सकता, अतः आर्थिक या संकीर्ण दृष्टिकोण वाले व्यक्ति को धनोपार्जन में विशेष उत्साह नहीं होता।

(२) सब को रोटी-कपड़ा मिलने का भरोसा रहता है। इसलिए कई एक आदमियों में स्वावलम्बन तथा साहस नहीं होता। कोई-कोई आदमी मुफ्त में ही बेकार रहता हुआ अपने दिन काटा करता है।

(३) इस प्रणाली में व्यक्तिगत स्वतंत्रता के भावों का विकास नहीं होता। बहुधा पुरुष पराधीनता में कलह और दुःख का जीवन व्यतीत करते हैं, जो आर्थिक दृष्टि से हानिकर है।

आज-कल लोगों में वैयक्तिक विचारों की वृद्धि हो रही है; पहले प्रायः एक परिवार के सब आदमी एक ही प्रकार के उद्योग-धन्धे से आजीविका प्राप्त करते थे। अब आमदरफ्त की वृद्धि और यातायात की सुविधाएँ अधिक होने से, और जीवन-संग्राम की कठिनाइयाँ दिनों-दिन बढ़ने से, परिवार के जिस आदमी को जहाँ जिस प्रकार के कार्य

करने का अवसर मिल जाता है, वह वहाँ वैसा करने लगता है। इस तरह परिवार के सदस्यों के दूर-दूर रहने का प्रसंग बढ़ता जाता है। अनेक दशाओं में जब कि एक आदमी गाँव में खेती करता है, उसका एक लड़का उसके साथ रहता है, दूसरा किसी नगर में कलर्की आदि का कार्य करता है, और तीसरा किसी अन्य नगर के कल-कारखाने में श्रम करता है। इससे संयुक्त-कुटुम्ब-प्रणाली का ह्रास होता है। यद्यपि स्वावलम्बन और विचार-स्वातंत्र्य का यथेष्ट महत्त्व है, तथापि समाज की उन्नति के लिए पारस्परिक सहानुभूति, सहयोग और त्याग के भावों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार आवश्यकता इस बात की है कि संयुक्त-कुटुम्ब-प्रणाली में जो गुण हैं, उन की वृद्धि हो, और इसके दोषों का निवारण हो।

**क्या यहाँ धार्मिक विचार आर्थिक उन्नति में बाधक हैं?**—प्रायः यह कहा जाता है कि भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति पर यहाँ के धार्मिक विचारों का गहरा प्रभाव है, और अधिकतर आदमी परलोक की बातों में लगे रहने के कारण सांसारिक विषयों की ओर समुचित ध्यान नहीं देते। ऐसा कथन कुछ अत्युक्ति-पूर्ण है। निस्सन्देह यहाँ कुछ आदमी अपना खासा समय और शक्ति पूजा-पाठ या तीर्थ-यात्रा आदि धार्मिक कार्यों में खर्च करते हैं, परन्तु उसे धनोत्पत्ति की दृष्टि से व्यर्थ नहीं कह सकते। इससे उन्हें शान्ति और सन्तोष होता है; हानि-लाभ में, सुख-दुख में धैर्य बनाए रखने में सहायता मिलती है, जो आर्थिक जीवन की सफलता के लिए बहुत उपयोगी है। कुछ आदमी तीर्थ-यात्रा के सिलसिले में अनेक स्थानों, बाजारों और मंडियों का निरीक्षण करते हैं, और व्यापारियों से मेल-मुलाकात करते हैं, जिससे उन्हें पीछे आर्थिक लाभ भी होता है। हाँ, ऐसी दृष्टि थोड़े ही व्यक्तियों की होती है, दूसरे आदमी सन्तोष-वृत्ति के कारण, ऐसा नहीं करते। अस्तु, कुल जनता का विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि सर्वसाधारण पर उनके धार्मिक विचारों का ऐसा प्रभाव

नहीं है कि वह धनोत्पत्ति में विशेष बाधक हो। उदाहरणवत् मारवाड़ी, जैन और भाटियों ने, धार्मिक विचारों से कट्टर होते हुए, उद्योग व्यापार आदि में यथेष्ट ख्याति प्राप्त की है। इसी प्रकार यद्यपि मुसलमान व्याज पर रुपया देना-लेना धार्मिक दृष्टि से बुरा मानते हैं, आर्थिक व्यवहार में वे इसे निषिद्ध नहीं समझते।

भारतवर्ष में बहुत से आदमी बहुत-कुछ भाग्यवादी अवश्य हैं; पर इसका कारण धर्म के अतिरिक्त राजनैतिक, आर्थिक तथा शिक्षा सम्बन्धी स्थिति भी है। गत शताब्दियों में देश में शांति और सुव्यवस्था कम रहने से लोगों का जीवन प्रायः अस्थिर और संकटमय रहा है। उनकी आर्थिक स्थिति पीढ़ी-दर-पीढ़ी ऐसी खराब रही है कि उनकी कार्यक्षमता और उत्साह घट गया है। इसलिए उनमें उद्योगवाद या कर्मवाद के भावों की कमी है। फिर अधिकांश भारतवासी खेती के काम में लगे हुए हैं, जो प्रायः वर्षा पर निर्भर हैं। और, वर्षा अनिश्चित रहती है; कभी बहुत कम, कभी बहुत ज्यादह। कभी-कभी बाढ़ या भूकम्प आदि का भी अनुभव होता रहता है, अनेक बार कीड़ा आदि लग जाने से भी फ़सल ख़राब हो जाती है। विज्ञान का ज्ञान न होने की दशा में बेचारा दीन-हीन किसान भाग्यवादी न हो तो क्या हो!

इस प्रसंग में हमें यह भुलाना उचित न होगा कि वर्त्तमान काल में जब कि सर्वसाधारण में शिक्षा की बहुत कमी है, धार्मिक भाव उनके नैतिक चरित्र को अपेक्षाकृत ऊँचा बनाने में सहायक हैं। धार्मिक भावना के कारण भारतवर्ष का एक औसत दर्जे का आदमी झूठ बोलने, चोरी या बेईमानी करने, अपने सहयोगियों से लड़ने-झगड़ने, मालिकों को हानि पहुँचाने, तथा नशा करने आदि से परहेज करता है। वह शौच, स्नान, सफाई आदि की उपयोगिता को भली भाँति न समझते हुए भी उसका ध्यान रखता है। अस्तु, यद्यपि यह आवश्यक है कि यहाँ ज्ञान का प्रचार और धार्मिक सुधार हो, यह कहा जा

सकता है कि यहाँ की प्रचलित धार्मिक भावना आर्थिक दृष्टि से उतनी हानिकर नहीं है, जितनी प्रायः समझी जाती है।

**भारतीय श्रमजीवी**—जैसा कि पहले कहा गया है, श्रमजीवियों में वे सभी व्यक्ति समझ लिए जाते हैं, जो किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक श्रम करते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के भारतीय श्रमजीवियों के सम्बन्ध में विशेष बातें आगे कही जायँगी। यहाँ कुछ साधारण बातें, जो थोड़ी-बहुत सभी के लिए लागू होती हैं, बताई जाती हैं। अधिकतर आदमियों को अपने घर और निवास-स्थान का बहुत मोह होता है। बिलकुल ही लाचारी हुए बिना, वे दूसरी जगह जाकर काम-धन्धा करना पसन्द नहीं करते; और जब बाहर जाते हैं, तो बहुधा कुछ रुपया जमा हो जाते ही घर लौट आते हैं। अधिकतर जनता ग्रामों में रहनेवाली है। गाँवों के श्रमजीवी प्रायः नगरों में उन दिनों में अधिक ठहरते हैं, जबकि उन्हें गाँवों में खेती की फसल आदि का काम नहीं होता।

भारतीय श्रमी अधिकतर संतोष-वृत्ति वाले होते हैं; किसी-तरह निर्वाह-योग्य आय हो जाने पर, वे और अधिक आय के लिए प्रयत्न नहीं करते। उनका रहन-सहन का दर्जा बहुत निम्न श्रेणी का, तथा जीवन सरल और सादा होता है। वे अपने कष्टों को बहुत सीमा तक सहन कर लेते हैं, वे उनके बारे में शिकायत या आन्दोलन बहुत कम करते हैं। इन बातों में क्रमशः परिवर्तन हो रहा है।

सर्वसाधारण जनता का स्वास्थ्य अच्छा नहीं है, खाने-पीने, विश्राम औषधि आदि की व्यवस्था न होने से वे बहुधा रोगी रहते हैं और अल्पायु होते हैं। इससे उनकी कार्यक्षमता का यथेष्ठ उपयोग नहीं हो पाता। साधारण तौर से औद्योगिक शिक्षा की भी कमी है। इससे श्रमियों की कुशलता पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है।

**कार्यकर्ता और आश्रित; पुरुष और स्त्रियाँ**—आगे दिया हुआ ब्योरा सन् १९४१ की मनुष्य-गणना में नहीं दिया गया है, इसलिए यहाँ १९३१ ई० की मनुष्य-गणना के अनुसार दिया जाता है। इस

हिसाब में भारत और बर्मा के अंक मिले हुए ही हैं। इसके अनुसार यहाँ प्रति सैकड़ा ४४ आदमी वास्तविक कार्य करनेवाले और ५६ उनके आश्रित हैं। ४४ उत्पादकों में मोटे हिसाब से ३६ आदमी मुख्य काम करते हैं, और ८ उनके सहायक हैं। इन ३६ कार्यकर्ताओं में २८ पुरुष और ८ स्त्रियाँ हैं। इस प्रकार कुल जनसंख्या में जो प्रति सैकड़ा ४४ उत्पादक हैं, उनमें ३० पुरुष और १४ स्त्रियाँ हैं। इनमें औसतन चार पुरुष और दो स्त्रियाँ अपने मुख्य पेशे के अतिरिक्त कुछ और भी काम करती हैं। मोटे हिसाब से यहाँ कुल जनता में फी सैकड़ा ५१ पुरुष और ४६ स्त्रियाँ मानी जा सकती हैं। इस प्रकार मालूम होता है कि प्रति सैकड़ा २१ पुरुष और ३५ स्त्रियाँ आश्रित हैं; ये स्वयं कुछ काम नहीं करती, दूसरों की कमाई खाती हैं। इन, आश्रितों में बच्चे तथा बूढ़े भी सम्मिलित हैं।

ऊपर के हिसाब से आश्रितों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक है। परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि स्त्रियों पर घर गृहस्थी चलाने का काफी काम रहता है। घर की सफाई खाने का सामान ठीक करना, भोजन बनाना, चौका बर्तन, बच्चों का पालन-पोषण और घरेलू देखभाल ये काम कुछ कम नहीं है। भारतीय दृष्टि से तो स्त्रियों का मुख्य कर्मक्षेत्र घर ही होता है। पर आजकल आर्थिक परिस्थितियों से मजबूर होकर, तथा कुछ दशाओं में स्वाभिमान अथवा विशेष योग्यता या रुचि के कारण विविध विभागों में धनोत्पादन करने वाली स्त्रियों की संख्या क्रमशः बढ़ रही हैं। इन्हें घर से दूर रहकर लगातार काम करते रहने में कुछ स्वाभाविक बाधाएँ हैं। अस्तु, इस बात की आवश्यकता है कि इनके धनोत्पत्ति का कार्य करने से इनके माता और गृहस्थी सम्बन्धी कर्तव्यों को आघात न पहुँचे।

**भिन्न-भिन्न पेशों का विचार**—भिन्न-भिन्न पेशों के अनुसार जनता (कार्य करनेवाले और उनके आश्रित व्यक्तियों) के अङ्क प्रति दस हजार इस प्रकार हैं :—खेती और पशु-पालन ६,५६०; खनिज

पदार्थों की निकासी २४; उद्योग-धंधे १,०३८; माल ढुलाई १६५; व्यापार ५५३; सेना ५६; सरकारी नौकरी ६६; कलर्क, अध्यापक वकील, डाक्टर आदि, १६१; विविध ( घरेलू नौकर, अनिश्चित आय वाले, और अनुत्पादक आदि ) १३७४।

इससे स्पष्ट है कि भारतवर्ष की दो-तिहाई जनता का एकमात्र आधार कृषि है। जो प्रायः वर्षा के आश्रित रहती है; वर्षा कम होने या बहुत अधिक होने से फसल मारी जाती है। व्यापार और यातायात आदि भी बहुत कुछ कृषि पर ही निर्भर रहते हैं। इस प्रकार कृषि पर संकट आने से अधिकांश जनता को कष्ट भोगना पड़ता है। आवश्यकता है कि उद्योग-धन्धों में अधिक आदमी लगें, जिससे खेती की अनिश्चित अवस्था का दुष्परिणाम विशेष हानिकर न हो।

सेना और सरकारी नौकरियाँ १'२ फीसदी जनता की आजीविका का साधन है। अब स्वराज्य की स्थापना से राष्ट्र-निर्माणकारी कार्य क्रमशः बढ़ रहे हैं। इससे उपर्युक्त अंक में कुछ वृद्धि की सम्भावना है, पर वृद्धि आखिर कितनी होगी। बहुत हुआ तो दो फीसदी तक पहुँच जायगी आजीविका के इस परिमित साधन के लिए लोगों में तनातनी और सम्प्रदायिक संघर्ष होना अनिष्टकारी है। लिखा-पढ़ी का काम करनेवालों की संख्या में, अब शिक्षा-प्रचार बढ़ने के साथ, वृद्धि होना स्वाभाविक है, फिर भी कुल जनता में इनका अनुपात साधारण ही रहेगा। अनिश्चित आय वालों में बेकारों की अधिकता है जो चिन्तनीय है। आगे हम भिन्न-भिन्न पेशे वालों के सम्बन्ध में कुछ विशेष विचार करते हैं।

कृषक—भारतीय जनता में दो-तिहाई कृषक या कृषि-श्रमजीवी हैं। प्राचीन काल में ऐसा न था; उस समय यह देश अपने उद्योग-धन्धों की उन्नति के कारण विदेशी व्यापारियों को आकर्षित किया करता था। जब योरप में औद्योगिक क्रान्ति हुई और साथ ही भारतवर्ष में धीरे-धीरे अंगरेजों का अधिकार हुआ तो ईस्ट इंडिया कम्पनी

के समय में यहाँ की उत्तमोत्तम दस्तकारियाँ नष्ट करके इसे जबरदस्ती ब्रिटिश कारखानों के लिए कच्चा माल देनेवाला बनाया गया। अनेक भारतीय कारीगरों को जब दूसरा काम न रहा तो वे खेती की ओर झुक गए, इस तरह उद्योग धंधों में काम करनेवालों की संख्या घटती गई।

भारतीय कृषक को लोग बहुधा गँवार, अयोग्य और कूढ़-मग्ज़ समझते हैं। यद्यपि वह नवीन कार्य-प्रणाली से अपरिचित और पुराने विचारवाला होता है, तथापि उसे अपने वंशानुगत या पुश्तैनी कार्य का स्वाभाविक ज्ञान होता है। वह बिना सिखाए ही यह जानता है कि कौनसी फ़सल कब और कैसी ज़मीन में बोनी चाहिए, और किस भूमि में एक फ़सल के बाद दूसरी कौनसी फसल बोना लाभकारी होगा। उसके साधन प्रायः अपर्याप्त होते हैं; आर्थिक बाधाएँ उसके सुधार-कार्यों में पग पग पर बाधक होती हैं। वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग करने, बड़े-बड़े खेत रखने, अच्छी खाद देने, गहरी जोताई, और काफी आबपाशी करने के लिए बड़ी पूँजी चाहिए। पूँजी न होने के कारण कृषक इन सुधारों की उपयोगिता जानता हुआ भी, उन्हें अमल में नहीं ला सकता।

कृषकों की दशा बहुत-कुछ उनकी परिस्थिति पर निर्भर रहती है; जिन स्थानों में वर्षा निश्चित समय पर होती है, अथवा आबपाशी के काफी साधन हैं वहाँ किसान उत्साह, और परिश्रम से काम करता है। इसके विपरीत, जहाँ परिस्थिति खराब होती है, वह आलसी, भाग्यवादी और निराशावादी तथा कंगाल हो जाता है। इस कथन में कुछ सचाई अवश्य है कि वातावरण या परिस्थिति के सुधार होने पर कृषक स्वयं सुधर जायगा। परन्तु वास्तव में कृषक और उसके वातावरण दोनों के ही सुधार की आवश्यकता है। यहाँ हम उनकी शिक्षा और स्वास्थ्य के विषय में ही कुछ लिखते हैं।

**कृषकों की शिक्षा और स्वास्थ्य**—भारतवर्ष में 'किसान' शब्द का अर्थ अनपढ़ माना जाता है। जबकि यहाँ कुल जनता में पढ़े-लिखे

आदमी १४ फी सदी ही हों तो कृषकों में उनकी संख्या और भी कम होना स्वाभाविक है। इस ओर क्रमशः ध्यान दिया जाने लगा है। बुनियादी शिक्षा के बारे में आगे, औद्योगिक शिक्षा के प्रसङ्ग में, लिखा जायगा।

कृषक-बालकों के लिए वही शिक्षा-पद्धति उपयोगी हो सकती है, जिससे शिक्षा पाकर वे कृषि-कार्य को अच्छी तरह कर सकें; ऐसा न हो कि वे उसे घटिया समझें और दफ़्तरों में कलर्की आदि करने के लिए उत्सुक होने लगें। उनका पाठ्यक्रम ऐसा हो, जो भविष्य में उनके काम आवे। उनकी शिक्षा का समय तथा छुट्टी में भी कृषि की सुविधा का ध्यान रखा जाय। उनके अध्यापक ग्राम-सेवाभिलाषी हों। स्त्रियों की शिक्षा की भी आवश्यकता है, उनके वास्ते स्त्री-अध्यापिकाएँ तैयार करने के लिए विशेष उद्योग होना चाहिए। प्रौढ़-शिक्षा भी बहुत ज़रूरी है और उसके लिए रात्रि-पाठशालाओं और वाचनालयों की स्थापना करने, तथा मेजिक लालटेन के दृश्य दिखाने की काफ़ी व्यवस्था होनी चाहिए। ऐसी कृषि-प्रदर्शनियाँ भी बहुत उपयोगी होती हैं, जिनमें खेती की विकसित पद्धति अच्छे औज़ार, बीज और अच्छी नस्ल के पशु दिखाए जाते हैं तथा कृषि-सम्बन्धी बातें अमली या व्यावहारिक ढङ्ग से समझाई जाती हैं।

कृषक जनता अधिकतर गाँवों में रहती है, और यद्यपि वहाँ नगरों की तरह घनी आबादी अथवा मिलों या कारखानों की चिमनियों से निकलनेवाले धुएँ की भरमार नहीं होती, फिर भी लोगों का स्वास्थ्य कैसा रहता है, यह पाठकों को विदित ही होगा। मलेरिया ज्वर, प्लेग, हैजा, चेचक, खाँसी आदि की शिकायतें व्यापक रूप से रहती हैं। वहाँ चिकित्सा की व्यवस्था नहीं सी है। इससे मृत्यु-संख्या तो बढ़ती ही है; अनेक आदमी जो इन बीमारियों के शिकार होते हुए जीवित रह जाते हैं, बहुधा स्थायी रूप से निर्बल रहते हैं, उनकी कार्यक्षमता कम होती है। बीमारियों का मुख्य कारण लोगों की निर्धनता तथा अज्ञान रहा है।

पिछले वर्षों में खेती की पैदावार के भाव चढ़ जाने से अब किसानों की दशा प्रायः सुधरी हुई है। बहुत से किसानों के हाथ में पैसा हो गया है। उन्हें चाहिए कि इसे अपना ऋण उतारने तथा धनोत्पादक कार्यों में लगावें। कुछ समय बाद पैदावार की उंची दरें न रहेंगी। जो किसान अपने द्रव्य का इस समय सावधानी से उपयोग न करेंगे, उनके पुनः पहले जैसी दशा में लौट आने की आशंका है। हाँ, देश स्वाधीन हो जाने से अब सरकार किसानों की शिक्षा और स्वास्थ्य की ओर अधिकाधिक ध्यान दे रही है।

**कृषि-श्रमजीवी**—कृषि-श्रमजीवियों या देहाती मजदूरों की हालत कृषकों से भी गई-बीती है। उनका कोई संगठन भी नहीं है, जिससे वे अपनी स्थिति दूसरों के सामने रखें। फल-स्वरूप उनकी दशा का वास्तविक ज्ञान, बहुत कम लोगों को है। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि वे बहुत गरीब और सङ्कट-ग्रस्त हैं। हिसाब से मालूम हुआ है कि भारतवर्ष में १०० काश्तकार औसतन २५ श्रमजीवी रखते हैं। यह संख्या भिन्न-भिन्न प्रान्तों में पृथक् पृथक् है। कृषि-श्रमजीवी संतोषी, परिश्रमी और सहनशील होता है। किसी-किसी के पास बहुधा कुछ भूमि अपनी भी होती है, परन्तु उससे उसका निर्वाह नहीं हो सकता। अतः वह जमींदार की जमीन के साथ ही इसे जोतता है। किसी-किसी के पास बैलगाड़ी होती है, वह उसमें किराए पर सवारियाँ ले जाता है, या माल ढोता है। कभी-कभी वह पास के कल-कारखाने में मज़दूरी कर लेता है। औरतें खेतों में निराई कटाई आदि कार्य करती हैं, ईंधन बेचती हैं, गोबर के उपले या कण्डे थापती हैं ( जो नज़दीक के कस्बों में बिकते हैं ), कपास लोढ़ती हैं, सूत कातती हैं और दूसरे काम करती हैं। इस प्रकार कृषि-श्रमजीवी का ध्यान कई ओर रहता है, एक ही धंधे से उसका गुज़ारा नहीं हो पाता।

वर्त्तमान कृषि-श्रमजीवियों में बहुत से पहले किसान थे। इन्होंने दुर्भिक्ष के दिनों में अपनी उदर-पूर्ति के लिए, या अपनी संतान की

विवाह-शादी, या किसी मृतक-भोज आदि सामाजिक प्रथा या पंचायती दण्ड के लिए, या लगान चुकाने आदि के लिए ज़मीन गिरवी रखकर ऋण लिया और पीछे उसे न चुका सकने के कारण वे ज़मीन से वंचित हो गए। कृषि-श्रमजीवियों में कुछ आदमी हरिजन जातियों के भी हैं, जो सामाजिक कठोरता के कारण ज़मीन आदि के अधिकारी नहीं होने पाते। इन श्रमजीवियों में पढ़े-लिखे आदमी बहुत ही कम हैं। स्त्रियाँ तथा बड़ी उम्र के बालक भी आजीविका की फ़िक्र में रहते हैं। जिस ज़मींदार या बड़े किसान का इन्हें कर्ज़ा चुकाना होता है, उसके यहाँ जुताई-बुवाई तथा फसल काटनेके लिए ये बाध्य होते हैं। इससे ये प्रायः जन्म भर गुलाम से बने रहते हैं। बहुत मामूली मज़दूरी पर इन्हें उसके यहाँ करना होता है। यह मज़दूरी उन्हें साल के बारहों महीने नहीं मिलती रहती। बहुधा फसल के दिनों में भी उनकी इतनी आय नहीं होती कि परिवार का कुछ अच्छी तरह गुज़ारा हो सके। फिर साल के पाँच छः महीनों में, जबकि खेतों में काम नहीं होता, इनकी दुर्दशा का क्या ठिकाना! ये घटिया अन्न और शाक-भाजी आदि खाकर रहते हैं, और कभी-कभी वह भी भरपेट नहीं मिलता। कपड़े के अभाव में बेचारे आधे नंगे रहते हैं और सर्दी-गर्मी सहते हैं। इनकी बस्ती तथा रहने की झोपड़ियाँ गन्दी और बदबूदार होती हैं। इन बातों के फल-स्वरूप ये रोगी और अल्पायु होते हैं। इनके जीवन में आशा और उत्साह का, तथा इनके कार्य में कुशलता और स्फूर्ति का अभाव होना स्वाभाविक ही है।

दूसरे योरपीय महायुद्ध के समय कितने ही खेत-मज़दूर सेना में भरती हुए तथा युद्ध के सामान बनाने के धंधे में लग गए। इससे गाँवों में रहनेवाले खेत-मज़दूरों की अपेक्षाकृत कमी हुई, और उनकी मज़दूरी की दर बढ़ गई, पर इससे उनकी स्थिति में विशेष सुधार नहीं हुआ, क्योंकि उन्हें भोजन आदि मोल लेना होता था, और इसके भाव बहुत चढ़े हुए थे। युद्ध समाप्त होने के बाद खेत-मज़दूरों की

स्थिति पहले से अच्छी न होकर कुछ खराब ही है। भारत-सरकार ने इस वर्ष (१९४८) उनकी दशा पर विचार करने के लिए एक जाँच-समिति नियुक्त की है, जो कुछ चुने हुए क्षेत्रों में अपना जाँच का कार्य करेगी।

**कारखानों और खानों के मजदूर**—भारतवर्ष अभी कृषि-प्रधान है। उद्योग-धन्धों में काम करनेवाले तथा उनके आश्रितों की संख्या कुल जनता का केवल दसवाँ भाग ही है। कारखानों में काम करनेवाले बहुत से मज़दूर भी गाँवों से आते हैं; जब उन्हें खेती का कुछ काम नहीं रहता, वे आजीविका के लिए कल-कारखानों की शरण लेते हैं। पिछले वर्षों में यहाँ शराबखोरी बढ़ गई है (जो खेदजनक है), तथापि पाश्चात्य देशों के मुकाबिले में यहाँ बहुत कम नशा होता है। यहाँ के श्रमजीवी धार्मिक आचार-विचार के कारण स्वभाव से ही सन्तोषी होते हैं। उनका रहन-सहन साधारण, और आवश्यकताएँ कम रहती हैं। यद्यपि, श्रमजीवियों की कुशलता उत्तरोत्तर बढ़ रही है, अभी तक अधिकांश की मेहनत घटिया दर्जे की, या कम उत्पादक होती है, इसलिए वह बहुधा सस्ती दिखलाई पड़ने पर भी अन्य उन्नत देशों की अपेक्षा वास्तव में मँहगी पड़ती है। इसके कई कारण हैं। उन्हें काम का यथोचित ज्ञान नहीं होता, वे यथेष्ट पुष्टिकर भोजन भी नहीं पाते। उनके रहन-सहन, निवास-स्थान आदि के लिए समुचित व्यवस्था होने की बड़ी आवश्यकता है। बड़े-बड़े कारखानों या मिलों में काम करने-वालों की शिक्षा के लिए अलग प्रबन्ध होना चाहिए। खानों के मज़-दूरों के लिए उनके आस-पास ही स्कूल खोलना उचित है, वहाँ भू-तत्वविद्या के साथ खान खोदने की व्यावहारिक शिक्षा दी जाय। धातुओं को गलाने और कल-पुर्जा ढालने के लिए लोहे के कारखानों से लगे हुए स्कूल उपयोगी हैं।

**कारीगर या स्वतन्त्र श्रमी**—साधारण तौर से हमारे कारीगर अपने पुश्तैनी कार्य को जल्दी सीख लेते हैं; हाँ, उन्हें सुअवसर मिलना

चाहिए। माँ-बाप की निर्धनता के कारण अनेक व्यक्तियों को बहुत थोड़ी उम्र में ही, आजीविका-प्राप्ति के काम में लग जाना पड़ता है, इससे उनकी योग्यता का विकास नहीं होने पाता। अधिकांश आदमी पुराने धन्धों को, पुरानी ही शैली से, करने के आदी होते हैं, नए काम उन्हें नहीं रुचते; और, यदि रुचिकर भी हों तो आजीविका के यथेष्ट साधनों के अभाव में, वे उसके लिए साहस नहीं कर सकते; कारण कि ऐसा करने से उन्हें भूखा मरने की आशंका रहती है। देश में सर्व-साधारण की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण सस्ती चीजों की माँग बढ़ रही है, कारीगरी की कदर करनेवाले कम हैं। कुछ राजा-महाराजा, रईस, या बड़ी-बड़ी वेतन पानेवाले आदमी अवश्य कारीगरी की चीजों के शौकीन होते हैं, पर उससे कितने कारीगरों का भला हो सकता है! उनकी दशा के सुधारने में, औद्योगिक शिक्षा के प्रचार से कुछ सफलता अवश्य मिल सकती है।

**औद्योगिक शिक्षा**—खेद है कि औद्योगिक शिक्षा के सम्बन्ध में यहाँ समाज और राज्य पिछली दशाब्दियों में यथोचित कर्त्तव्य-पालन नहीं करते रहे हैं, और कला आदि की शिक्षा-संस्थाएँ इनी-गिनी रही हैं। इस शिक्षा की कमी के कुछ मुख्य कारण ये हैं—(क) यहाँ औद्योगिक कार्य वैश्यों या शूद्रों के लिए परिमित हैं, बहुधा उच्च जातिवालों को हाथ का काम करने में शर्म मालूम होती है (ख) एक पेशे का काम वंश-परम्परा से चलता है; दूसरे आदमियों को सिखाया नहीं जाता। (ग) उत्पत्ति की रीतियों में भेद आ जाने से अब हाथ से कार्य करने की रीति उठती जा रही है। (घ) नवयुवकों को विदेशों में जाकर औद्योगिक शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा नहीं है। इधर कुछ समय से ये दोष दूर करने का प्रयत्न हो रहा है।

सन् १९३७ से यहाँ प्रान्तों में प्रजातंत्रात्मक सरकारें स्थापित हुईं; उन्होंने, विशेषतया काँग्रेस-सरकारों ने, इस ओर अच्छा ध्यान दिया। म० गाँधी की प्रेरणा से बुनियादी या आधार-भूत ('बेसिक') शिक्षा

की योजना बनाई गई। इसकी मुख्य बातें ये हैं—सब बालकों के लिए उनकी मातृभाषा में सात साल की मुफ़्त और अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध हो; शिक्षा का केन्द्र किसी प्रकार की उत्पादक दस्तकारी होना चाहिए; शिक्षा के अन्य विषयों ( भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास, विज्ञान और आलेख्य आदि) का सम्बन्ध यथा-सम्भव उपर्युक्त दस्तकारी से होना चाहिए; इस दस्तकारी का चुनाव बालकों के वातावरण, और स्थानीय परिस्थिति को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। प्रयोग के के लिए कताई-बुनाई बुनियादी दस्तकारी मानी गई, स्थान-स्थान पर बुनियादी-शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित की गईं और उनका कार्य बड़े उत्साह से किया जाने लगा था। परन्तु सन् १६३६ में कांग्रेस-मन्त्रिमंडलों के इस्तीफा देने के बाद इस ओर उपेक्षा की जाने लगी; तब से सन् १६४५ तक यद्यपि समय-समय पर शिक्षा-प्रचार सम्बन्धी सरकारी योजनाएँ बनी हैं, पर वे कार्य-रूप में नहीं आईं। भारत-सरकार और प्रान्तीय सरकारों का ध्यान अधिकतर युद्ध सम्बन्धी उद्योगों की ओर रहा। युद्ध समाप्त होजाने पर भी कुछ समय इसका प्रभाव बना रहा।

सन् १६४७ से भारतवर्ष के स्वतन्त्र हो जाने पर सरकार इस ओर विशेष ध्यान देने लगी है। केन्द्रीय सरकार ने पांच वर्षों में चार बड़ी-बड़ी औद्योगिक शिक्षा संस्थाएँ संस्थापित करने तथा विविध औद्योगिक शिक्षा-संस्थाओं को सुधार और विस्तार करने के लिए सहायता देने का निश्चय किया है। प्रान्तीय सरकारें भी इस ओर अधिकाधिक अग्रसर होंगी। आवश्यकता है कि युवकों को औद्योगिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए यथेष्ट प्रोत्साहन मिले। इस दृष्टि से शिक्षा पद्धति में परिवर्तन किए जा रहे हैं।

**मानसिक कार्य करनेवाले**—भारतवर्ष में शिक्षाप्रचार बहुत कम है। और उच्च-शिक्षा तो साधारण हैसियत वालों के लिए दुर्लभ ही है। यद्यपि बेकारी के कारण यहाँ शिक्षितों की संख्या कभी-कभी कुछ अधिक

समझी जाती है, देश की कुल जनसंख्या का विचार करते हुए यहाँ शिक्षित बहुत कम हैं। इसका मुख्य कारण शिक्षा का मँहगापन है। अब सरकार देश में शिक्षा, प्रचार के लिए क्रियात्मक योजनाएँ हाथ में ले रही है, प्रान्तों में प्रौढ़ शिक्षा का भी खूब प्रयत्न हो रहा है। हाँ, उच्च शिक्षा के प्रचार के लिए अभी कोई खास नया काम नहीं हो रहा है। तथापि ज्यों ज्यों जनता की आर्थिक दशा में सुधार होगा उच्च-शिक्षा भी बढ़ेगी। अब देश में विविध राष्ट्र-निर्माणकारी कार्यों की वृद्धि होगी, और उनमें लिखे-पढ़े आदमियों की आवश्यकता होगी। भारतवर्ष के पराधीनता-काल में हमारे अनेक उच्च शिक्षा पाए हुए व्यक्तियों को अपनी योग्यता दिखाने का पूरा अवसर नहीं मिला; उच्च पदों के लिए प्रायः अंगरेजों या उनके विशेष कृपापात्रों की नियुक्ति होती रही। अब वह बात नहीं रही। सरकारी या गैर-सरकारी, मुल्की या फौजी प्रत्येक भारतीय पद प्राप्त करने का मार्ग सुयोग्य भारतीयों के लिए खुला है। हाँ, कुल मिलाकर देश में इनकी संख्या परिमित ही रहा करती है।

**घरेलू नौकर**—पहले कहा जा चुका है कि अधिकाँश भारतवासियों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। इसके फल-स्वरूप देश में बहुत कम आदमी ऐसे हैं जो नौकर रखने में समर्थ हों। फिर, जो आदमी नौकर रखते भी हैं, उनमें से अधिकांश, चौके-बर्तन, झाड़ू-बुहारी या रसोई आदि के काम के लिए नौकर रखते हैं, जिनमें विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं होती; इन कामों को अकुशल श्रमी भी भली भांति कर सकता है। ऐसे श्रमियों की संख्या देश में पर्याप्त है। अस्तु, इनमें से अधिकांश की दशा अच्छी नहीं है, कुछ तो अपने निर्वाह के लिये दो-दो तीन-तीन घरों में काम करते हैं। इनका कोई संगठन नहीं होता। बहुधा एक मालिक के यहाँ से बरखास्त किए जाने पर इन्हें बहुत समय तक दूसरी जगह नौकरी की खोज करनी पड़ती है।

**क्या भारतवर्ष में श्रमजीवियों की कमी है?**—अच्छा, हमने

पिछले अध्याय में कहा था कि भारतवर्ष में जनसंख्या की वृद्धि को यथा-सम्भव रोकने की आवश्यकता है। परन्तु बहुधा पूँजीपतियों आदि को श्रमजीवियों की कमी की शिकायत होती है। तो क्या इस बात से ही कि यहाँ अब मजदूर पहली तनख्वाहों पर नहीं मिलते, यह समझा जाय कि उनकी कमी है? इस समय विविध ब्रिटिश उपनिवेशों में बीस लाख से अधिक भारतीय श्रमजीवी काम कर रहे हैं, और प्रतिवर्ष हज़ारों कुली, बहुधा झूठे प्रलोभनों में फँसकर वहाँ जाते हैं। यदि उन्हें वर्त्तमान मँहगी के अनुसार मज़दूरी मिले, तो वे यहाँ ही न काम करें; घर का मोह छोड़कर विदेशों में क्यों भटकते फिरें! हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि देश में बेकारी की कितनी विकट समस्या उपस्थित है। यद्यपि यहाँ सरकारी तौर से संग्रह किए हुए प्रामाणिक अंक तैयार नहीं हैं, समय-समय पर होनेवाली बेकारों की आत्म-हत्या तथा एक साधारण वेतन वाली नौकरी के लिए सैकड़ों उम्मेदवारों की प्रतियोगिता करना, अनेक उच्च घरानों के व्यक्तियों का, नीचे दर्जे के समझे जानेवाले कार्य को करने के लिए तैयार हो जाना, आदि ऐसी घटनाएँ हैं कि बेकारी का विकराल स्वरूप छिपाए नहीं छिपता।

यद्यपि राष्ट्रीय आन्दोलन और समाज-सुधार के प्रयत्नों में तथा आर्थिक परिस्थितियों के कारण अस्पृश्यता बहुत हट गई है, 'अछूतों' की सामाजिक असुविधाओं को दूर करने के कानून बन रहे हैं, अभी व्यवहार में अस्पृश्यता कुछ अंश में बनी हुई है। इसके दूर होने पर हमें इस वर्ग से और भी अधिक श्रमजीवी मिल सकेंगे। जरायम-पेशा जातियों के आदमियों से वर्तमान अवस्था में बहुत कम काम लिया जा रहा है, इनका उद्धार हो जानेपर ये भी श्रमियों की संख्या के बढ़ने में काफी सहायक हो सकते हैं। कई स्थानों पर किए गए प्रयोगों के अनुभव से सिद्ध हो गया है कि चोर और डाकू यथेष्ट परिस्थिति मिलने पर भले आदमी और उपयोगी नागरिक बन सकते हैं।

पुनः हमारे फकीरों (बनावटी साधुओं) से भी देश के धनोत्पादन-

कार्य में कुछ योग नहीं मिल रहा है। बहुत से आदमी केवल मुफ्त का खाने, और मेहनत से बचने के लिए गेरुए कपड़े पहन लेते हैं, अथवा यों ही फकीरी धारण कर लेते हैं। ये लोग साधारण गृहस्थों के लिए भार-रूप, और देश की आर्थिक उन्नति में बाधक हैं। हर्ष की बात है कि अब सभा समाजों में इस प्रश्न पर विचार हो रहा है कि इनका कैसे उत्थान हो और देश की आर्थिक उन्नति में इनसे कैसे सहायता मिले। आशा है, धीरे-धीरे इस दिशा में भी सुधार होगा।

अस्तु, वर्त्तमान अवस्था में अछूत, जरायम-पेशा, और फकीर काफ़ी संख्या में हैं, विदेशों में भी लाखों भारतीय श्रमी काम कर रहे हैं। फिर भी यहाँ इतनी बेकारी है। इससे यह भली भाँति सिद्ध है कि यहाँ श्रमियों की संख्या कम नहीं है; कल कारखाने वाले जितनी कम मज़दूरी पर उनसे काम लेना चाहते हैं, उतनी पर काफ़ी श्रमी न मिलें यह दूसरी बात है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि श्रमी जैसे कुशल चाहिएँ, वैसे कम हैं। इसका उपाय यह है कि उनकी योग्यता बढ़ाने के लिए यथोचित शिक्षा आदि की व्यवस्था की जाय।

**कार्य-कुशलता की वृद्धि**—भिन्न-भिन्न प्रकार के श्रमजीवियों सम्बन्धी विवेचन से यह स्पष्ट है कि उनकी कुशलता बहुत कम है, और उसके बढ़ाने की बहुत आवश्यकता है। श्रमजीवियों का कार्य-कुशलता जल-वायु, जाति, भोजन, वस्त्र, रहन-सहन, स्वास्थ्य, शिक्षा, कार्य करने की स्वतन्त्रता, उन्नति और लाभ की आशा, कार्य-क्रम की विभिन्नता जिससे श्रम बहुत नीरस प्रतीत न हो, आदि बातों पर निर्भर होती है। यहाँ कुशलता-वृद्धि में एक मुख्य बाधा लोगों की गरीबी भी है। उद्योग करने पर, उनमें विविध प्रकार की शिक्षा का प्रचार करने से, उसमें बहुत-कुछ सुधार हो सकता है, और अब भारतवर्ष के स्वाधीन हो जाने पर हो रहा है।

——❀——

# छठा अध्याय

# पूँजी

**पूँजी और उसका महत्त्व**—भूमि के अलावा जो धन और अधिक धन पैदा करने में लगाया जाय, वह मूलधन या पूँजी कहलाता है। सब मूलधन तो धन होता है, परन्तु सब धन मूलधन नहीं कहा जा सकता। यदि एक मनुष्य के पास कुछ अन्न है, और वह बिना श्रम किए उस अन्न को खाता रहे, तो वह अन्न उसका धन तो है, पर मूलधन नहीं कहा जायगा। हाँ, यदि वह इसका खर्च करते समय धन-उत्पादन का कार्य कर रहा है, तो वह अन्न मूलधन गिना जायगा। इसी प्रकार, यदि हम अपना धन किसी दूसरे आदमी को ब्याज पर देदें, तो उस धन में कुछ कमी न होकर हमें उससे कुछ आमदनी होती रहेगी; इस दशा में भी हमारा धन मूलधन ही कहलाएगा, यद्यपि ब्याज पर देना उसका बहुत अच्छा उपयोग नहीं है।

साधारणतया आदमी पूँजी का अर्थ रुपया पैसा समझते हैं, परन्तु आजकल पूँजी में नक़द रुपए का भाग बहुत कम होता है। उसमें अधिकतर कच्चा पदार्थ, हल, बैल, बीज, श्रमियों के मकान, कार्यालय, कारखाने, औजार, मशीन आदि होती हैं।

पहले धनोत्पादन छोटी मात्रा में होता था; श्रमी अकेला या अपने परिवार वालों की सहायता से काम करता था। उसमें पूँजी (औजारों आदि) की साधारण आवश्यकता होती थी। अब धनोत्पत्ति बड़ी मात्रा में होती है। इसमें कीमती मशीनों, बहुत से कच्चे माल, अनेक श्रमियों को वेतन में दिए जाने के लिए बहुत से द्रव्य की ज़रूरत होती है। इस प्रकार बड़ी पूँजी के बिना यह काम नहीं हो सकता। अब धनोत्पत्ति में

पूंजी का महत्त्व बहुत अधिक हो गया है।

**चल और अचल पूँजी**—पूंजी सम्बन्धी अन्य बातों का विचार करने से पहले यह जान लेना चाहिए कि उसके दो भेद किए जा सकते हैं—चल और अचल। जो पूँजी बहुत दिनों तक काम नहीं देती, एक ही बार के उपयोग में खर्च हो जाती है, उसे चल पूँजी कहते हैं, जैसे मज़दूरों को दिया जानेवाला वेतन, भट्टी में काम आनेवाला कोयला, खेती का बीज आदि। जो पूँजी बहुत समय तक काम देती रहती है, एक ही बार के उपयोग में व्यय नहीं हो जाती, वह अचल पूँजी कहलाती है। इसमें शिल्पशाला, यन्त्र, औजार, रेल, जहाज, खेती में काम करनेवाले बैल, या घोड़े आदि की गिनती होती है। कृषि हो या कोई उद्योग-धंधा, सब में कुछ आवश्यकता चल पूँजी की होती है, तो कुछ अचल पूँजी की।

**भारतवर्ष में पूँजी की दशा**—यद्यपि भारतवर्ष में अब टाटा, डालमिया सिंहानिया और बिड़ला आदि कुछ बड़े-बड़े पूँजीपति हैं, और ये धीरे-धीरे बढ़ते जा रहे हैं, तथापि देश की विशालता को देखते हुए इनकी संख्या कुछ विशेष नहीं। यहाँ जनसाधारण के पास पूँजी बहुत कम है। अधिकांश आदमी 'जो आया, सो खाया' का हिसाब रखते हैं। जैसे-तैसे निर्वाह करना भी उनके लिए बड़ा कठिन है। हाँ, कुछ आदमी ऐसे भी हैं, जो यदि चाहें, तो अपनी आय में से धीरे-धीरे थोड़ी-थोड़ी बचत करके उसे अधिक धनोत्पादन के कार्य में लगा सकते हैं। परन्तु उनमें से बहुत से कुछ बचाते ही नहीं। कुछ आदमी हानि की आशंका और साहस की कमी के कारण अपनी थोड़ी बचत से कुछ काम नहीं लेते; उसे घर पर ही नक़दी, या आभूषण के रूप में रखे रहते हैं। ये लोग अपनी पूँजी से अलग-अलग काम करें तो इन्हें विशेष लाभ भी न हो। परन्तु यदि बहुत-से आदमी अपनी थोड़ी-थोड़ी पूँजी इकट्ठा करके उससे कोई बड़ा कार्य करें, तो उस पूँजी की धनोत्पादक शक्ति बढ़ सकती है। हमारे कितने ही राजा-

महाराजों, जमींदारों तथा महन्तों आदि के पास खासा धन है। यदि वे इसे व्यावसायिक कार्यों में लगावें तो देश का बड़ा हित हो; परन्तु इनमें से बहुतों को अपनी शौकीनी तथा विलास-प्रियता से ही छुटकारा नहीं। इन सब कारणों से यहाँ पूँजी बहुत कम है।

इधर कुछ वर्षों से व्यवसायों में भारतीय पूँजी की मात्रा क्रमशः बढ़ती जा रही है। मिश्रित पूँजीवाली जो कम्पनियाँ स्थापित हो रही हैं; उनकी पूँजी सब यहीं से इकट्ठा होती है। अब लोग बैंकों में रुपया जमा करने में अधिक उत्साहित पाए जाते हैं। कई काम अब हिन्दुस्तानियों की ही पूँजी से चल रहे हैं।

भारतवर्ष में कुछ धन ऐसा भी है, जो काम में नहीं आता; आदमी उसे ज़मीन में गाड़ कर रखते हैं, अथवा आभूषणों आदि में लगा देते हैं, उद्योग-धंधों आदि उत्पादक कार्यों में नहीं लगाते। रुपए को ज़मीन में गाड़कर रखने से वह अधिक उत्पत्ति नहीं करता, उतना-का-उतना ही बना रहता है और कुछ दशाओं में उत्तराधिकारियों का उसका पता ही नहीं रहता। ज़ेवरों में लगाने से तो धन क्रमशः कम होता जाता है। किसी-किसी देशी राज्य में पूर्वजों के समय का संचित ऐसा द्रव्य रहा है, जिसका स्वयं शासक को ठीक-ठीक पता नहीं। राज्य पर ऋण हो गया, उसका सूद देना पड़ा परन्तु संचित द्रव्य का उपयोग नहीं किया जा सका। इसी प्रकार कुछ मन्दिरों में आरती आदि की, और मठों में धर्मादे की, कुछ सम्पत्ति ऐसी रहती है, जो किसी काम में नहीं आती और क्रमशः बढ़ती रहती है। ऐसी सम्पत्ति ने प्राचीन काल में कभी-कभी विदेशी आक्रमणकारियों को आकर्षित किया है, तथा आज-कल भी उसके कारण कभी-कभी मंदिरों या मठों से चोरी होने के उदाहरण सामने आते हैं। अस्तु, संचित धन को यथा-सम्भव किसी उपयोगी अर्थात् उत्पादक काम में लगाते रहना चाहिए।

**किसानों की पूंजी**—हमारे किसानों की नक़द पूँजी प्रायः नहीं

के बराबर है। साधारण-तौर पर उनकी पूँजी बैल, हल, फाल, खुर्पी, कुदाली, पानी खींचने का चर्सा या रहट आदि होती है। बहुत सों के पास अपनी बैल की जोड़ी नहीं होती। कुछ अपने बैल तथा बैलगाड़ी रखते हैं। वे फुरसत के दिनों में हल के बैलों को गाड़ी में जोत कर बोझ लादने का काम करते हैं। इन वस्तुओं में बीज, जो किसान बोताहै, और खाद, जो खेतों में डालता है, इनको शामिल कर लेने से प्रायः किसानों की पूँजी का ब्योरा पूरा हो जायगा। बहुधा किसानों के पास खाने से कुछ बच ही नहीं सकता। उन्हें डेवढ़े या सवाए के करार पर महाजनों से बीज उधार लेना पड़ता है। ऐसे किसान कम मिलेंगे, जिनकी सब पूँजी अपनी है, और जो कामचलाऊ पूँजी के अलावा भावी आवश्यकता के लिए कुछ जमा भी रख सकें। भारतवर्ष में बीमा करने की प्रथा अपेक्षाकृत कम है; किसानों में तो यह मानो आरम्भ ही नहीं हुई। उनकी जिन्दगी का या चारे, फसल, बैल आदि का बीमा नहीं होता। सुरक्षित पूँजी का प्रायः अभाव रहता है। हाँ, कुछ किसान अच्छी फसल होने की दशा में, अपनी अन्य आवश्यकताओं को मर्यादित रख कर कभी-कभी विशेषतया स्त्रियों के लिए थोड़े-बहुत जेवर बनवा देते हैं। इधर कुछ समय से पदार्थों की कीमत बहुत बढ़ी हुई होने से किसानों को खेती की पैदावार के दाम अच्छे मिलने के कारण, उनकी पूँजी पहले की अपेक्षा अधिक है।

पशु—कृषि-प्रधान भारत के लिए पशुओं का बड़ा महत्व है; कारण, यहाँ खेती मशीनों से न होकर बैल और भैंसे आदि से ही होती है। खेती करने के अलावा पशु बोझ ढोते और सवारी ले जाते हैं। परन्तु अन्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष पशु-धन में बहुत दरिद्र है। इङ्गलैंड, अमरीका आदि कई पश्चिमी देशों में, जो कृषि-प्रधान भी नहीं हैं, प्रति व्यक्ति पशुओं की संख्या अधिक है; साथ ही वहाँ के पशु अधिक बलवान, तथा निरोग हैं, और अधिक दूध देने वाले हैं। सन् १९४१ की गणना के अनुसार भारतवर्ष में १८ करोड़ २ लाख पशु थे;

उनमें से ३ करोड़ पाकिस्तान के हिस्से में आ गए, ये नर मादा प्रायः सब अधेड़ आयु के थे। भारतीय संघ के पशुओं में से ६ करोड़ ३७ लाख अधेड़ मादा, ५ करोड़ ८० लाख अधेड़ नर, और ५ करोड़ ६० लाख नर मादा दोनों प्रकार के ३ वर्ष से नीचे के बच्चे थे। छः करोड़ पशु दूध दे रहे थे। बैल साढ़े पांच करोड़ थे। यहाँ पशुओं की संख्या इतनी कम है, कि न तो देहातों के आदमियों को यथेष्ट दूध मिल सकता है, और न सवारी या माल ढोने आदि का काम पूरा होता है। उत्पादन की बढ़ती हुई माँग, शहर वालों की दूध और घी की मांग किस प्रकार पूरी की जा सकती है। चारा काफी न मिलने और नस्ल अच्छी न होने के कारण पशु निर्बल तथा कम दूध देनेवाले होते हैं। युद्ध काल (१९३९-४५) में यहाँ इतने पशु, कटे, जितने पहले कभी नहीं कटे थे, और न किसी रोग से मरे थे।*

यहाँ के मुख्य पशु ये हैं—गाय भैंस दूध के लिए रखी जाती हैं। बैल खेती करने, गाड़ी चलाने माल ढोने और पानी खींचने के काम आते हैं; इन कामो में भैंसों से भी सहायता ली जाती है। भेड़ बकरियों को ऊन तथा दूध और मांस के लिए पालते हैं। घोड़े सवारी के काम, और गधे तथा खच्चर माल ढोने के काम आते हैं। ऊंट रेतीली भूमि में माल ढोने के लिए विशेष उपयोगी हैं। समुद्रों तथा नदियों के किनारे के स्थानों में मछलियाँ खाने के काम आती है। पशुओं से खाल, हड्डी, चर्बी तथा सींग आदि भी मिलते हैं।

यहाँ पशुओं को प्रायः मैला-कुचैला पानी तथा घटिया दर्जे का और कम चारा दिया जाता है, इससे उनकी आयु घट जाती है। उनके श्रम तथा रोग की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता, उनके रहने की जगह अच्छी नहीं होती। पशुओं की उन्नति के लिए दो सरकारी विभाग हैं। फौजवाले उन पशुओं के पालने तथा नस्ल सुधारने का काम करते हैं, जो फौजी रिसाले में लिए जाते हैं। सिविल-विभाग साधारणतः

* 'पूँजी', अप्रैल १९४८ के आधार पर।

बैल, भैंस, घोड़ा, खच्चर आदि पशुओं की उन्नति और चिकित्सा का प्रबंध करता है। कुछ नगरों में पशु-चिकित्सा की शिक्षा दी जाती है, तथा ऐसी सरकारी प्रयोगशालाएँ हैं, जहाँ पशुओं के रोग और उनकी चिकित्सा का अनुसंधान होता है। ज़िला-बोर्डों की तरफ़ से सब-डिविज़नों में पशु चिकित्सक रखे जाते हैं। कुछ समय से गाय-बैल की नस्ल सुधारने के वास्ते अच्छे साँडों की व्यवस्था की जाने लगी है, परन्तु जबकि पशुओं के चरने के लिए काफी चरागाह नहीं है, तथा किसान इतने निर्धन हैं कि वे पशुओं को पौष्टिक पदार्थ तो क्या अच्छा भोजन भी भर-पेट नहीं दे सकते, केवल साँडो की व्यवस्था से क्या लाभ हो सकता है!

पशु-पालन से चारे का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अब बहुत से घनी बस्तीवाले स्थानों में पशुओं के चरागाह तक जोत डाले जाते हैं, और पशुओं को भर-पेट चारा नहीं मिल सकता। यद्यपि प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ के लिए एक गाय रखना आवश्यक कर्त्तव्य माना जाता है, परन्तु वर्त्तमान अवस्था में यह कार्य बहुत ही कठिन है। बहुत-से आदमी चारे के अभाव में अपने गाय-बछड़ों को यदि कसाई के हाथ नहीं बेचते, तो उसे किसी गोशाला या पिंजरापोल में छोड़कर उससे निश्चिन्त हो जाते हैं। वास्तव में पशु-पालन के लिए चरागाहों की बड़ी आवश्यकता है। जंगलों में बहुत सी घास बरबाद हो जाती है। उसे सरकारी फ़ार्मों की तरह संचय करके रखने का प्रबन्ध होना चाहिए, तथा अन्य चारों को अधिक मात्रा में पैदा करना और उन्हें आवश्यकता के समय के लिए बचा कर वैज्ञानिक रीति से रखना चाहिए।

भारतवर्ष में गउओं की कमी के मुख्य कारण ये हैं—(१) चमड़े के लिए लाखों गाएँ प्रति वर्ष मारी जाती हैं, यहाँ से बहुत सी खालें विदेशों को भी भेजी जाती हैं। (२) बहुत सी अच्छी-अच्छी गउएँ विदेशों को भेज दी जाती हैं। इन बातों को दूर करने की बहुत

ज़रूरत है। पिछले वर्षों में फौजी गोरों को गो-मांस देने के लिए लगभग डेढ़ लाख पशु प्रति वर्ष मारे जाते रहे हैं। अब भारतवर्ष के स्वाधीन होने पर यह बात नहीं रही। इसी प्रकार पहले यहाँ मुसलमान गाय की कुर्बानी बहुत किया करते थे; राष्ट्रीय जागृति होने से और अब भारतीय संघ राज्य का निर्माण होजाने पर यह क्रमशः बन्द हो रहा है। कितनी ही म्युनिसिपैलटियों और ज़िला-बोर्डों ने गो-बध पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। प्रान्तीय सरकारें भी ऐसा कर रही हैं। मिसाल के तौर पर बम्बई प्रान्त की व्यवस्थापक सभा ने हाल में एक प्रस्ताव स्वीकार किया है, जिसके अनुसार वहाँ उन गाय, बैल, भैंस व बछड़ों का बध वर्जित किया है, जो दूध, नस्ल या कृषि सम्बन्धी कार्यों के लिए निरुपयोगी करार न दिए गए हों।

**उद्योग धन्धों के लिए पूँजी**—अब हम यह विचार करते हैं कि उद्योग-धन्धों के वास्ते यहाँ पूँजी की कैसी स्थिति है। पहले देशी पूँजी की बात लें। हमारे देहातों और साधारण कस्बों में बैंकिंग या महाजनी की कोई संगठित व्यवस्था नहीं है। आदमी डाकखानों के सेविंग बैंकों में, तथा कुछ वर्षों से सहकारी बैंकों में, अपनी बचत का रुपया जमा करने लगे हैं। साधारणतया स्थानीय आवश्यकताओं के लिए गाँव का महाजन ही पूँजी देता है। वह अपनी पूँजी नए कामों में बहुत कम लगाता है। कहीं-कहीं स्थानीय पूँजी से कुछ कार्य आरम्भ किए गए हैं; उदाहरण के लिए आटा पीसने की चक्कियाँ (फ्लोर मिल); कपास के क्षेत्रों में जीन, प्रेस; और धान के क्षेत्रों में, धान कूट कर चावल निकालने की मिलें। जब किसानों को कुछ बचत होती है तो उनका बचत का रुपया किसी उद्योग-धन्धे में न लग कर प्रायः ज़ेवरों में खर्च होता है। सरकारी कर्मचारी तथा अन्य पेशेवाले बहुधा अपनी पूँजी ज़मीन को खरीदने या रेहन आदि में लगाना पसंद करते हैं; हाँ, कुछ समय से इन लोगों में, बैंकों में रुपया जमा करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

यह तो देहातों तथा साधारण कस्बों की बात हुई; बड़े-बड़े नगरों और व्यापारिक कस्बों में उद्योग-पूँजी की दशा अपेक्षाकृत कुछ संतोषजनक है। यहाँ बैंकों की सुविधा अधिक है, और आदमियों में अपनी बचत उद्योग तथा व्यापार में लगाने की प्रवृत्ति भी अधिक है। परन्तु यहाँ भी यथेष्ट पूँजी मिलने में कुछ कठिनाइयाँ हैं। वर्त्तमान बैंकों की पद्धति औद्योगिक दृष्टि से हितकर नहीं है। उद्योग-धंधों के वास्ते रुपया बड़ी अवधि के लिए चाहिए और उसके मिलने की संगठित व्यवस्था नहीं है। मध्यम श्रेणी के आदमियों को औद्योगिक कार्यों के लिए पूँजी जुटाने में बहुत कठिनाई होती है; कारण, वे आवश्यक ज़मानत नहीं दे सकते, और ऐसे प्रसिद्ध भी नहीं होते कि उनकी यथेष्ट साख हो। सहकारी बैंक जुलाहों आदि छोटे कारीगरों के लिए ही उपयोगी होते हैं। अस्तु, उद्योग-धंधों की उन्नति के लिए पूँजी की व्यवस्था होने का सख्त ज़रूरत है। प्रत्येक प्रांत में वहाँ की परिस्थिति और आवश्यकताओं के अनुसार, अच्छे औद्योगिक बैंक होने चाहिएँ।

**मशीनें और इमारतें**—आजकल धनोत्पत्ति के खासकर औद्योगिक कार्यों में अचल पूँजी अधिक लगाने अथवा चल पूँजी को सुविधानुसार अचल पूँजी में बदलने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। पहले एक काम या उसके किसी भाग की कोई क्रिया मज़दूरों द्वारा होती है। कुछ समय में उसके लिए किसी मशीन का आविष्कार हो जाता है। तब मज़दूरों को वेतन में दी जानेवाली चल पूँजी मशीन रूपी अचल पूँजी में बदल जाती है। इससे मजदूरों की आवश्यकता कम रह जाती है; उन्हें दी जानेवाली वेतन की कुल रकम में कमी हो जाती है। इस प्रकार पूँजी के अन्तर्गत मशीनों का भाग बहुत बढ़ गया है, तथा बढ़ता जा रहा है। यहाँ तक इस युग को 'मशीनों का युग' कहा जाता है। उद्योग-धंधों में मशीनों के साथ बड़ी-बड़ी इमारतों की भी बहुत वृद्धि हो रही है। बड़े-बड़े नगरों में ही नहीं, कस्बों तक में

कल-कारखानों के लिए खास प्रकार की नई-नई इमारतें बनती जा रही हैं।

**अन्य पूँजी**—पूँजी के अन्तर्गत यातायात, संवादवाहन, और सिंचाई के साधन भी गिने जाते हैं। यातायात के मुख्य साधन पहले सड़कों के अतिरिक्त नदी नहर आदि जल-मार्ग होते थे। उन्नीसवीं सदी से क्रमशः रेलों का निर्माण हुआ इनका प्रचार बढ़ने लगा। अब तो आकाश मार्ग द्वारा हवाई जहाजों से भी माल जाने लगा है, और इसमें उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है।

संवाद-वाहन के आधुनिक साधन डाक, तार, टेलीफोन, बेतार का तार आदि मुख्य हैं। इनकी सहायता से माल मंगाने या भेजने की बहुत सुविधा हो गई है, तथा समय की बड़ी बचत होती है।

सिंचाई के लिए कुएँ और तालाब तो प्राचीन काल से हैं। नहरों का विशेष उल्लेख मुसलमानों के शासन-काल में मिलता है। अब तो कई बड़ी-बड़ी नहरें बन गई हैं तथा बनती जा रही हैं। इन सब का खुलासा विचार आगे किया जायगा।

**विदेशी पूँजी का प्रयोग**—भारतवर्ष के पराधीनता-काल में यहाँ उद्योग-धन्धों और बैंकों में जितनी स्वदेशी पूँजी लगी, उसकी अपेक्षा विदेशी पूँजी कहीं अधिक लगी। फिर, सरकार ने जो रेल, डाक, तार, नहर आदि का कार्य किया, वह अधिकतर विदेशी पूँजी से किया; अकेले रेलों में आठ-नौ अरब रुपए लगा दिए। इस से यहाँ विदेशी पूँजी के विशाल परिमाण में लगने का अनुमान हो सकता है। विशेष दशाओं में विदेशी पूँजी से भी धनोत्पत्ति करना बुरा नहीं। परन्तु यहाँ भारतवर्ष में विदेशी पूँजी का प्रयोग हमारी इच्छानुसार नहीं किया गया। उसके साथ उसे लगानेवाले विदेशी व्यवसायी भी आगए। उन्होंने बहुधा हमारी कारीगरी को नष्ट करके अपना कारबार बढ़ाया। इसके अलावा यहाँ जब कभी कुछ राजनैतिक सुधार होने की बात उठी तो वे भारत-सरकार पर अपना प्रभाव डाल कर हमारे पराधीन

बने रहने में सहायक होते रहे। इस प्रकार विदेशी पूँजी से देश की राजनैतिक पराधीनता भी बढ़ती है। अमरीका के भूतपूर्व राष्ट्रपति विलसन का कथन है कि "जितनी ही विदेशी पूँजी देश में आकर लगती रहती है, उतना ही विदेशियों का प्रभाव बढ़ता रहता है। इसलिए पूँजी की चालें विजय की चालें हैं!"

देश की औद्योगिक उन्नति के लिये अभी कुछ समय तक विदेशी पूँजी की आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता। हाँ, यह ज़रूरी है कि हम उसे उचित शर्तों पर लें; शर्तें इस प्रकार सोच-विचार कर रखी जानी चाहिएँ कि उनसे लाभ अधिक-से-अधिक और हानि कम-से-कम हो। सरकार को ऋण कम सूद पर मिल सकता है। उसे चाहिए कि अपने नाम और अपनी जिम्मेवरी से रुपया उधार लेकर भारतीय व्यवसायों की सहायता करे। साथ ही, देश में जो धन हो उसका भी यथेष्ट उपयोग किए जाने की ज़रूरत है। हमारा अन्तिम लक्ष्य तो यही होना चाहिए कि देश की नई-नई औद्यगिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विदेशी पूँजी न लेनी पड़े; यथा सम्भव सब काम देशी पूँजी से हो सके। देशी पूँजी की समस्या का वास्तविक हल इसी बात में है कि देश के पूँजी सम्बन्धी अपने साधनों की यथेष्ठ उन्नति की जाय।

**भारतीय पूँजी की वृद्धि के उपाय**—पूँजी बचत का फल है। आदमी जितना धन पैदा करते हैं, यदि उस सब को खर्च कर डालें, भविष्य में धनोत्पादन करने के लिए, उसमें से कुछ बचा कर न रखें, तो पूँजी कहाँ से आए। अतः खर्च करने में मितव्ययिता का विचार रहना आवश्यक है; फजूलखर्ची रोकी जानी चाहिए। असभ्यता, कुव्यवस्था या अराजकता की दशा में, मनुष्य अपनी भावी आवश्यकताओं के वास्ते अथवा भविष्य में धनोत्पादन करने के लिए, अपनी सम्पत्ति का कुछ भाग बचा कर रखना नहीं चाहते। जहाँ आदमी अधिकतर पारलौकिक विषयों का चिन्तन करते और यही सोचते रहते

है कि न मालूम कब मर जायँ, वहाँ भी धन विशेष जुड़ने नहीं पाता। भारतवर्ष में पूँजी की वृद्धि के लिए जनता में शिक्षा के अतिरिक्त, मितव्ययिता और दूरदर्शिता के भावों का प्रचार होना चाहिए; ब्याह-शादी, नाच-रंग और जन्म-मरण आदि सम्बन्धी फ़जूलखर्ची की विविध रीति-रस्में हटनी चाहिएँ; तथा खेती, उद्योग-धन्धों, और वणिज व्यापार आदि के ऐसे बैंकों और कम्पनियों के खोलने तथा बढ़ाने की आवश्यकता है, जिनमें आदमी, साझीदारी के नियमों से, अपना धन लगाने में उत्साहित हों। इनका विशेष विवेचन आगे प्रसंगानुसार किया जायगा।

**सरकार का प्रयत्न; नदियों की उन्नति की बहुमुखी योजनाएँ**—राष्ट्रीय पूँजी बढ़ाने का काम बहुत कुछ सरकार के हाथ में होता है। भारतवर्ष में गत वर्ष तक विदेशी शासन था। अंगरेज सरकार ने सिंचाई, बिजली और यातायात के साधनों की वृद्धि की ओर बहुत कम ध्यान दिया। उसके समय का मुख्य कार्य पंजाब और सिन्ध में नहर द्वारा सिंचाई की व्यवस्था करना था। इसमें देश का प्रचुर धन लगा। अविभाजित भारत में नहरों द्वारा ४ लाख घन फुट पानी प्रति सेकिंड चलता था। अब आधी नहरें पाकिस्तान में पड़ गईं। नहरों से ३ करोड़ ३० लाख एकड़ भूमि सींची जाती थी, वह भी आधी रह गई। इस प्रकार नहरों से सींचे जानेवाले क्षेत्र में बहुत कमी आ गई। स्वाधीन भारत की सरकार को नदियों की उन्नति की ओर यथेष्ट ध्यान देना अनिवार्य था।

अब तक नदियों पर बाँध या तो सिंचाई के लिए बाँधे गए; या बाढ़ रोकने के लिए, अथवा बिजली के लिए। अब भारत-सरकार ने समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए इन सभी बातों को ध्यान में रखकर तीन योजनाएँ बनाई हैं:—१—भाकर (पूर्वी पंजाब), २—दामोदर (पूर्वी बंगाल और पश्चिमी बिहार), ३—हीराकुण्ड (उड़ीसा)। इनकी पूर्ति में १ अरब ७५ करोड़ रुपए के व्यय का अनुमान है।

इनके अलावा और भी कई नदियों की उन्नति करने का विचार है।

नदियों की उन्नति की बहुमुखी योजना का सर्वोत्तम उदाहरण दामोदर घाटी की योजना है। इस पर ५५ करोड़ रुपए व्यय होने का अनुमान है। आठ बाँध बाँधे जायँगे। इससे बाढ़-नियन्त्रण के अतिरिक्त लगभग पौने आठ लाख एकड़ क्षेत्र में सिंचाई हो सकेगी; और लगभग ३ लाख किलोवट बिजली पैदा की जायगी, जिससे अनेक उद्योग-धन्धे आरम्भ हो जायंगे। इसके अतिरिक्त दामोदर नदी बारहों महीने नौका-संचालन के योग्य बनी रहेगी और यातायात के लिए बहुत सुविधा हो जायगी। नहरों और बाँधों के किनारे बहुत से बाजार और मंडियाँ बन जायँगी। इस प्रकार इस प्रदेश के निवासियों के अनेक अभाव दूर होने में मदद मिलेगी, और उनके जीवन में अद्भुत क्रान्ति होगी। इसी प्रकार अन्य योजनाओं से होनेवाले लाभ का विचार किया जा सकता है। दामोदर घाटी की उन्नति के लिए दामोदर कारपोरेशन स्थापित की गई है, अन्य योजनाएँ 'केन्द्रीय जल-विद्युत सिंचाई और नौका-संचालन समिति' के अधीन कर दी गई हैं। विशुद्ध विद्युत योजनाओं के लिए केन्द्रीय विद्युत समिति बनाई गई है।

---

# सातवाँ अध्याय

## व्यवस्था

---

भारतवर्ष की धनोत्पत्ति के तीन साधनों—भूमि, श्रम, और पूंजी—का विचार हो चुका। अब दो अन्य साधनों—पूँजी और साहस—का विचार किया जाता है। पहले बताया जा चुका है कि इन्हें पहले उत्पत्ति का अलग साधन नहीं माना जाता था। अब धनोत्पादन का बहुत-कुछ कार्य बड़ी मात्रा में होने से इनका महत्व बहुत बढ़ गया है, और इन्हें उत्पत्ति का पृथक् साधन गिना जाता है। व्यवस्था (या संगठन) कहने

से इन दोनों का आशय लिया जाता है।

प्रबन्ध—जब उत्पादन-कार्य बड़े पैमाने पर होता है, तो भूमि, श्रम, और पूँजी भी बड़े परिमाण में लगती हैं। लम्बी चौड़ी भूमि होती है। सैकड़ों ही नहीं, हजारों मजदूर एक जगह वेतन-भोगी के रूप में काम करते हैं। कारखानों की इमारतें तथा मशीनें आदि, लाखों रुपए तक की होती हैं। इस दशा में इनका निरीक्षण या प्रबन्ध करने की ज़रूरत होती है। यह कार्य प्रबन्धक करता है। वह यह विचारता रहता है कि उत्पादक साधनों से किस प्रकार तथा किस अनुपात में काम लिया जाय कि उत्पत्ति अधिक-से-अधिक हो। जो रीति या साधन मँहगे होंगे, उनके स्थान में वह सस्ते की खोज करके, उन्हें बदल देगा। उदाहरण के लिए यदि यह अधिक लाभदायक प्रतीत हो कि कारखाने के किसी विभाग में मजदूरी की मद में दस हजार रुपए खर्च करने की अपेक्षा उसमें पांच हजार रुपए लगाए जायँ और पांच हजार रुपए की कोई मशीन लगादी जाय तो प्रबन्धक मज़दूरों की संख्या कम करके एक मशीन बढ़ा लेगा। यह तो एक साधन को कम करके उसकी जगह दूसरे साधनको काम में लाने की बात हुई। अब दूसरे प्रकार का उदाहरण लें। जब प्रबन्धक देखता है कि कारखाने में बीस साधारण श्रमी एक-एक रूपया रोज़ लेकर जो काम कर रहे हैं, उस काम को आठ कुशल श्रमी दो-दो रुपए रोज लेकर कर सकते हैं तो वह बीस साधारण श्रमियों की जगह आठ कुशल श्रमी रख लेता है, और बीस रुपए का काम सोलह रूपए में करा लेता है। इस उदाहरण में प्रबन्धक एक साधन के एक भेद की जगह उसी साधन के दूसरे भेद से काम ले रहा है।

प्रबन्धक के कार्य—प्रबन्धक के मुख्य कार्य निम्नलिखित होते हैं—

(१) कारखाने में भिन्न-भिन्न प्रकार की आवश्यक योग्यतावाले मनुष्यों को इकट्ठा करना और उनसे श्रम-विभाग के सिद्धान्तों के अनुसार अधिक-से-अधिक काम लेना।

(२) कारख़ाने की जायदाद की देखभाल करना और अच्छे, बढ़िया यंत्रों और औज़ारों को इस्तेमाल करना।

(३) उत्पत्ति के भेद, मात्रा तथा समय का निश्चय करना।

(४) आवश्यक कच्चे पदार्थों को समय पर, तथा उचित मात्रा में मोल लेना, तैयार माल को अच्छे भाव से बेचने का प्रबन्ध करना।

**साहस**—साहसी व्यक्ति धनोत्पादन के लिए पहले कोई चीज़ बनाने या पैदा करने का विचार करता है, फिर इस विचार को कार्य-रूप में परिणत करता है, चाहे दूसरे आदमियों को उसकी सफलता में संशय हो। साहसी को अपने उत्पादन-कार्य के लिए हानि-लाभ की जोखम उठानी पड़ती है। उसका काम पूँजी लगानेवालों के काम से भिन्न प्रकार का है। साहसी, पूँजी उधार लेकर, अथवा कम्पनियों की सहायता से, अपना काम चला सकता है। वह उस काम के संचालन और हानि-लाभ आदि की सब ज़िम्मेदारी उठाता है। बहुत से आदमी बिना जोखम की, और निश्चित आमदनी चाहते हैं; उत्पादन कार्य में लाभ अधिक हो या कम, और चाहे उसमें हानि ही क्यों न हो, वे उससे अधिक नहीं माँग सकते, और उससे कम स्वीकार नहीं करते। परन्तु साहस का फल निर्धारित नहीं होता, वह हमेशा अनिश्चित और अस्थायी होता है। वह बहुत अधिक भी हो सकता है, और बहुत-कम भी, यहाँ तक कि यह भी सम्भव है कि किसी उत्पादन-कार्य में हानि ही रहे।

अन्य साधनों के स्वामी अपने-अपने साधन का प्रतिफल साहसी से मांगते हैं। भूमि वाला लगान माँगता है, श्रमी वेतन, पूँजीवाला सूद, और प्रबन्धक अपना वेतन (प्रबन्धक आय)। परन्तु साहसी अपने साहस का प्रतिफल किसी से न माँग कर उत्पन्न वस्तु में से, दूसरों का हिस्सा चुका कर, ही ले सकता है। इस लिए वह चाहता है कि अन्य साधनों के लिए होनेवाला खर्च, उत्पत्ति के अनुपात से, यथा सम्भव कम रहे। वह समय-समय पर उनकी मद में खर्च बढ़ाने को भी तत्पर

रहता है, परन्तु वह ऐसा उसी दशा में करता है, जब उस व्यय के अनुपात से उत्पत्ति अधिक होने की आशा हो। साधारण भाषा में कहा जा सकता है कि वह कम-से-कम खर्च करके अधिक-से-अधिक उत्पत्ति करने का अभिलाषी रहता है।

**साहसी के गुण**—इससे स्पष्ट है कि साहसी वही व्यक्ति हो सकता है, जो बड़े दिल का हो, हानि सहनी पड़े तो निराश होकर हिम्मत न हार बैठे। वह उत्साही हो, नई-नई योजनाओं और विचारों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए तैयार हो। वह प्रभावशाली, विश्वसनीय और अपनी बात का धनी हो, तभी दूसरे आदमी उसे सहयोग देंगे, और उसे पूँजीपतियों से यथेष्ट पूँजी उधार मिल सकेगी। उसे विविध क्षेत्रों के बाजारों के उतार-चढ़ाव का ज्ञान होना चाहिए, जिससे वह यह विचार कर सके कि कौनसा उत्पादन कार्य आरम्भ करना ठीक होगा, अथवा किसी विशेष दशा में एक कार्य को बन्द करके उसकी जगह दूसरा कार्य करना अधिक लाभदायक होगा।

**भारतवर्ष में प्रबन्ध और साहस**—भारतवर्ष में प्रबन्ध और साहस की कमी है। यह कार्य ऐसे हैं, जो बहुत कुछ आदमी के व्यक्तित्व पर निर्भर होते हैं। शिक्षा से इनकी यथेष्ट योग्यता प्राप्त नहीं की जा सकती। हाँ, व्यावहारिक अनुभव इसके लिए बहुत उपयोगी है, और यह शिल्प-कार्यालयों तथा कारखानों में मिल सकता है। आवश्यकता है, जिन आदमियों की रुचि और प्रवृत्ति इस ओर हो, उन्हें समाज तथा राज्य की ओर से समुचित सुविधाएँ दी जाँय। जो आदमी दूरदर्शी, विश्वसनीय, उत्पत्ति की बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनानेवाले और औद्योगिक नेतागिरी के गुणवाले प्रतीत हों, उन्हें अपने विचारों को अमल में लाने का अवसर मिले, तो कभी-कभी विफलता होने पर भी कुल मिलाकर धनोत्पत्ति में लाभ ही होगा।

**व्यवस्था, ग्रामोद्योग में**—यद्यपि आजकल भी कुछ स्वावलम्बी परिवार तथा छोटे किसान और कारीगर ऐसे मिलते हैं, जो उत्पत्ति के

लिए स्वयं भूमि, श्रम और पूँजी जुटाते हैं, अपने काम का स्वयं प्रबन्ध और निरीक्षण करते हैं और उसके हानि-लाभ की जोखम उठा लेते हैं, तथापि आजकल बहुत सा उत्पादन-कार्य बड़े पैमाने पर होता है, और इससे अधिक-से-अधिक लाभ उठाने का कार्य ऐसा जटिल है कि उसके लिए एक विशेष योग्यता वाले व्यक्ति की आवश्यकता होती है। इसे व्यवस्थापक कहा जाता है।

जब भूस्वामी, श्रमी और पूँजीवाले अलग-अलग समुदाय बन जाते है तो कोई व्यक्ति ऐसा भी होना चाहिए, जो इन सब के साधनों की उत्पादन कार्य के लिए, व्यवस्था करे। उदाहरण के लिए खादी-उत्पत्ति का कार्य लें। गाँव में विविध परिवार किसानों से कपास खरीदते हैं, उसे ओटते हैं और धुनवा लेते हैं। पश्चात् प्रायः महिलाएँ अपने-अपने घर में कातती हैं, और सूत का कपड़ा बुनवाती हैं। इस प्रकार गाँव वाले भिन्न-भिन्न प्रयत्नों के फल स्वरूप कपड़ा पाते हैं। व्यवस्थापक देखता है कि गाँव में इतना कपड़ा अमुक प्रकार का खर्च होता है या हो सकता है। उसके लिए आवश्यक कपास खरीद कर उसे ओटवाता है अथवा रुई खरीदता है, उसे धुनवाता है और फिर उसे कतवाता है। इस प्रकार सूत का संग्रह करके वह उसका कपड़ा बुनवाता है। वह कच्चे माल की कीमत और श्रमियों की मजदूरी देता है। अगर उसे इस काम के लिए दूसरों से पूँजी उधार लेकर लगानी होती है तो वह उन्हें उस पूँजी का सूद भी देता है। वह उत्पादन कार्य का निरीक्षण करता है, और इसमें जो हानि-लाभ हो, उसकी जोखम वह स्वयं उठाता है। इस प्रकार विविध साधनों की व्यवस्था होने से खादी-उत्पत्ति का कार्य पहले की अपेक्षा अधिक सुचारु रूप से हो जाता है।

**कल-कारखानों में**—कल-कारखानों में हजारों मजदूर एक ही जगह वेतन-भोगी के रूप में काम करते हैं। वे कोई वस्तु पूरी न बना कर उत्पादन-कार्य के एक भाग का ही काम करते हैं। इस दशा में

व्यवस्था की आवश्यकता बहुत होती है। व्यवस्थापक कच्चे माल को खरीदने, श्रमियों से काम लेने और आवश्यक पूंजी जुटाने का काम तो करता ही है, उसे यह भी देखना होता है कि कुल कितना माल तैयार होगा, और कहाँ-कहाँ उसकी खपत होगी। वास्तव में वह खपत का बहुत-कुछ अनुमान पहले ही कर लेता है, और उसके अनुसार माल तैयार करने के लिए उत्पत्ति के विविध साधनों की व्यवस्था करता है। कल-कारखानों में माल अधिक तैयार होने से प्रबन्ध-कार्य तो बहुत बढ़ता ही है, इसके अतिरिक्त इसमें लाभ-हानि की जोखम भी बहुत रहती है। इस प्रकार आधुनिक काल में व्यवस्था का महत्व और उपयोगिता स्पष्ट है।

**व्यवस्था के भेद: एकाकी उत्पादक**—उत्पादन-प्रणाली के अनुसार, व्यवस्था के विविध भेद होते हैं। प्राचीन काल में प्रत्येक उत्पादन-कार्य में उत्पादक प्रायः एक ही व्यक्ति ( या उसका परिवार ) होता था। इस दशा में वह स्वतन्त्र रूप से अपना काम करता था। वह उसका स्वयं निरीक्षक या प्रबन्धकर्ता होता था। वह अपनी ही पूँजी लगाता, अथवा सूद पर रुपया उधार लेकर काम चलाता था। जो वस्तु वह बनाता था, उसका वही मालिक होता था। उसे वह अपने गाँव या नगर में, या कुछ दूर भेजकर बेच डालता था। जो लाभ होता था, वह सब उसी का होता था। अगर कभी संयोग से कुछ हानि हो जाती तो वह भी सब उसी को सहनी पड़ती थी।

इस उत्पादन-प्रणाली में लाभ यह है कि उत्पादक स्वयं अपना काम करता है, किसी दूसरे का नहीं। अपनेपन के भाव के कारण वह खूब जी लगाकर काम करता है। फिर, जो वस्तु वह बनाता है, वह पास के ही उपभोक्ताओं के लिए होती है, जिनकी आवश्यकताएँ वह अच्छी तरह जानता है, और जिनकी माँग का अनुमान वह सहज ही कर सकता है। यह एकाकी-उत्पादक-प्रणाली है, इसमें उत्पादक का व्यापार व्यवसाय प्रायः उसकी सन्तान को ही मिलता है।

इस प्रणाली के उपयोग की सीमायें तथा हानियाँ स्पष्ट हैं। ज्यों-ज्यों यातायात के साधनों की वृद्धि, और बाज़ार का विस्तार होता है, अधिकाधिक उपभोक्ताओं के लिए वस्तुएँ उत्पन्न करने की आवश्यकता होती है। इसके वास्ते पूँजी बहुत चाहिए। फिर, बड़े काम में हानि भी इतनी अधिक हो सकती है, जिसे सहन करना साधारण अकेले आदमी के बस की बात न हो। अकेले आदमी में ऐसी योग्यता तथा कुशलता भी नहीं होती, कि वह किसी बड़े और पेचीदा व्यवसाय के सब विभागों का निरीक्षण और संचालन कर सके। इस प्रकार उत्पादन-कार्य बढ़ने पर एकाकी उत्पादक उसकी यथेष्ट व्यवस्था नहीं कर सकता।

**साझेदारी**—क्रमशः लोगों की आवश्यकताएँ बढ़ीं। इधर आमदरफ्त के साधनों की भी वृद्धि हुई। अब लोगों को बड़े परिमाण में चीजें बनाने की, तथा उन्हें खपाने के लिए अपने गाँव या नगर से दूर-दूर के स्थानों में जाने की प्रेरणा हुई। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में अन्य बातों के अलावा बड़ी पूँजी की ज़रूरत होती है, और वह बहुधा एक आदमी के पास नहीं होती। इसलिए साझेदारी प्रथा का आविष्कार हुआ। साझे के उद्योग-धन्धे की व्यवस्था दो या अधिक आदमी करते हैं। प्रत्येक साझेदार उसका व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से उत्तरदायी होता है।

साझेदारी प्रथा ऐसे व्यवसायों के लिए बहुत उपयुक्त होती है, जिनमें विविध प्रकार की योग्यताओं की आवश्यकता हो, अर्थात् जिनके प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य का विभाजन हो सकता हो। उदाहरणवत् एक आदमी कच्चा माल खरीदने में रहे, दूसरा कारखाने का प्रबन्ध करे, तीसरा तैयार माल बेचने का काम करे। साझेदारी से उन व्यवसायों को चलाने में सुविधा होती है, जिनके लिए आवश्यक पूँजी एक आदमी न लगा सके। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक आदमी में केवल व्यावसायिक बुद्धि होती है, वह किसी ऐसे आदमी को साझे-

दार बना लेता है, जिसके पास आवश्यक पूँजी हो। इस प्रकार दोनों के सहयोग से कार्य हो जाता है।

साझे का काम तभी सफल होता है, जब सब साझेदार मिल कर उसे अच्छी तरह चलावें, उनमें मत-भेद न रहे। यदि एक की त्रुटि या बेपरवाही से कुछ हानि होगी तो उसका फल सभी को भुगतना पड़ेगा। ऋणदाता अपनी अपनी कुल रकम चाहे जिस साझेदार से वसूल कर सकता है।

भारतवर्ष में यह प्रथा बहुत पुरानी है। तथापि यहाँ की जनसंख्या के विचार से इसका उपयोग कम ही होता है; कारण बहुत से आदमियों के पास काम में लगाने के लिए पूँजी नहीं होती; इसके अलावा कितने ही आदमी साझे के काम में अपने उत्तरदायित्व का यथेष्ट ध्यान नहीं रखते, वे उससे निश्चिन्त रहते हैं, और जब काम बिगड़ता है तो दूसरे साझीदारों को दोषी ठहराते हैं। इससे यहाँ साझे के काम प्रायः बहुत समय तक नहीं चल पाते।

बहुत से आदमी व्यवसाय में कुछ पूँजी लगा देना चाहते हैं, पर वे उसके प्रबन्ध आदि में कुछ भाग नहीं ले सकते, और न उसके लाभ-हानि की जोखम ही उठाना चाहते हैं। ऐसे आदमी साझेदारी के व्यवसाय में भाग नहीं ले सकते। इनके लिए 'मिश्रित-पूँजी कम्पनी' की व्यवस्था उपयोगी होती है।

**मिश्रित पूँजी की कम्पनियाँ**—बड़ी मात्रा की उत्पत्ति, और बड़े कल-कारखानों में बड़ी बड़ी पूँजी चाहिए। प्रायः एक आदमी उसकी व्यवस्था नहीं कर सकता। इसलिए जितनी पूँजी की जरूरत होती है। उसके दस-दस, सौ-सौ या पाँच-पाँच सौ या कम ज्यादह रुपए के बराबर-बराबर रकम के हिस्से (शेअर) निर्धारित कर दिए जाते हैं। प्रत्येक हिस्सेदार एक या अधिक हिस्सा खरीद लेता है। ऐसी कम्पनी 'मिश्रित पूँजी की कम्पनी' कहलाती है। हिस्सेदारों की ओर से कार्य-सञ्चालन करनेवाले व्यक्ति, सञ्चालक (डायरेक्टर) कहलाते हैं। सञ्चालक

अपने प्रबन्ध सम्बन्धी अधिकार प्रायः एक ऐसी कम्पनी या फ़र्म को सौंप देते हैं, जो मिश्रित-पूँजी कम्पनी में या तो स्वयं विशेष पूँजी लगाती है, या दूसरे पूँजीपतियों को विशेष पूँजी लगाने के लिए तैयार करती है। प्रबन्ध सम्बन्धी अधिकारवाली इस संस्था को मेनेजिङ्ग एजंट कहते हैं।

ये कम्पनियाँ दो प्रकार की होती हैं— परिमित देनदारी की या 'लिमिटेड', और अपरिमित देनदारी की या 'अनलिमिटेड। परिमित देनदारी की कम्पनी के बन्द होने पर उसके हिस्सेदारों की जिम्मेदारी उसका सब ऋण चुकाने की नहीं होती; केवल अपना-अपना हिस्सा चुका देने की होती है। अपरिमित देनदारी की दशा में प्रत्येक हिस्सेदार पर कम्पनी का सब ऋण चुकाने की जिम्मेदारी रहती है। अपरिमित देनदारी वाली कम्पनियों की साख तो अधिक होती है, परन्तु उसमें हिस्सेदारों की हानि की बहुत सम्भावना होती है। अधिकतर कम्पनियाँ परिमित देनदारी वाली ही खुलती हैं।

इन कम्पनियों से बहुत से आदमियों को इनके हिस्से खरीदने की प्रेरणा होती है, और वे अपने उस धन को भी उत्पादन कार्य में लगाते हैं, जो शायद यों ही पड़ा रहता। यदि किसी हिस्सेदार को आवश्यकता हो तो वह अपने सब या कुछ हिस्सों को बाजार में बेच सकता है। कम्पनियों के हिस्से बेचने का काम दलाल करते हैं और इन हिस्सों की बाज़ार-दर समय-समय पर घटती-बढ़ती रहती है। इस प्रकार हिस्सेदारों को कम्पनी से सम्बन्ध कम करने या उससे पृथक् होने तथा नए आदमियों को उसके हिस्सेदार बनने का अधिकार रहता है।

मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियाँ, प्रबन्ध ठीक रहने की दशा में, चिरकाल तक बनी रहती हैं। यदि संचालन उचित रीति से न हो तो हिस्सेदार वार्षिक चुनाव के अवसर पर पुराने संचालकों तथा प्रधान सञ्चालक को बदलकर उनकी जगह नए कार्यकर्त्ता चुन सकते हैं। कम्पनी-पद्धति में बहुत से आदमियों के, थोड़ी-थोड़ी,

पूँजी के लगा देने से लाखों ही नहीं करोड़ों रुपए की रकम इकट्ठी हो जाती है। रेल, जहाज़, बड़ी-बड़ी नहर, बाँध तथा पुल और कारखानों का काम इन कम्पनियों द्वारा ही होता है।

कम्पनियों से हानि भी है। परिमित देनदारी के कारण कभी-कभी हिस्सेदार असावधान हो जाते हैं, और संचालक अनाप-शनाप खर्च कर डालते हैं। उनकी बेईमानी तथा छल-कपट से कम्पनियों के फेल होने की नौबत आ जाती है। कोई व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व का यथेष्ट अनुभव नहीं करता। फिर हिस्सेदारों (पूंजीपतियों) का श्रमियों से सम्पर्क नहीं रहता और वे उनके सुख दुःख का समुचित ध्यान नहीं रखते। अमरीका आदि कुछ देशों में बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ, राजकर्मचारियों और प्रभावशाली व्यक्तियों को अपने पक्ष में करके मनचाहे कानून बनवाने में सफल हो जाती हैं। कुछ कम्पनियाँ अपने प्रतिद्वन्दियों को व्यवसाय-क्षेत्र से हटाकर पदार्थों को घटिया बनाकर अथवा महँगा बेचकर मनमाना मुनाफ़ा लेने की चिन्ता में रहा करती हैं।

कम्पनियों से होनेवाली हानियों को रोकने के लिए इनका कानून द्वारा नियंत्रण किया जाता है। हरेक कम्पनी की रजिस्टरी होती है। उससे पूर्व कम्पनी का विवरण-पत्र (प्रासपेक्टस) प्रकाशित नहीं किया जा सकता। जब कम्पनी के निर्धारित हिस्से बिक चुकते हैं तब उसका कारोबार आरम्भ होता है। कम्पनी को अपने वार्षिक हिसाब की नियमानुसार लेखा-परीक्षक (आडीटर) द्वारा जाँच करानी होती है, जो इस बात को भी देखता है कि कम्पनी के पास हिसाब में दिखाया हुआ रुपया वास्तव में है या नहीं, तथा संचालकों ने तो कोई ऋण नहीं ले रखा है। इस जाँच के बाद कम्पनी का हिसाब प्रकाशित किया जाता है, जिससे सब उसकी आर्थिक स्थिति को अच्छी तरह जान सकें; यथासम्भव किसी को उसके सम्बन्ध में धोखा न रहे।

कम्पनी-पद्धति में प्रायः मेनेजिंग एजन्ट कम्पनी का कर्ता-धर्ता

हो जाता है। इसके अधिकार बहुत अधिक होते हैं, यहाँ तक कि किसी मेनेजर का रहना न रहना बहुत-कुछ इसी की इच्छा पर निर्भर रहता है। कभी-कभी मेनेजिंग एजंट शेयरहोल्डरों के लाभ-हानि का यथेष्ट विचार नहीं करता, अतः जनता का उसके प्रति बहुत असंतोष रहता है। वर्त्तमान अवस्था में मेनेजिंग एजंट की प्रथा हटाई तो नहीं जा सकती, हाँ, उसके अधिकारों पर समुचित नियंत्रण रखा जाना चाहिए। यद्यपि कानून द्वारा जनता की, चालाक या बेईमान संचालकों के व्यवहार से, बहुत-कुछ रक्षा की जा सकती है, इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि सर्वसाधारण और खासकर हिस्सेदार कम्पनी के सम्बन्ध में सतर्क रहें, केवल संचालकों के नाम देख कर ही उनके हाथ में सब कारोबार सौंप कर निश्चिन्त न हो जायँ।

भारतवर्ष में इन कम्पनियों का कार्य उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। यहाँ बहुत से योरपियन उद्योग इसी प्रणाली से आरंभ हुए थे। वे भारतवासी भी, जिन्हें नए औद्योगिक कार्य आरंभ करने या बढ़ाने होते हैं, बहुधा ऐसी ही कम्पनियाँ बनाते हैं। दूसरे महायुद्ध से पहले (सन् ११३८-३६ के अन्त में) कम्पनियों के रजिस्टरी-कानून के अनुसार भारतवर्ष में कुल मिला कर ११,११४ कम्पनियाँ थीं जिनकी प्राप्त-हिस्सा-पूँजी लगभग तीन सौ करोड़ रुपए थी। सबसे अधिक कंपनियाँ व्यापार करने और तैयार माल बनाने वाली थीं, इनकी संख्या ४,४२१ थी। इनसे कम संख्या क्रमशः बैंकिंग और उधार देने वाली, तथा चाय और बीमा की कंपनियों की थी। प्रांतों के हिसाब से, अकेले बंगाल में ४,६३१ थीं, बम्बई में १,४००, और मदरास में १,५८१ थीं। संयुक्तप्रान्त इस विषय में बहुत पीछे था; यहाँ केवल ४६२ ही कम्पनियाँ थीं। देशी रियासतों की कंपनियों में से लगभग आधी, बैंक सम्बन्धी थीं; और ४७८ कंपनियाँ अर्थात् लगभग ४७ फी सदी अकेले ट्रावंकोर राज्य में थीं। अस्तु, भारतवर्ष में मिश्रित पूँजी वाली कंपनियाँ अभी बहुत कम हैं, इसीलिए यहाँ बड़े-बड़े कल-कारखानों की भी कमी

है। पिछले वर्षों में ये कम्पनियाँ खूब बढ़ती रही हैं। हाँ, अब समाजवाद की लहर ज़ोर पकड़ती जा रही है, और शायद भारत-सरकार थोड़े बहुत समय में उद्योग-धंधों और कारखानों आदि का राष्ट्रीयकरण करने लगे, इस आशंका से कुछ पूँजीपतियों की गति मन्द हो जाने की सम्भावना है। इन कम्पनियों के बारे में कुछ विचार आगे बैंकों के सिलसिले में भी किया जायगा।

**एकाधिकार**—कभी-कभी किसी कम्पनी का क्षेत्र बहुत बढ़ जाता है अथवा उसके साथ उस तरह की अन्य कम्पनियाँ मिल जाती हैं। जब किसी एक ही कम्पनी या (व्यक्ति) के हाथ में किसी वस्तु के उत्पादन अथवा बेचने का अधिकार आ जाता है तो उसका यह अधिकार एकाधिकार कहलाता है। यह कई प्रकार का होता है—

(१) जब इसका क्षेत्र थोड़े से ही क्षेत्रफल अथवा किसी विशेष स्थान तक परिमित रहता है तो यह स्थानीय एकाधिकार कहलाता है। उदाहरण के लिए यदि कोई एक ही गोशाला एक सम्पूर्ण नगर की दूध की माँग पूरी करती है तो यह उस गोशाला का स्थानीय एकाधिकार है।

(२) जब इसका क्षेत्र राष्ट्र तक होता है तो इसे राष्ट्रीय एकाधिकार कहते हैं। जब कोई पुस्तक लिखता है, या कोई विशेष आविष्कार करता है तो वह सरकार द्वारा रजिष्ट्री कराकर उसका एकाधिकार प्राप्त कर सकता है।

(३) जो एकाधिकार किसी भौगोलिक या प्राकृतिक परिस्थति के कारण होता है, उसे प्राकृतिक एकाधिकार कहते हैं, जैसे बंगाल को जूट का एकाधिकार है।

(४) जिस एकाधिकार का मालिक अथवा नियन्त्रक स्वयं सरकार अथवा म्युनिस्पेलटी आदि हो तो उसे सार्वजनिक एकाधिकार कहते हैं।

एकाधिकार से मुख्य लाभ ये हैं—एकाधिकारी बाज़ार की माँग को

जानता है, वह उसके अनुसार ही उत्पादन करता है। इसमें प्रतियोगिता नहीं रहती, इसलिए लाभ निश्चित रहता है। इसके अलावा इसके अन्वेषक को अपने कार्य के लिए प्रोत्साहन मिलता है। परन्तु एकाधिकार से कुछ हानि भी है। अधिक लाभ की इच्छा से एकाधिकारी वस्तु की कीमत बढ़ा देता है। इससे उपभोक्ताओं को बहुत हानि होती है। एकाधिकारी अपनी वस्तु के बाजार को बढ़ाने के लिए कभी कभी उसे विदेशों में बहुत सस्ता बेचता है, चाहे इससे उसे आरम्भ में हानि ही क्यों न हो। इस नीति से विदेशी उत्पत्ति करने वालों का उद्योग चौपट हो जाता है। सबसे बड़ी हानि यह है कि एकाधिकारी अपने प्रभाव के बल पर अधिकारियों को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करता है, इससे देश की राजनीति कलुषित होती है। इन हानियों से बचने के लिए एकाधिकार पर सरकार द्वारा नियन्त्रण किया जाता है, पर कभी-कभी वह यथेष्ठ सफल नहीं होता, और जनता को असुविधा होती है।

**सहकारिता**—कम्पनियों तथा एकाधिकारियों द्वारा होनेवाली हानियों से बचने का एक उपाय यह कि आदमी मिलकर काम करें और सहकारिता द्वारा शक्तिशाली बनें। सहकारिता के मुख्य तीन भेद हैं :—(१) उत्पादकों की सहकारिता, (२) उपभोक्ताओं की सहकारिता और (३) साख की सहकारिता। हमें यहाँ इसके पहले भेद का ही विचार करना है।

सहकारी उत्पादकता में श्रमी ही अपने स्वामी होते हैं। वे ही समस्त व्यवसाय का प्रबन्ध करते और जोखिम उठाते हैं, वे व्यवस्था और श्रम दोनों कार्य करते हैं। इस पद्धति में मुख्य लाभ ये हैं :— [illegible] मन लगाकर काम करते हैं, वे सारे सामान तथा औजारों [illegible] करते हैं। इन्हें निरीक्षक की आवश्यकता नहीं होती। श्रम और पूँजी का हित-विरोध नहीं होता; हड़ताल या द्वारावरोध [illegible] अतिरिक्त

व्यवस्थापक की हैसियत से, मुनाफ़ा भी मिलता है और उनकी कार्य-कुशलता भी बढ़ती है। परन्तु इस पद्धति में एक बड़ी त्रुटि यह है कि अच्छे प्रबन्धक कम मिलते हैं; कारण कि अन्य श्रमी उनके मानसिक कार्य का यथेष्ट महत्व नहीं मानते और इसलिए उन्हें यथेष्ट वेतन आदि देने को तैयार नहीं होते। इसलिए अभी तक सहकारी उत्पादकता में सफलता कम मिली है। कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है और इस पद्धति का भविष्य अच्छा मालुम होता है।*



## आठवाँ अध्याय

# बड़ी मात्रा की उत्पत्ति, और कल-कारखाने

पहले कहा गया है कि आजकल बहुत सा उत्पादन-कार्य बड़ी मात्रा में कल-कारखानों द्वारा होता है। इसका विशेष विचार करने के लिए हमें यह जान लेना चाहिए कि कल कारखानों के ज़माने से पहले धनोत्पत्ति किस तरह होती थी, अथवा अब भी जहाँ कल-कारखाने नहीं हैं, वहाँ उत्पत्ति किस तरह होती है। धनोत्पादन के प्रायः तीन क्रम होते हैं—

(१) छोटी मात्रा की उत्पत्ति—स्वावलम्बी समुदायों का ज़माना।

(२) छोटी मात्रा की उत्पत्ति—कारीगरों का ज़माना।

(३) बड़ी मात्रा की उत्पत्ति—कारखानों का ज़माना।

प्रारम्भिक अवस्था में सभी देशों में पहला क्रम होता है। धीरेधीरे दूसरे और तीसरे का कार्य होता है। योरप अमरीका आदि में तीसरे क्रम की बहुतायत है। भारतवर्ष में इसका अभी प्रारम्भ हो है।

* इस विषय के विशेष ज्ञान के लिए देखिए 'हमारी भारतीय सहकारिता आन्दोलन'; लेखक—श्री० शंकरसहाय सकसेना एम० ए०।

**स्वावलम्बी समुदाय**—प्रारम्भिक काल में मनुष्य प्रायः गाँवों में रहते हैं। प्रत्येक गाँव के रहनेवाले बहुधा अपनी आवश्यकताओं के पदार्थ स्वयं पैदा करते हैं, वे उनके लिए बाहर के आदमियों पर निर्भर नहीं रहते। इस अवस्था में तीन श्रेणियों के मनुष्य रहते हैं—(१) किसान जो खेती करते हैं, (२) मज़दूर जो किसानों के लिए काम करते हैं, (३) कारीगर, जो रोजमर्रा काम आनेवाली वस्तुएँ बनाते और टूटी-फूटी चीजें सुधारते हैं; और नौकर जो इन सब कामों में सहायता पहुँचाते हैं। इस अवस्था में, लोगों की आवश्यकताएँ बहुत कम रहती हैं। उनका काम अधिकतर खेती से पैदा होनेवाली चीज़ों से चल जाता है। उद्योग या शिल्प की ज़रूरत कम होती है, और वे ही चीज़ें तैयार की जाती हैं, जो स्थानीय उपभोग के लिए आवश्यक हों। साथ ही उनका परिमाण भी यथा-सम्भव उतना ही रखा जाता है, कि वे वहीं खप सकें। इससे स्पष्ट है कि इस दशा में उत्पत्ति छोटी मात्रा की होती है, और खासकर स्थानीय क्षेत्र की ही माँग का ध्यान रखा जाता है।

स्वावलम्बी समुदायों का बहुत अच्छा उदाहरण भारतवर्ष की प्राचीन ग्राम-संस्थाएँ हैं। ये संस्थाएँ सभी अंगों से पूर्ण तथा स्वावलम्बी होती थीं। हर गाँव में कुछ पुश्तैनी कार्यकर्त्ता होते थे, जैसे पंडित, पुजारी, महाजन, सुनार, तेली, नाई, लोहार, धोबी, जुलाहा, कुम्हार, चमार, भंगी, और बहुधा भिखारी आदि भी। जो चीज़ गाँव में नहीं मिल सकती थी, वह बाजार हाट लगने के समय ले ली जाती थी। ऐसी हाट सप्ताह में एक या दो बार, कई गाँवों के किसी केन्द्रीय स्थान में, लगती थीं। फिर तीर्थ स्थानों में, साल में एक-दो बार मेले लगते थे, जहाँ दूर-दूर के व्यवसायी तथा व्यापारी इकट्ठा होकर ख़रीद-फ़रोख्त करते थे।

**कारीगरों का जमाना**—अब धनोत्पत्ति की दूसरी अवस्था का विचार करें। इसमें भी उत्पत्ति छोटी मात्रा की ही होती है, परन्तु वह

अधिकतर खेती से पैदा होनेवाली चीजों की ही नहीं होती; कारीगरी की चीजों का अनुपात खासा बढ़ जाता है। यह अवस्था तब आती है, जब लोगों की आवश्यकताएँ बढ़ने लगती हैं।

भारतवर्ष संसार के उन देशों में से है, जहाँ यह अवस्था बहुत पहले आई। बहुत से विद्वान यह मानते हैं कि यही देश, अन्य विद्याओं की भांति शिल्प और व्यवसाय में सबसे प्रथम उन्नत अवस्था को पहुँचा था, और दूसरे देशों ने यहाँ से ही सब प्रकार की शिक्षा प्राप्त की। अस्तु, कौटिलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से इसमें कोई सन्देह ही नहीं कि अब से सवा दो हजार वर्ष पहले इस देश में विलक्षण आर्थिक उन्नति हो गई थी, जब कि आधुनिक काल में उन्नत माने जाने वाले देशों का जन्म भी नहीं हुआ था। अस्तु, भारतवर्ष में मुसलमानों के शासनकाल तक बहुत-सी दस्तकारियों की बड़ी उन्नति हुई। १८ वीं शताब्दी तक भारतवर्ष से बढ़िया-बढ़िया माल बाहर जाने के कारण यहाँ के कितने ही नगर दूर-दूर के देशों में किसी-न-किसी खास चीज के लिए प्रसिद्ध हो गए। यहाँ की बनी चीजें विदेशों में आदर, आश्चर्य और ईर्षा से देखी जाती थीं।

**बड़ी मात्रा की उत्पत्ति**—उन्नसवीं सदी में योरप में भाप और बिजली आदि से चलनेवाले यंत्रों का आविष्कार हो जाने से वहाँ उत्पत्ति बड़ी मात्रा में करने की सुविधा हो गई। साथ ही यातायात के साधनों की वृद्धि होने से उन्हें दूर दूर के बाजारों में खपाने का रास्ता खुल गया। वहाँ चीजें बड़े परिमाण में बनने लगीं। उनका औसत लागत-खर्च कम हो गया। भारतवर्ष में विदेशी शासन था। कम्पनी के समय में हमारी जगत्-विख्यात कारीगरियाँ नष्ट की गईं। पीछे, जब उन्नसवीं सदी के आखिरी हिस्से में यहाँ कल-कारखाने शुरू होने लगे तो उन्हें बुरी तरह रोका गया। अस्तु, धीरे-धीरे अनेक बाधाओं का सामना करते हुए यहाँ कुछ कल-कारखाने खुले। वे धीरे-धीरे बढ़ते गए। इस प्रकार यहाँ भी बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की उत्तरोत्तर वृद्धि

होती गई।

**लाभ-हानि**—बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से कई लाभ हैं—(१) भूमि की आवश्यकता औसतन कम होती है। छोटी मात्रा के एक काम के लिए जितनी भूमि चाहिए, उससे सौ गुना उत्पादन करने के लिए सौ गुनी भूमि नहीं चाहिए; सम्भव है, बीस-पचीस गुनी भूमि से ही काम चल जाय। इस प्रकार लगान का औसतन खर्च कम होता है। (२) बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के लिए कच्चा माल अधिक परिमाण में थोक खरीदना होता है, यह सस्ता मिल जाता है; ढुलाई आदि का खर्च भी औसतन कम लगता है। पूँजी भी कम सूद पर मिल जाती है। (३) छोटी मात्रा की उत्पत्ति में जो पदार्थ अवशिष्ट रह जाते हैं, उनका प्रायः कुछ उपयोग नहीं होता, पर बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में अवशिष्ट पदार्थों को, जो बहुधा बड़े परिमाण में होते हैं, यथा-सम्भव व्यर्थ नहीं जाने दिया जाता। इनसे अन्य पदार्थ बना लिए जाते हैं; यहाँ तक कि कोयले की राख आदि का भी उपयोग होता है, अथवा उसे बेंच कर काफी दाम उठा लिए जाते हैं। (४) बड़ी मात्रा की उत्पत्ति कल-कारखानों में होती है और उनमें यन्त्रों के सुधार और मरम्मत के लिए अपनी व्यवस्था होती है। इससे काफी बचत होती है। फिर, बढ़िया यन्त्रों के कारण बिजली और कोयले आदि की संचालक शक्ति का व्यय भी कम होता है। (५) बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में श्रम-विभाग के सिद्धान्तों का अधिक-से-अधिक उपयोग हो सकता है। इसके विषय में विशेष आगे लिखा जायगा। यहाँ यही वक्तव्य है कि इसमें विशेष कार्यों के लिए बड़ी-बड़ी वेतन देकर ऊँची योग्यता वाले वैज्ञानिकों और विशेषज्ञों की सेवाओं तथा बढ़िया से बढ़िया यन्त्रों का उपयोग किया जा सकता है।

इन बातों के फल-स्वरूप बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में वस्तुओं का औसत लागत-खर्च कम हो जाता है; चीज़ें अपेक्षाकृत सस्ती बेचने पर भी खूब मुनाफा रह सकता है। हाँ, पूँजी की आवश्यकता बड़े

परिमाण में होती है। बहुत से मजदूरों के एक ही जगह इकट्ठे काम करने से उनके स्वास्थ्य तथा रहन-सहन आदि की समस्या उपस्थित होती है। यथेष्ट वेतन का भी सवाल पैदा होता है। मज़दूरों के असंतुष्ट रहने की स्थिति में हड़ताल होती है। कभी-कभी पूँजीपति ही अपनी शर्तें मनवाने के वास्ते, उन पर दबाव डालने के लिए उनका काम पर आना, बंद कर देते हैं; इसे 'द्वारावरोध' या 'तालाबन्दी' कहते हैं। इस प्रकार पूँजीपतियों और श्रमजीवियों का हित-विरोध होता है। इन प्रश्नों पर आगे विचार किया जायगा।

**कल-कारखानों का जमाना**—बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में कुछ हानियाँ तथा कई बाधाएँ होते हुए भी धीरे-धीरे इसी दिशा में प्रगति हो रही है। आजकल उन्नत देशों में जितने सामान का उपयोग किया जाता है उसका अधिकांश भाग कल-कारखानों में बनता है और यातायात के साधनों में उन्नति होने से एक देश का माल आवश्यकतानुसार दूसरे देशों में जाता रहता है। इस प्रकार संसार में कल-कारखानों की विलक्षण वृद्धि हो रही है। ऐसा मालूम होता है कि प्रायः कल-कारखानों का ही ज़माना है। भारतवर्ष में भी यही बात देखने में आ रही है। बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, नागपुर, इन्दौर प्रत्येक मुख्य शहर में कारखानों की संख्या तथा आकार-प्रकार बढ़ रहा है; और, कल-कारखानों वाले शहर ही उन्नत माने जाते हैं।

कल-कारखानों में मजदूर कोई वस्तु प्रायः अपने लिए नहीं बनाते, वे हज़ारों की संख्या में इकट्ठे होकर एक पूँजी वाले व्यक्ति या कंपनी के अधीन काम करते हैं। जो सामान बनता है उस पर कारखाने वाले का अधिकार रहता है, मज़दूरों को केवल उनके काम की मज़दूरी मिल जाती है।

**श्रम-विभाग**—कारख़ानों का एक ख़ास लक्षण यह होता है कि इसमें श्रम-विभाग के सिद्धान्तों के अनुसार काम किया जाता है। समाज में श्रम-विभाग स्थूल रूप से तो अति प्राचीन काल से चला आ

रहा है। औरतें प्रायः घर का काम करती हैं, और पुरुष बाहर का। यह एक प्रकार का श्रम-विभाग ही है। भारतवर्ष में वर्ण-व्यवस्था का आधार श्रम-विभाग ही है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और और शूद्र सब अपना अलग अलग काम करें, यह भी श्रम-विभाग का स्थूल रूप है। इसी तरह से बढ़ई, लोहार, तेली, दर्जी चमार आदि अपना-अपना काम करें—यह श्रम-विभाग के पुराने स्वरूप का, कुछ और विकास हुआ।

आधुनिक श्रम-विभाग और आगे बढ़ा हुआ है। आजकल, कल-कारखानों में एक कार्य के विविध भागों में से प्रत्येक के कई-कई सूक्ष्म विभाग किए जाते हैं और एक-एक व्यक्ति ही नहीं, व्यक्ति-समूह उक्त उपविभाग का कार्य करता है। प्रत्येक उपविभाग अपूर्ण होता है और कितने ही उपविभागों का कार्य हो चुकने के बाद अन्त में अभीष्ट वस्तु बनती है। उदाहरण के तौर से कपड़ा बुनने की क्रिया लगभग अस्सी उपविभागों में विभक्त है; पिन या सुई जैसी ज़रा ज़रा सी वस्तु को बनाने के कार्य को दर्जनों उपविभागों में बाँटा जाता है।

**लाभ-हानि**—श्रम-विभाग के मुख्य लाभ ये हैं—(१) एक खास क्रिया को बारबार करते रहने से आदमी को ऐसा अभ्यास हो जाता है कि उसे उसके करने में कुछ जोर नहीं लगाना पड़ता; वह क्रिया मानो अपने आप ही होती रहती है। छापेखाने में कम्पोज़िटर बिना देखे अक्षरों को उनके खाने से उठाता और रखता है। अकसर वह दूसरों से बात करते हुए भी अपना काम मशीन की तरह करता रहता है। उसे यह देखना नहीं पड़ता कि अमुक अक्षर का खाना कौन सा है। (२) यदि एक आदमी को अलग-अलग कार्य अथवा एक कार्य के अलग-अलग हिस्सों की कई क्रियाएँ करनी पड़ें तो सम्भव है उसे भिन्न भिन्न औज़ारों की आवश्यकता हो, उन्हें उठाने-रखने में समय लगता है। यदि अलग-अलग कार्य अथवा एक कार्य की विभिन्न क्रियाओं को करने का स्थान जुदा-जुदा कुछ दूरी पर हो, अथवा एक मकान की अलग-अलग मंजिलों

में हो, तो उन्हें करनेवाले के लिए वहाँ जाने में भी बहुत समय लगता है (३) श्रम-विभाग में एक कार्य के प्रत्येक उपविभाग की क्रिया बहुत सरल होती है, उसे करने के लिए मशीनों का उपयोग सहज ही हो सकता है। इससे कार्य बहुत जल्दी तथा कम श्रम से हो जाता है। (४) श्रम-विभाग द्वारा प्रत्येक आदमी को उसकी योग्यता के अनुसार कार्य दिया जा सकता है। ऐसा नहीं होता कि बहुत कुशल श्रमजीवी को साधारण काम भी करना पड़े, और उसकी कार्य-कुशलता से पूरा लाभ न उठाया जाय।

परन्तु इनके साथ श्रम-विभाग से कुछ हानियाँ भी हैं। बहुत से श्रमियों को किसी कार्य के एक उपविभाग की साधारण सी क्रिया करने में ही लगा रहना पड़ता है; जैसे पिन बनाने के कारखाने में सैकड़ों आदमी पिन की नोक ठीक करने में ही अपना समय बिताते हैं। वे यन्त्र की भाँति काम करते हैं और उनका जीवन बहुत नीरस होता है। बहुत से श्रमजीवी ऐसे होते हैं कि यदि उनका निर्धारित कार्य छूट जाय तो, क्योंकि वे दूसरा कोई काम करने के योग्य नहीं होते, उन्हें दूसरी जगह काम मिलना बहुत कठिन होता है। इससे बेकारी का बढ़ना स्वाभाविक ही है। अस्तु, विविध हानियाँ होने पर भी श्रम विभाग के अनुसार कार्य होने में प्रगति होती जा रही है और इसकी विविध बाधाओं को दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

**संचालन शक्ति**—आधुनिक उद्योग-धंधों और कल-कारखानों की जान कोयला है। भारतवर्ष में संचालन-शक्ति के लिए इसका ही उपयोग बहुत किया जाता है, और यह यहाँ खासी मात्रा में है भी; तथापि यह चिन्ता तो है ही कि यह भंडार धीरे-धीरे घटता जा रहा है, इसलिए दूसरे साधनों से काम लिया जाना चाहिए। भारतवर्ष में तेलों का भी बहुत उपयोग हो सकता है। परन्तु उसकी एक सीमा है। भविष्य में हाइड्रोइलेक्ट्रिक अर्थात् जल से पैदा होनेवाली बिजली की योजनाओं के अधिकाधिक प्रयोग होने की सम्भावना है। यह बिजली

सस्ती और अच्छी होती है। इसमें कष्टप्रद धुआँ भी नहीं होता। भारतवर्ष में सबसे पहले मैसूर-दरबार ने इस शक्ति से काम लेना शुरू किया था। आजकल इससे कोलार की सोने की खानों का काम चलता है। कश्मीर राज्य ने बारामूला के पास झेलम नदी से जल-प्रपात द्वारा बिजली निकाली है। उससे श्रीनगर में रोशनी की गई है, और रेशम का सरकारी कारखाना चलाया जा रहा है। दक्षिण में कावेरी-वर्क्स और टाटा-वर्क्स में इसी प्रकार बिजली निकाली जा रही है।

गत पन्द्रह वर्षों में, संयुक्तप्रान्त में बिजली की खासी उन्नति हुई है। इस प्रान्त के पश्चिमी भाग में, बिजली केवल बड़े-बड़े नगरों में ही नहीं, कुछ छोटे नगरों में भी पहुँच गई है। बिजली जितनी अधिक पैदा की जाती है, प्रायः उतनी ही वह सस्ती पड़ती है। उपर्युक्त स्थानों में उसकी दर सस्ती होने का कारण यही है कि वहाँ सिंचाई के लिए नदियों और 'ट्यूब वेल' से काफी पानी निकालने के लिए बिजली बहुत पैदा की जाती है। अब इस प्रान्त के पूर्वी जिलों में और बिहार में बिजली की योजना को सफल करने का प्रयत्न हो रहा है। भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों में भी नदी और जल-प्रपात बहुत हैं। उनका उपयोग किया जाना चाहिए। स्वतंत्र भारत की केन्द्रीय सरकार ने इस दिशा में जो कदम बढ़ाया है, उसका उल्लेख 'पूँजी' नाम के अध्याय में किया जा चुका है।

सन् १९४५ में एटम बम का आविष्कार किया जाकर उसका उपयोग जापान के दो नगरों को नष्ट करने और जापान को युद्ध में परास्त करने में किया गया। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि परमाणुओं की अपरिमित शक्ति को काबू में लाकर मनुष्य-हित के कामों में लगाया जा सकेगा। सुना है अमरीका में परमाणु-शक्ति से चलनेवाला एंजिन बनाने में कुछ सफलता मिली है। आगे इस शक्ति से विविध कल-कारखाने चलाए जाने की आशा है।

सूर्य के तेज के उपयोग का विचार हो रहा है। अभी इसमें खर्च बहुत पड़ता है। क्रमशः वैज्ञानिक उन्नति होने पर उसके सस्ते होने की सम्भावना है। कुछ आश्चर्य नहीं, यदि किसी समय संसार के कल-कारखानों का संचालन सूर्य की शक्ति से ही होने लगे। फिर तो भारत जैसे गर्म देशों की खूब बन आएगी।

**भारतवर्ष के बड़े-बड़े कारखाने**—सन् १९४३ में, रियासतों को छोड़ कर शेष भारतवर्ष में कुल मिलाकर १३,२०९ कारखाने थे। कुल कारखानों में प्रतिदिन औसतन साढ़े चौबीस लाख आदमी काम करते थे, जिन में से १८ लाख आदमी निरंतर साल भर चलने वाले कारखानों में काम करते थे, और शेष व्यक्ति मौसमी कारखानों में। देशी रियासतों में कुल मिलाकर प्रति दिन औसतन तीन लाख व्यक्ति काम करते थे। इस प्रकार भारतवर्ष में कुल कारखानों में काम करनेवाले व्यक्तियों की संख्या तीस लाख से कम ही थी।

दूसरे महायुद्ध से पहले, सन् १९३९ में भारतवर्ष के प्रान्तों में कुल मिलाकर १०,४६६ कारखाने थे। उनमें प्रतिदिन औसतन साढ़े सतरह लाख आदमी काम करते थे। प्रान्तों की दृष्टि से सब से अधिक कारखाने क्रमशः बंबई, मदरास और बंगाल में थे; इन प्रांतों के कारखानों की संख्या ३१२०, १८११, और १७२५ थी, अर्थात् तीनों को मिलाकर ६६५६ थी। इस प्रकार देश भर के कुल कारखानों के आधे से अधिक इन्हीं तीन प्रान्तों में थे। इन तीनों प्रान्तों के श्रमजीवियों की संख्या साढ़े बारह लाख (कुल श्रमजीवियों की संख्या की सत्तर फी सैकड़े) थी। संयुक्तप्रात में कारखाने ५४६ थे, और उनमें कार्य करनेवाले श्रमियों को संख्या १,५६,७३८ थी। इन कारखानों में कुछ सरकारी तथा स्थानीय-स्वराज्य-संस्थाओं के भी थे। कारखाने विशेषतया खाद्य पदार्थों, रूई (कातने-बुनने), कागज, जूट, इंजिनयरी, खनिज द्रव्यों, रासायनिक द्रव्यों, और रंगों, जीन, प्रेस, चमड़े, शीशे, लकड़ी और पत्थर के थे।

पिछले सात-आठ वर्षों में यहाँ नए कारखाने बहुत कम खुले हैं; कारण—(१) विदेशों से बड़ी-बड़ी मशीनें आदि नहीं मिलीं। (२) पूँजीपतियों और रुपया लगानेवालों को सरकार की टेक्स-नीति के कारण मनचाहा लाभ नहीं हुआ। (३) समाजवाद की लहर के कारण उन्हें कल-कारखानों का भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होता है। (४) पाकिस्तान बन जाने से जूट, रुई आदि पैदा करने वाले भाग भारतीय संघ से अलग होगए, इससे यहाँ कच्चे माल की प्राप्ति में बड़ी कठिनाई है।

**कारखानों में मजदूरों का जीवन**—कारखानों में काम करने वालों का जीवन इतना स्वतंत्र नहीं हो सकता, जितना गाँव वालों का अथवा घरू उद्योग-धंधों का काम करने वाले बढ़ई, लुहार आदि कारीगरों का, होता है। यद्यपि हमारे देहात प्रायः मैले-कुचैले हैं, फिर भी वहाँ खुली हवा और रोशनी का लाभ अधिक है। कारखानों में हरदम शोर मचानेवाली मशीन के पास घण्टों काम करते रहने से श्रमजीवियों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। श्रमजीवियों पर कारखानों के जीवन से, सामाजिक और नैतिक प्रभाव भी बहुत बुरा होता है, ख़ासकर इसलिए कि वहाँ औरतें भी काम करती हैं। घर पर छोड़े हुए बच्चों की देख-भाल नहीं होती।

भारतवर्ष की बहुत-सी मिलों में ठेकेदार मजदूरों को भरती कराते हैं। इसके लिए उन्हें पुरस्कार मिलता है। इस पद्धति से मिलों के संचालक, श्रमजीवी एकत्र करने की चिन्ता से मुक्त रहते हैं, परन्तु श्रमजीवी प्रायः एक लोभी आदमी के अधीन हो जाते हैं।

**कारखानों का कानून**—कारखानों के दोष दूर करने के लिए उनका पहला कानून सन् १८८१ में पास हुआ। इसका संशोधन सन् १८९१ में और पुनः सन् १९११ ई० के कानून से हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर कानफ्रेंस के मन्तव्यों के अनुसार, सन् १९२१ ई० में इसमें कुछ संशोधन हुआ, तदनंतर सन् १९२३ और सन् १९२४ ई० में भी

कुछ सुधार हुआ। सन् १९२९ ई० में मजदूरों की दशा की जाँच के लिये शाही कमीशन नियत हुआ था। उसकी सिफारिशों का ध्यान रखते हुए सन् १९३४ ई० में भारतीय व्यवस्थापक सभा ने नया क़ानून बनाया, जिसमें पुराने क़ानून का समावेश कर दिया गया। यह नया क़ानून जनवरी १९३५ ई० से अमल में आने लगा। इस क़ानून की मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :—

(१) बीस आदमियों से काम लेनेवाले कारखानों पर भी अगर वहाँ मशीन से काम लिया जाता हो, यह क़ानून लागू होता था। प्रान्तीय सरकार को अधिकार था कि वे उन कारखानों को भी जहाँ दस या अधिक आदमी काम करते हों, इस क़ानून के अन्दर ले सकें।

(२) काम करने के लिए बालकों की कम-से-कम उम्र बारह वर्ष निश्चित की गई थी। पंद्रह वर्ष तक तो वे बालक माने ही जाते थे। पन्द्रह वर्ष से सतरह वर्ष तक के वे लड़के भी जिन्हें बालिगों का, काम करने का प्रमाणपत्र न मिला हो, बालक समझे जाते थे। बालकों से अधिक-से-अधिक छः छः घंटे काम लिया जा सकता था। उन्हें औसत से हर साढ़े पाँच घण्टे में आधे घंटे का अवकाश देना आवश्यक था तथा उनसे लगातार चार घंटे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता था।

(३) निरन्तर साल भर चलनेवाले कारखानों में काम करने का अधिक-से-अधिक ५४ घंटे का सप्ताह नियत था और किसी एक दिन में १० घंटे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता था। किसी मौसम विशेष में काम करनेवाले ( जीन-प्रेस, चाय, चीनी, रबड़ आदि के ) कारखानों में काम करने के अधिक-से-अधिक घन्टे साधारणतया प्रति दिन ग्यारह, और प्रति सप्ताह साठ निर्धारित थे।

(४) स्त्रियों का, और १८ वर्ष से कम आयु के लड़कों को, जोखम के कुछ काम करने का निषेध था।

(५) कारखाने के मालिक पर श्रम-सम्बन्धी अपराध में ५००) तक जुर्माना हो सकता था। चोट-चपेट लगने पर जख्मी मज़दूरों की सहायता करने की, और चोट-चपेट के कारण मर जाने पर उसके कुटुम्ब के लिए कुछ धन देने की, व्यवस्था थी। मज़दूरों के कुशल-क्षेम तथा हवा पानी आदि कुछ अन्य बातों के लिए भी नियम निर्धारित थे।

सन् १९३५ के शासन-विधान के अनुसार अप्रेल १९३७ में 'प्रान्तीय स्वराज्य' कायम हुआ। मदरास, बम्बई, बंगाल, संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त, बिहार, और उड़ीसा में कांग्रेस-सरकारें काम करने लगीं। इन्होंने अपने समय ( १९३७-३९ ) में यथा-सम्भव मजदूरों के हित का ध्यान रखा। बम्बई, बिहार, मध्यप्रान्त और संयुक्तप्रान्त की सरकारों ने विविध जाँच कमेटियाँ नियुक्त कीं और यथा-सम्भव उनकी सिफारिशों को कार्यरूप में परिणत किया।

सन् १९३८ में केन्द्रीय व्यवस्थापक मंडल ने इस आशय का कानून बनाया कि १५ वर्ष से कम आयु के बालकों से रेलों या जहाज़ों के यातायात-कार्य में मज़दूरी न कराई जाय। अगले वर्ष यह नियम किया गया कि बारह वर्ष से कम आयु के बालकों से बीड़ी बनाने, कालीन बुनने, सीमेंट बनाने, कपड़ा छापने या रंगने, दियासलाई, आतशबाजी या विस्फोट पदार्थ बनाने, ऊन साफ करने और अभ्रक तथा लाख ( चपरा ) आदि के कारखाने में काम न लिया जाय।

**सन् १९४८ का कानून**—स्वतंत्र भारत में, सन् १९४८ में नया कारखाना-कानून बनाया गया है। इसे तैयार करने में काफी समय लगा है, और इसके लिए कई बड़े-बड़े देशों के कारखाना-कानूनों का अध्ययन किया गया है।

इस कानून से ३,५००,००० मज़दूरों को सुविधाएँ मिलेंगी। प्रान्तों के अतिरिक्त यह उन रियासतों में भी लागू होगा, जो इस विषय में

केन्द्रीय सरकार का प्रभुत्व मान लेंगी। यह उन सभी कारखानों में अमल में लाया जायगा, जहाँ दस या इससे अधिक मजदूर काम करते हों और बिजली की शक्ति से काम लिया जाता हो; अथवा बीस या इससे अधिक व्यक्ति काम करते हों, चाहे शक्ति का प्रयोग होता हो या न होता हो।

मालिकों को श्रमजीवियों के स्वास्थ्य के लिए ठीक प्रबन्ध करना होगा। हरेक मज़दूर को नए कारखाने में कम-से-कम ५०० घन फुट और पुराने में ३५० घन फुट जगह देनी होगी। उनके पीने के लिए ठंडे पानी का प्रबन्ध करना होगा।

मालिकों को ऐसी व्यवस्था करनी होगी कि कारखाने आदमियों के रहने योग्य हों। उनमें प्रकृति की देन—धूप, रोशनी और हवा—का यथेष्ट प्रबन्ध हो। मजदूरों की पूरी रक्षा हो; उन्हें गन्दगी और छूत की बीमारियों और कारखाने की जोखिमों से सुरक्षित रखा जाय। उनके आराम करने और खाना खाने के कमरों की व्यवस्था की जाय।

जवान प्रति सप्ताह ४८ घंटे काम करेंगे परन्तु बालकों से प्रतिदिन साढ़े चार घंटे से अधिक काम नहीं लिया जायगा, और उनकी उम्र १३ वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए। जवान मजदूर को २० दिन, और बालक को १५ दिन, काम करने पर एक दिन की वेतन सहित छुट्टी मिलेगी।

इस कानून को तोड़ने वालों को कड़ी सजा दी जायगी; जुर्माने के अलावा कैद की सजा दी जाने की भी व्यवस्था है।

भारतीय श्रम-मंत्री श्री जगजीवनराम की इस कानून के बनवाने के लिए, व्यवस्थापक सभा के सभी सदस्यों ने प्रशंसा की। इसे कानून को 'मजदूरों का अधिकार-पत्र' कहा गया है। श्रम-मंत्री ने कहा कि मज़दूर अपने अधिकारों के साथ कर्तव्यों को भी समझें। उद्योगपतियों को चेतावनी देते हुए उन्होंने कहा कि यदि उन्होंने मजदूरों को अपने जैसा ही मनुष्य समझना शुरू नहीं किया तो वे अपने

सर्वनाश को आमंत्रित करेंगे। मैं खासकर उन्हीं के हित की बात कर रहा हूँ, क्योंकि राष्ट्र के खातिर अभी कुछ साल मैं उन्हें बचाना चाहता हूँ। यह स्पष्ट ही है कि इस कानून से मज़दूरों को यथेष्ट लाभ तभी पहुँचेगा, जब कारखानों के इन्स्पेक्टर अपने कर्तव्य का ठीक ईमानदारी से पालन करेंगे।

**खान और उनमें काम करनेवाले मजदूर**—सन् १९३९ में भारतवर्ष में ऐसी खानें, जिनपर खानों का कानून लगता था, १८६४ थीं, और उनमें ३,०१,००० आदमी काम करते थे। १९४१ में खानों में काम करनेवालों की संख्या ३,४७,०१८ थी। कुल खान-मजदूरों में से लगभग दो-तिहाई कोयले की खानों में हैं। अधिकतर खानों में मज़दूरों को जमीन के अंदर, तथा बहुत नीचे काम करना होता है। कोयले की खानों में आग लगने की बहुत आशंका रहती है। पिछले दिनों ऐसी दुर्घटनाएँ विशेष हुई हैं। कुछ खानों में किनारे पर पानी निकलता है, और इससे वहाँ बहुत सील रहती है। बड़ी खानों में ताज़ी हवा जाने-आने का प्रबन्ध किया हुआ रहता है, पर छोटी खानों में यह बात नहीं होती। सूर्य का प्रकाश तो खानों में जा ही नहीं पाता। अत; इनमें मज़दूरों का स्वास्थ्य जल्दी बिगड़ जाता है। फिर, मज़दूरों को शराब पीने की आदत पड़ जाती है, (दुर्भाग्य से कितने ही स्थानों में शराब, खानों के पास ही मिलने की व्यवस्था है), उससे वे अपनी कमाई—जो मामूली होती है—बहुत-कुछ उसमें उड़ा देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अपने भरण-पोषण के लिए भी उनके पास काफी पैसा नहीं रहता; फिर, दूध आदि की तो बात ही क्या! अधिकांश मज़दूर कर्ज़ में फंसे रहते हैं, साहूकार उनसे खूब ब्याज वसूल करता है। इससे उनकी आमदनी में और भी कमी हो जाती है। ऐसी दशा में उनके पास स्वास्थ्यप्रद मकान होने की आशा नहीं की जा सकती; प्राय: वे बहुत तंग, नमी वाले और अंधेरे स्थानों में गुज़र करते हैं, और विविध बीमारियों के शिकार बनते हैं।

**खानों का कानून**—कानून द्वारा कुछ बातों का सुधार होने में सहायता मिलती है। सन् १९३५ ई० के कानून की, जो १९२३ के कानून का संशोधित स्वरूप है कुछ मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :—

(१) कोई मज़दूर सप्ताह में छः दिन से अधिक काम में नहीं लगाया जा सकता।

(२) श्रमजीवी ज़मीन के ऊपर एक सप्ताह में ५४ घंटे, और एक दिन में दस घन्टे से अधिक काम नहीं कर सकता।

(३) जो श्रमी ज़मीन के अन्दर काम करते हैं, उनका समय, ज़मीन के अन्दर जाना आरंभ करने से, लौट कर ऊपर आने तक गिना जाता है। यह सब समय नौ घन्टे से अधिक नहीं होना चाहिए।

(४) पन्द्रह वर्ष से कम उम्र वालों से खानों में काम नहीं लिया जा सकता। स्त्रियों से ज़मीन के अन्दर काम लेने का निषेध है।*

इन मज़दूरों की उन्नति के सम्बन्ध में भी बहुत-कुछ वे ही बातें हैं, जो कारखानों के मज़दूरों के विषय में पहले बतायी जा चुकी हैं।

**कोयला-खान-मज़दूर सम्बन्धी क़ानून**—स्वतन्त्रता के पहले इन मज़दूरों की दशा बहुत शोचनीय थी। इनका असन्तोष, बढ़ जाने पर गतवर्ष सरकार ने इनकी जाँच करने के लिए एक समझौता-बोर्ड नियुक्त किया था। उसकी खासकर मजदूरी और मँहगाई सम्बन्धी कितनी हो सिफारिशें मानली गई और लागू करदी गई थीं। प्रोविडेंट फंड और बोनस सम्बंधी सिफारिश पर कार्रवाई होना बाकी था। इस विषय की योजना के सिद्धान्तों पर कोयला-खान-औद्योगिक समिति ने विचार करके उन्हें स्वीकार किया। इस समिति में सरकार, खान-मालिक और

* महायुद्ध (१९३९-४५) के समय स्त्रियों से ज़मीन के अन्दर खानों में काम लिया गया था; इसका जनता ने बहुत विरोध किया था।

मजदूर तीनों के प्रतिनिधि भाग लेते हैं। इस योजना को शीघ्र लागू करने के लिए सरकार ने पहले एक आर्डिनेंस जारी किया था। अब ( सन् १९४८ ) एक क़ानून बना दिया गया है।

इस कानून की मुख्य बातें ये हैं—प्रोवीडेंट फंड कोयले की सब खानों में काम करनेवालों के लिए अनिवार्य होगा। मजदूर और खान-मालिक दोनों इस फंड में बराबर बराबर रुपया देंगे। शुरू में इस फंड के लिए मजदूर के वेतन में से फी रुपया एक आना काटा जायगा। बोनस उत्पादन और हाजरी के हिसाब से मिलेगा। यदि कोई मज़दूर एक खान छोड़कर दूसरी खान में काम करेगा तो उसका उसके प्रोविडेंट फंड पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। इस योजना से अपनी नौकरी छोड़ने या बुढ़ापे के समय में मज़दूरों को एक खासी रकम मिल जायगी, जो उन्हें भूख और भीखमंगी से बचाएगी।

**पूँजी और श्रम का संघर्ष; हड़ताल और द्वारावरोध**—कल-कारखानों में यद्यपि श्रम और पूँजी दोनों सहायक होते हैं, परन्तु प्रायः श्रमजीवियों में आपस में विरोध रहता है। प्रत्येक अपने स्वार्थ को देखता है तो यह रहनेवाला ही ठहरा। आधुनिक औद्योगिक संसार में यह संघर्ष बढ़ता ही रहा है। भारतवर्ष में सन् १९२५ में औद्योगिक झगड़े १३४ हुए, और सन् १९३३ ई० में १४६। सन् १९३६ में तो इनकी संख्या ४०६ हो गई। इन झगड़ों में ४ लाख ६८ हजार आदमी लगे हुए थे। और, इनके कारण इतने काम की क्षति हुई, जितना एक लाख आदमी मिलकर पचास दिन में कर सकते हैं।

कल-कारखानों के मालिक मजदूरों से वेतन और छुट्टी आदि की शर्तें मनवाने के लिए कभी-कभी उनका काम पर आनारोक देते हैं—द्वारावरोध या तालाबन्दी करते हैं। इसी प्रकार असंतुष्ट मजदूर सम्मिलित रूप से अपना काम बन्द करके हड़ताल कर देते हैं।

हड़तालों के मुख्य कारण ये हैं :—(क) जीवन निर्वाह के पदार्थों

की मँहगाई। मज़दूरी या बोनस कम मिलना या समय पर न मिलना। (ख) कुछ मज़दूरों को काम पर से हटा देना, और उनके सङ्गठन को अस्वीकार करना। (ग) मजदूरों की बरखास्तगी तथा अन्य असुविधाएँ (घ) अधिक समय (घन्टे) तक काम लेना। (ङ) अफ़सरों तथा फोरमैनों का दुर्व्यवहार। (च) काम करने की जगह का स्वास्थ्यप्रद न होना, और रहने के स्थान का यथेष्ट प्रबन्ध न होना। द्वारावरोध हो, या हड़ताल, इनसे मालिक और मजदूर दोनों का ही नुकसान है। जनता के भी दुःखों का अन्त नहीं; धनोत्पत्ति में भी ये बहुत बाधक हैं। इनसे बचने के लिए पूँजी और श्रम के पारस्परिक संघर्ष को दूर किया जाना चाहिए। इसे रोकने के उपाय ये हैं:—(१) कारखाने से होनेवाले लाभ का काफ़ी अंश मजदूरों में बाँट दिया जाय (२) मजदूर अपनी थोड़ी-थोड़ी पूँजी इकट्ठी करके कारखानों में लगाएँ और इस प्रकार कारखानेवालों से होनेवाले लाभ में हिस्सा लें, (३) सब मजदूर एकमात्र अपनी ही पूँजी से (और अपने ही श्रम से) कारखाने को चलाएँ। इस दशा में कारखाना उनका ही होगा, दूसरा पक्ष होगा ही नहीं और इसलिए विरोध की बात भी न रहेगी।

**समझौते की व्यवस्था**—भारत-सरकार ने सन् १६२६ ई० में एक कानून बनाया था; १६३८ में इसमें संशोधन किया गया। इसके अनुसार यह व्यवस्था की गई कि जब मालिक और मजदूर दोनों पार्टियाँ चाहें, तो सरकार तटस्थ आदमियों की जाँच-अदालत या समझौता-बोर्ड स्थापित करे। इसकी रिपोर्ट प्रकाशित की जाया करे। रेल, डाक, तार, टेलीफोन, ट्राम, या पानी के नल आदि सार्वजनिक उपयोगिता के कामों में मासिक वेतन पर लगे हुए मजदूर हड़ताल करने से निर्धारित समय पूर्व सूचना दिया करें; मालिक भी पहले से सूचना देकर द्वारावरोध किया करें। जिस हड़ताल या द्वारावरोध का उद्देश्य औद्योगिक झगड़े को अपने निर्धारित क्षेत्र से अधिक बढ़ाने का हो, अथवा जिससे जनता को बहुत कष्ट हो, उसे गैर-कानूनी

ठहराया जाता है।

प्रान्तों में, इस विषय की कानूनी व्यवस्था खासकर बम्बई में हुई थी। साधारणतया मजदूर उससे असन्तुष्ट ही रहे। उन्हें यह शिकायत रही कि कानून में मज़दूरों के हितों का यथेष्ट संरक्षण नहीं किया गया। भारतवर्ष के स्वतंत्र होने पर यहाँ सरकार ने इस ओर विशेष ध्यान दिया। दिसम्बर १६४७ में दिल्ली में औद्योगिक सम्मेलन हुआ, उसमें यह समझौता कराने का विचार किया गया कि औद्योगिक क्षेत्रों में अभी कम-से-कम तीन साल शान्ति बनाई रखी जाय। उस सिलसिले में एक केन्द्रीय श्रम-सलाहकार समिति तथा प्रान्तों में प्रान्तीय समितियाँ नियुक्त करने का निश्चय किया गया। ये समितियाँ उद्योग और श्रम सम्बन्धी मुख्य-मुख्य प्रश्नों—यथा मजदूरों का उचित पारिश्रमिक, उन्हें मिलने योग्य सुविधाएँ और मुनाफे में हिस्सा आदि—पर विचार करेंगी। ऐसी समितियाँ निष्पक्ष और विचारपूर्ण निर्णय दें, और उन निर्णयों को सच्चाई और लगन के साथ अमल में लाया जाता रहे तो श्रमजीवी और पूंजीपतियों का आपसी विरोध हटने और औद्योगिक विकास होने में बहुत सहायता मिले। इस समय उत्पादन बढ़ाने की बहुत ही आवश्यकता है, इसलिए मजदूरों की हड़तालें, सरकार द्वारा अवैध घोषित की हुई हैं।

**श्रमजीवियों की उन्नति के कार्य**—हर्ष का विषय है कि भारतवर्ष के स्वतन्त्र होने पर यहाँ केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारें श्रमजीवियों के हित की ओर अधिकाधिक ध्यान दे रही हैं। पुराने कारखाना-कानूनों में संशोधन तथा नए कानूनों का निर्माण किया जा रहा है, यह पहले बताया जा चुका है। तथापि अभी कई सुधारों की आवश्यकता है। उदाहरणवत् मज़दूरों के स्वास्थ्य, और रहने के लिए मकान आदि का उचित प्रबन्ध करना आवश्यक है। जहाँ मिलें नगर के बाहर हों और स्थान काफी हो, वहाँ उनके लिए एक मंजिल के सादे मकानों की सहज व्यवस्था हो सकती है। इस काम के लिए मिलों के

निकट भूमि प्राप्त करने में सरकार को पूँजीपतियों की सहायता करनी चाहिए, और कुछ नियमों के अनुसार श्रमजीवियों की बस्तियाँ बनाने की आज्ञा देनी चाहिए। बहुत से मजदूरों को ऋण लेने की बुरी आदत पड़ जाती है। महाजन इससे अनुचित लाभ उठाते हैं। उनसे इनकी रक्षा की जाने की आवश्यकता है। कारखानों के मालिकों को चाहिए कि किसी खास महाजन को श्रमजीवियों के लिए आवश्यक और अच्छी वस्तु, साधारण दर से देने का ठेका दे दें। सहकारी समितियों से उनका बड़ा उपकार हो सकता है। मजदूरों के दिल-बहलाव और खेल-कूद का, तथा उन्हें शराब और जुए आदि की बुरी आदतों से बचाए रखने का भी प्रबन्ध होना चाहिए।

**मजदूरों को मुनाफे में साझा**—पहले कहा गया है कि पूँजी और श्रम के संघर्ष का एक उपाय यह है कि कारखाने में जो लाभ हो, उसमें मजदूरों का भी काफी हिस्सा रहे। पिछले दिनों इस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की गई थी। उसकी कुछ सिफारिशें इस प्रकार हैं—सूती कपड़ा, जूट, लोहा और इस्पात, सिगरेट, सीमेंट और टायर ये छः ऐसे उद्योग हैं, जिनमें अलग-अलग मुनाफे में साझे की योजना परीक्षार्थ पाँच साल के लिए काम में लाई जाय। जिन कारखानों को मुनाफा न हो, वे अपने श्रमियों को कुछ न दें। व्यवसाय के लिए प्राप्त पूँजी पर छः प्रतिशत, मुनाफे से पहले, निकाल लिया जाय, और यह रकम अलग जमा होती रहे। बची हुई रकम से २० से ३० प्रतिशत भाग रक्षित धन में ले जाया जाय, और इसके बाद जो बचे वह मालिकों और श्रमजीवियों में बराबर-बराबर बाँटा जाय। बम्बई, अहमदाबाद और शोलापुर में से, प्रत्येक की सब सूती मिलों के मुनाफे के आधार पर, हिस्से का निश्चय किया जाय। जिन कारखानों को ज्यादा मुनाफा हो, वे श्रमियों को ज्यादा रकम दें। शर्त यह रहे कि इस बढ़ती का केवल एक-चौथाई भाग नकद दिया जाय, और बाकी हिस्सा प्रोविडेन्ट फंड में जमा कर दिया जाय।

**बीमा योजना**—कुछ समय से मज़दूरों का बीमारी-बीमा विचाराधीन था। योजना यह थी कि कुछ रकम सरकार दे, कुछ रकम कारखानों के मालिक, और कुछ स्वयं मजदूर लोग। इस प्रकार बनाए हुए कोष से मज़दूरों को बीमारी के समय सहायता दी जाय, जिससे उन्हें उस समय आर्थिक कठिनाइयाँ विशेष न हों। अक्तूबर १६४८ में भारत के गवर्नर-जनरल श्री राजगोपालचारी ने मज़दूरों के लिए सरकारी-बीमा-कारपोरेशन का उद्घाटन किया। इस योजना से कम-से-कम बीस लाख मज़दूर लाभ उठाएँगे। इसके अन्तर्गत मज़दूरी की सब तरह की जोखिमें नहीं आतीं और न इसका सम्बन्ध समस्त मजदूरों से है। अभी केवल संगठित उद्योगों में काम करनेवालों के स्वास्थ्य और चिकित्सा का ही आयोजन किया गया है। धीरे-धीरे इसका क्षेत्र बढ़ाया जायगा। आशा है, इसे कुछ समय में राष्ट्रीय सुरक्षा योजना के रूप में परिणत कर दिया जायगा। मालिकों की ओर से इसे यथेष्ट सहयोग प्रदान करने का आश्वासन दिया गया है।

**श्रमजीवी-संघ**—कल कारखानों में काम करनेवाले मज़दूरों को क्रमशः यह अनुभव हुआ है कि यदि हम बिना संगठन के अलग-अलग रहेंगे, और कम मजदूरी स्वीकार करने के सम्बन्ध में आपस में प्रतियोगिता करेंगे, तो कारखाने का मालिक हमारी फूट से लाभ उठाएगा और मज़दूरी कम-से-कम देगा; इसलिए हमें मिलकर काम करना चाहिए। इस विचार से अब मजदूर अपना एक संगठित सङ्घ बनाते हैं। सङ्घ के सभापद नियमानुसार चन्दा देकर एक कोष स्थापित कर लेते हैं। जब कोई सभासद बीमार पड़ जाता है, या किसी दुर्घटना अथवा हड़ताल आदि के कारण काम करने योग्य नहीं रहता, तो उसे इस कोष से सहायता दी जाती है। यदि किसी के व्यवसायोपयोगी औज़ार आदि नष्ट हो जाते हैं, तो वे खरीद दिए जाते हैं। वह संघ मजदूरों के सुधार, शिक्षा, मनोरंजन और स्वास्थ्य आदि के विषय में यथा-शक्ति ध्यान देता रहता है। मजदूरी की दर ऊँची रखने के

लिए कभी-कभी कुछ श्रमजीवी-संघ यह भी कोशिश करते हैं कि उनके क्षेत्र में काम करनेवालों की संख्या परिमित रहे। ये बाहर से आए हुए नए मजदूरों को, वह काम नहीं करने देते, जिसे ये खुद करते हैं। इन सङ्घों का बहुधा यह काम भी रहता है कि वे निर्बल मजदूरों को समर्थ पूँजीपतियों का सामना करने की शक्ति प्रदान करें।

भारतवर्ष में पहले ट्रेड-यूनियन या मजदूर-सङ्घ का सूत्रपात सन् १८९० से हुआ। पहले महायुद्ध के पश्चात् क्रमशः इनकी वृद्धि होती गई; बम्बई और बंगाल में विशेष प्रगति हुई; अब तो भारतवर्ष के सभी मुख्य औद्योगिक स्थानों में मजदूर-सङ्घ कार्य कर रहे हैं। सन् १९३८-३९ में भारतवर्ष के प्रान्तों में रजिस्टर्ड मजदूर-सङ्घ, ५५४ थे। इनमें से ३९४ का हिसाब प्रकाशित हुआ; उनके लगभग चार लाख सदस्य थे, जिनमें से करीब ११ हजार स्त्रियाँ थीं। उनकी आय लगभग नौ लाख रुपए थी। अधिकतर स्थानों में उनका सङ्गठन या आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। मजदूर-सङ्घ-कानून सन् १९१६ में बना। सङ्घों का प्रबन्ध प्रान्तवार है। जिस प्रान्त में किसी सङ्घ का प्रधान कार्यालय होता है, उस में सङ्घ के सात या अधिक सदस्य उसकी रजिस्टरी करा सकते हैं। पन्द्रह वर्ष से कम उम्र के आदमी रजिस्टर्ड सङ्घ के सदस्य नहीं हो सकते।

भारतवर्ष में अहमदाबाद आदि कुछ स्थानों में मजदूर-सङ्घ बहुत; कुछ म० गाँधी के आदेशानुसार काम करते रहे हैं। बम्बई में वे प्रायः कम्युनिष्ट तथा दूसरे लोगों के नेतृत्व में थे। और, कानपुर आदि कुछ स्थानों में दोनों ही तरह के संघ थे। जहाँ एक जगह दोनों तरह के संघ थे, वहाँ उनमें अकसर आपस में ही विरोध और संघर्ष होता था। सन् १९४९ में सरकारी तौर पर मजदूरों की केन्द्रीय संस्था 'अखिल भारतवर्षीय ट्रेड-कांग्रेस' की स्थापना हुई। इसे मजदूरों सम्बन्धी विविध विषयों का समझौता करने-न-करने का अधिकार है।

**विशेष वक्तव्य**—अन्य औद्योगिक देशों की तुलना में, भारतवर्ष

में मज़दूरों के संगठन बहुत कम हैं। यहाँ जो-कुछ संगठन है, वह प्रायः शहरों में रहनेवाले, तथा कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों का है। परन्तु देश में खासी बड़ी संख्या उन लोगों की भी है, जो खेती पर काम करते हैं, और गाँवों में रहते हैं। इनका मजदूर-संघ आदि के रूप में कोई संगठन नहीं है। इनकी जातिगत पंचायतें अवश्य हैं, पर वे केवल सामाजिक विषयों का विचार करती हैं, और जिन्हें अपराधी समझती हैं, उन्हें दण्ड देती हैं। वे मजदूरों की आर्थिक दशा सुधारने की ओर ध्यान नहीं देतीं। इन मजदूरों की भिन्न-भिन्न जातियों की पंचायतों में परस्पर कोई सहयोग नहीं होता। इस प्रकार देहाती मजदूरों की शिकायतें दूर करने का सङ्गठित प्रयत्न प्रायः कुछ नहीं हो रहा है। इस ओर बहुत ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है।

स्मरण रहे कि हम मजदूरों के इन संघों की स्थापना को एक सामयिक युक्तिमात्र समझते हैं; यह हमारा आदर्श नहीं। परमात्मा करे, औद्योगिक संसार के लिए वह समय शीघ्र आ जाय, जब पूँजीपतियों और मजदूरों को एक-दूसरे के विरुद्ध दलबन्दी करने की जरूरत ही न रहे, दोनों पक्ष पारस्परिक हितों का यथेष्ट ध्यान रखें।



# नवाँ अध्याय

## खेती



उत्पत्ति के विविध साधनों—भूमि, श्रम पूँजी, और व्यवस्था—का भारतीय दृष्टि से विचार कर चुकने पर अब यहाँ की खेती और उद्योग-धंधों पर विचार करना है। इस अध्याय में खेती का विषय लेते हैं।

**हमारी खेती की उपज**—जैसा कि पहले बताया जा चुका है,

देशी राज्यों को छोड़कर शेष भारत में २१ करोड़ एकड़ भूमि जोती जाती है। भिन्न-भिन्न भागों की जल-वायु, उष्णता, तथा तरी आदि विविध प्रकार की होने से, यहाँ प्रायः सब प्रकार के खाद्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। अन्नों में यहाँ चावल, गेहूँ, चना, ज्वार, बाजरा, जौ, मकई, आदि मुख्य हैं। दालों में मूंग, उड़द, अरहर, मटर, मसूर, आदि पैदा होती हैं। तेलहन में तिल, सरसों, अलसी आदि प्रधान हैं। अन्य पदार्थों में गन्ना, तथा विविध फल, सब्ज़ी मसाले और मेवा आदि होती हैं। अखाद्य पदार्थों की पैदावार में कपास, सन (जूट), नील, अफ़ीम, कहवा, चाय, तमाखू और पशुओं का चारा विशेष उल्लेखनीय है। खेती से उत्पन्न पदार्थों की मात्रा की दृष्टि से भारतवर्ष का संसार में तीसरा नम्बर है। सब देशों की सन की माँग यही पूरी करता है। गेहूँ, कपास, चावल आदि की पैदावार में भी यह अच्छा स्थान रखता है। परन्तु देश-निवासिओं की आवश्यकताओं को देखते हुए यहाँ की उपज कम है। तुलना करने पर मालूम हुआ है कि यहाँ फी एकड़ गेहूँ, जौ, कपास, गन्ने आदि की उत्पत्ति, कई देशों से कम होती है। इसका यह मतलब नहीं कि हमारी भूमि दूसरे देशों की ज़मीन से कम उपजाऊ है, क्योंकि कृषि-विभाग के अफ़सर इसी ज़मीन पर नए तरीकों से खेती करके उपज दूनी-तिगुनी कर लेते हैं। बम्बई-प्रांत के कृषि-विभाग के भूतपूर्व डायरेक्टर श्री० कीटिङ्ग का कहना है कि भारत में नए तरीकों के उपयोग से अस्सी फी सैकड़ा उपज आसानी से बढ़ाई जा सकती है। परन्तु इसके लिए हमें किसानों की असुविधाएँ दूर करने की आवश्यकता है।

बाधाएँ—भारतवर्ष में कृषि सम्बन्धी मुख्य-मुख्य बाधाएँ ये हैं—

१—किसान अशिक्षित और प्रायः निर्धन हैं।

२—उनकी ज़मीन बहुत छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त है, जो बहुधा दूर-दूर भी है।

३—कुछ जमीन ऐसी है कि उसमें खेती करना लाभदायक

नहीं है।

४—बहुत सी जमीन ऐसी है, जिसमें खेती सम्भव तो है, पर की नहीं जाती।

५—बहुत सी भूमि परती छोड़ दी जाती है।

६—देश के कई भागों में सिंचाई के साधन नहीं हैं।

७—उत्तम बैल, बीज, खाद और औजारों की कमी है।

८—यहाँ बढ़िया और नई किस्म की चीज़ें पैदा नहीं की जातीं।

**किसानों की निर्धनता और निरक्षरता**—किसानों की निर्धनता कितनी अधिक है, यह पहले बताया जा चुका है। यद्यपि खेती की पैदावार के भाव ऊंचे होने के कारण इस समय बहुत से किसानों के पास खूब पैसा दिखाई देता है, उनकी यह आर्थिक स्थिति स्थायी नहीं है। वे अपनी आय का खासा भाग मुकदमेबाज़ी, या विवाहशादी और मृतक-भोज आदि सामाजिक कार्यों में खर्च कर डालते हैं, इसे कम करने की आवश्यकता है। इसमें विशेष सफलता, किसानों में ज्ञान का प्रसार होने पर मिलेगी। उनकी शिक्षा कैसी हो, यह पहले बताया जा चुका है।

**खेतों के छोटे-छोटे और दूर-दूर होने को रोकने के उपाय**—भारतवर्ष में बहुत से खेतों का क्षेत्रफल एक-एक दो-दो एकड़ भी नहीं है। कितने ही खेतों का विस्तार तो केवल आधा-आधा एकड़, अथवा इससे भी कम है। इसके अतिरिक्त अनेक किसानों के पास एक से अधिक खेत हैं, जो प्रायः एक-दूसरे से दूर-दूर हैं। इससे काश्तकारों को बहुत नुकसान होता है। आने-जाने में उनका बहुत सा समय नष्ट हो जाता है, उन्हें वैज्ञानिक यंत्र इत्यादि का उपयोग करने में बहुत असुविधा होती है, तथा वे उससे यथेष्ट लाभ नहीं उठा सकते। रखवाली करने में बहुत दिक्कत होती है। उन खेतों के मेंड़ तथा उनमें नहर से पानी ले जाने में बड़ी अड़चन पड़ती है; और काश्तकारों का पारस्परिक झगड़ा भी बढ़ता है। इन हानियों को हटाना आवश्यक है,

और उसका एकमात्र उपाय यह है कि प्रत्येक किसान की जोत के खेत एक स्थान में—एक चक में --हो जायँ, और भविष्य में उनका छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटा जाना कानून से रोक दिया जाय। इसका तरीका यह है कि जिस गाँव के किसान चकबंदी के लाभ समझ जाते हैं, वहाँ एक सहकारी समिति सब किसानों से प्रायः चार वर्ष तक के लिए उनकी जमीन का त्यागपत्र लिखा लेती है, और, सब जमीन के चक बनाकर उन्हें किसानों में उचित परिमाण में इस तरह बाँट देती है कि प्रत्येक किसान की भूमि एक ही स्थान में हो, और, हर एक किसान को दी जानेवाली भूमि का मूल्य उतना ही हो, जितना पहले उस किसान की जमीन के विविध टुकड़ों का था। ज़मीन के इस बँटवारे में सहकारी समिति के दो-तिहाई सदस्यों का सहमत होना आवश्यक है। चार वर्ष के बाद, यदि किसी किसान का विरोध न हो (और, प्रायः विरोध नहीं होता) तो जमीन के बँटवारे की यह व्यवस्था स्थायी कर दी जाती है।

आजकल खेतों के बँटवारे का मुख्य कारण हिन्दू और मुसलमानों का दाय-विभाग-कानून है। इस कानून में ऐसा परिवर्तन हो जाना चाहिए कि किसी हकदार को खेत के उतने भाग से कम मिलना नाजायज़ समझा जाय, जितने से उसके परिवार का निर्वाह हो सके। और, जब कोई ऐसा प्रसंग आए, तो पूरा खेत सब हकदारों में ही नीलाम कर दिया जाय। जो कोई उसके लिए सबसे ज्यादह रुपए देने को तैयार हो, उसी को वह खेत मिले; दूसरे हकदारों को उनके हिस्से के अनुसार रुपया दिलाया जाय। हम सारी जमीन बड़े लड़के को दिए जाने की बात नहीं कहते; ऐसा करना हिन्दू और मुसलमान, दोनों के धर्मशास्त्रों के सिद्धांत के विरुद्ध होगा। उपर्युक्त थोड़े से परिवर्तन से ही उद्देश्य सिद्ध हो सकता है।

**बे-मुनाफे की खेती**—ऊपर खेतों की चकबन्दी की बात कही गई है। लेकिन चकबन्दी होने पर भी बहुत से खेत इतने छोटे-छोटे

रहेंगे कि उनमें अलग-अलग खेती करने से कोई लाभ न होगा; यहाँ तक कि किसानों को अपनी मेहनत का उचित पारिश्रमिक भी न मिलेगा, और उनका गुजारा न होगा। इसे दूर करने के लिए आवश्यकता है कि यहाँ राज्य की ओर से रूस की तरह सामूहिक खेती की व्यवस्था की जाय। कई-कई गाँवों के, और कम-से-कम एक गाँव के सारे किसानों की भूमि में इकट्ठा खेती की जाय; सब किसानों का उसमें सहयोग हो; बीज, बैल, औजारों तथा अन्य पूँजी के लिए इकट्ठा प्रबन्ध हो। फसल पैदा करने से लेकर उसकी बिक्री और वितरण तक के सभी कामों में सहकारिता हो। हरेक किसान को, आमदनी उसकी साधारण आवश्यकताओं के अनुसार तो अवश्य ही हो; जिन किसानों की भूमि अधिक हो, या अधिक मेहनत करें, उन्हें अपने जीवन निर्वाह कर सकने से अधिक आमदनी होती रहे।

**ऐसी भूमि जिसमें खेती सम्भव है, पर की नहीं जाती—** हमारी फी सैकड़े लगभग १८ भूमि ऐसी है, जिसमें फसल पैदा होना सम्भव है, पर की नहीं जाती। विदेशी तथा दूसरे ऐसे आदमी जो यहाँ की वास्तविक परिस्थिति को नहीं जानते, भारतवर्ष में इतनी अधिक भूमि के बेकार बने रहने पर आश्चर्य किया करते हैं। बात यह है कि इस भूमि में खेती करने में कई तरह की बाधाएँ हैं। कहीं तो कांस नाम की घास उगी रहती है, जिसकी जड़ें ज़मीन के अन्दर बहुत गहराई तक गई हुई होती हैं। इस घास को निकालना, और इस भूमि में हल चलाना या बीज बोना सहज ही नहीं हो सकता। कुछ ज़मीन दलदल वाली है, इसलिए उसमें खेती नहीं की जा सकती। कहीं कहीं की आबहवा स्वास्थ्य के लिए बहुत खराब है। कुछ जगहों में घना जंगल है, पर ऐसा नहीं जिसे जंगल के रूप में उपयोग किया जाय। कुछ जगह ऐसी है, जहाँ जाने-आने के लिए रास्ते न होने से वहाँ आसानी से पहुँचा नहीं जाता। सड़कें बन जाने से इस भूमि का खेती के लिए उपयोग हो सकता है। ऊपर जिक्र

की हुई दूसरी ज़मीन को भी कोशिश करके ऐसा बनाया जा सकता है कि वहाँ खेती हो सके। बहुत से स्थानों को, जहाँ पहले बीमारी बहुत होती थी, अब विज्ञान की सहायता से स्वस्थ और रहने योग्य बनाया गया है। इसी तरह कहीं-कहीं दलदल वाली जमीन भी सुधारी गई है, और अब उसमें खेती भली भांति हो सकती है। अवश्य ही ऐसे कामों में खर्च बहुत होता है। तथापि सरकार को इन्हें करना चाहिए; इनसे देश की आय बढ़ती है, और अनाज की कमी दूर होने में सहायता मिलती है।

कुछ भूमि में खेती न करने का कारण यह होता है कि वह बंजर होती है। विज्ञान की सहायता से इस भूमि की समस्या बहुत-कुछ हल हो सकती है। इसके लिए पहले मिट्टी का परीक्षण और विश्लेषण करके यह मालूम किया जाता है कि इसमें कौन-कौन से तत्व किस परिमाण में विद्यमान हैं, कृषि की दृष्टि से कौनसा तत्व अधिक है, और कौनसा कम। पश्चात् उसमें ऐसा कृत्रिम तथा रासायनिक खाद दिया जाता है, जिससे विविध तत्वों का अनुपात ऐसी मात्रा में हो जाय कि उस मिट्टी में उपयोगी फसल भली भाँति पैदा हो सके। भारतवर्ष में कुछ स्थानों में यह अनुभव किया गया है, कि जिस भूमि में खार अधिक हो, उसमें गुड़ के शीरे का खाद देने से वह काफी उपजाऊ हो सकती है।

**परती भूमि का उपयोग**—यहाँ प्रति वर्ष लगभग १० फी सैकड़े भूमि ऐसी होती है, जिस पर एक फसल बोकर बाद में उसे परती छोड़ दिया जाता है, जिससे वह आराम करले, और उसके जो-जो तत्व फसल बोने से चले गए हैं, वह वायु-मंडल द्वारा उसमें आ जायँ। विचार-पूर्वक फसलों को हेर-फेर से बोने का सिद्धान्त काम में लाने से परती भूमि पर खेती की जा सकती है। इसका अभिप्राय यह है कि भूमि में एक फसल के बाद दूसरी ऐसी फसल बोई जाय, जो उन तत्वों को लेनेवाली हो, जो पहली फसल के तैयार होने के बाद शेष रहे हों। इस बीच में वायु-मंडल द्वारा अन्य तत्वों की पूर्ति हो जायगी।

उदाहरणार्थ नील या सन के बाद गेहूँ; मकई या ज्वार के बाद चना, मसूर या मटर; कपास के बाद मकई; जूट के बाद चावल; और ज्वार-बाजरे या गेहूँ के साथ-साथ दालें बोई जा सकती हैं। इस प्रकार भूमि बारहों महीने जोती जा सकती है, और बेकार परती छोड़नी नहीं पड़ती।

**सिंचाई**—पहले बताया जा चुका है कि भारतवर्ष के कुछ भाग ऐसे हैं, जिनमें वर्षा बहुत कम होती है, तथा कुछ भागों में वर्षा काफी होने पर भी अनिश्चित रहती है। फिर, चावल और गन्ने आदि की कुछ फसलें ऐसी हैं, जिन्हें जल काफी और नियमित रूप से मिलना चाहिए; वर्षा से बहुत कम स्थानों में ऐसा होता है। इसके अतिरिक्त, जनसंख्या की वृद्धि के कारण साल में दूसरी फसल की आवश्यकता होती है; अधिकांश जनसंख्या की आजीविका का मुख्य आधार कृषि ही है। इन सब कारणों से यहाँ सिंचाई की आवश्यकता स्पष्ट है।

सिंचाई के लिए यहाँ कुएँ और तालाब तो प्राचीन काल से हैं, परन्तु नहरों का उल्लेख विशेषतया मुसलमानों के समय से ही मिलता है। संयुक्तप्रान्त, पञ्जाब, मदरास, बम्बई और बिहार में नहरों से भी बहुत काम लिया जाता है। मैसूर, हैदराबाद, पूर्वी मदरास, राजपूताना और गुजरात में तालाब सिंचाई के काम आते हैं; मदरास के पूर्वी भाग में कुछ तालाबों का घेरा कई-कई मील है। कुएँ प्रायः किसानों के बनवाए हुए हैं, कहीं-कहीं धनी-मानी या परोपकारी सज्जनों ने बनवा दिए हैं; सरकार ने भी कुछ दशाओं में उनके लिए सहायता दी है। तालाब जनता तथा सरकार दोनों के ही द्वारा बनवाए गए हैं। नहरों का बनवाना साधारण आदमियों के वश की बात नहीं, इन्हें तो राजा-महाराजा अथवा सरकार ही बनवा सकती है।

भारतवर्ष में सरकारी नहरों के दो भेद हैं:—(१) उत्पादक; जिनसे इतनी आय हो जाय कि उनकी व्यवस्था का खर्च तथा उनमें लगी हुई पूँजी का सूद आदि निकल सके और कुछ लाभ भी हो जाय।

(२) रक्षात्मक; जिनसे ऐसी आय नहीं होती कि आवश्यक खर्च निकलने के बाद, उनमें लगी हुई पूँजी का सूद निकल सके। ये दुर्भिक्ष-निवारण के लिए बनाई जाती है। भारतवर्ष के नहरों के निर्माण की ओर विशेष ध्यान इसी शताब्दी में दिया गया है। सन् १९०३ ई० के आबपाशी-कमीशन की रिपोर्ट के बाद सरकार ने कई नहरें बनवाई हैं। पंजाब में नहरें निकालने से कई जगह अच्छी सुन्दर नहरी बस्तियाँ या उपनिवेश (कालोनी) हो गए हैं। सिंचाई के साधनों की दृष्टि से, पंजाब के बाद दूसरा स्थान मदरास प्रान्त का है। संयुक्तप्रान्त में शारदा नहर निकाली गई है, इससे कई लाख एकड़ भूमि में आबपाशी होती है। सिन्ध में सक्खर बाँध बनाया गया है, जिससे सिन्ध की लाखों एकड़ बंजर भूमि हरी भरी और उपजाऊ हो गई है।

सन् १९४३-४४ में भारतवर्ष के प्रान्तों में सरकारी नहरों से ३ एकड़ भूमि सींची गई थी, जबकि जोती हुई सम्पूर्ण भूमि का क्षेत्रफल लगभग २५ करोड़ एकड़ था। यह स्पष्ट है कि अधिकांश भूमि की खेती का आधार केवल वर्षा है। यह ठीक नहीं। नहरों की यहाँ बहुत आवश्यकता है, विशेषतया दक्षिण मालवा, गुजरात, मध्यप्रान्त, सिन्ध और राजपूताने के अनिश्चित वर्षावाले इलाकों में। समुद्र के निकटवर्ती तथा अन्य जिन प्रान्तों में हवा निरन्तर चलती है, वहाँ हवा से चलने-वाले रहँट द्वारा कुओं से जल निकालने की विधि बहुत लाभकारी हो सकती है। संयुक्तप्रान्त आदि कुछ प्रान्तों में 'ट्यूबवेल' नामक कुओं का प्रचार बढ़ता जा रहा है; इन्हें 'पाताल-फोड़' कुएँ कहते हैं। इनकी गहराई बहुत अधिक होती है; इनसे पानी का अनन्त स्रोत मिलता है। जल निकलने का काम विद्युत शक्ति से लिया जाता है, जिसके विषय में अन्यत्र लिखा गया है।

डा० बालकृष्ण जी ने लिखा है कि आजकल कई उन्नत देशों में बिना सिंचाई की खेती ('ड्राई फार्मिङ्ग') का कार्य बढ़ रहा है। अम-रीका में जल की कमी से फसलें नहीं मर सकतीं, क्योंकि किसान लोग

वर्षा ऋतु में ही अपने खेतों को ऐसा तैयार कर लेते हैं कि उनके नीचे काफी जल रहता है जिस भूमि पर बारह इंच की वर्षा होती हो वह लहलहाते खेतों में परिवर्तित की जा सकती है। भारतवर्ष में इस रीति के प्रचार का विचार होना चाहिए; यहाँ राजपूताना, सिन्ध आदि प्रदेश बहुत खुश्क हैं।

**खेती के पशुओं आदि का सुधार**—भारतवर्ष में खेती पशुओं से, और खासकर बैलों से की जाती है। यहाँ इनकी दशा कैसी है, यह पहले बताया जा चुका है। इनकी नस्ल सुधारने की, इनके लिए चरागाहों का प्रबन्ध की, और किसानों की आर्थिक दशा ऐसी होने की आवश्यकता है कि वे उन्हें पेट-भर और पौष्टिक भोजन दे सकें, स्वास्थ्यप्रद स्थान में रख सकें और आवश्यकता होने पर उनकी चिकित्सा आदि की समुचित व्यवस्था कर सकें। वर्तमान अवस्था में बहुत कम किसान अच्छे बढ़िया बीज खाद, और औजारों का उपयोग करते हैं। सहकारी समितियों, तथा सरकारी कृषि-विभाग से इस विषय में यथेष्ट सहायता मिलनी चाहिए।

**बढ़िया तथा नई किस्म की चीजों की उत्पत्ति**—हमारे किसान जैसे-तैसे पैदावार का परिमाण बढ़ाने की तो फिक्र करते हैं, परन्तु उसे बढ़िया प्रकार का करने का प्रयत्न नहीं करते। अन्य कई देशों में कई पदार्थों का रूप-रङ्ग और आकार आदि बदल कर उसकी उपयोगिता बहुत बढ़ा दी गई है, और दूसरे पदार्थों के सम्बन्ध में ऐसा प्रयत्न किया जा रहा है। भारतवर्ष में ऐसा सफल प्रयत्न विशेषतया रूई में हुआ है। अब यहाँ मिस्र की तरह की रूई पैदा की जाने लगी है, इसका सूत बहुत महीन होता है। सरकारी फार्मों में कुछ अन्य पदार्थों के प्रयोग हुए हैं, पर अभी जनता में उनका यथेष्ट प्रचार नहीं हुआ। कुछ समय से ग्राम-उद्योग-सङ्घ, जिनके सम्बन्ध में अगले अध्याय में लिखा जायगा, ऐसे प्रयोग कर रहा है। पिछले दिनों उसने 'सोयाबीन' के गुणों की परीक्षा की, और किसानों को

उसकी खेती के लिए प्रोत्साहित किया। इस दिशा में कार्य करने के वास्ते बहुत क्षेत्र पड़ा है। उत्साही आदमियों को मिल-जुल कर उद्योग करना चाहिए।

प्रायः खेतो की पैदावार बिकने की यथेष्ट व्यवस्था नहीं है। बहुधा उसके अच्छे दाम नहीं उठते। इसके अतिरिक्त अनेक स्थानों में बे-मुनाफे की खेती होती है। किसान को अपनी मेहनत का यथेष्ट प्रतिफल नहीं मिल पाता। इसमें सुधार होने की आवश्यकता है। इसका विशेष विचार आगे प्रसंगानुसार किया जायगा।

**सरकारी कृषि-विभाग**—भारतवर्ष में यह बात अति प्राचीन काल से मानी जाती है कि राज्य को खेती और किसानों की उन्नति में यथेष्ट भाग लेना चाहिए। हिन्दू राजा तो इस ओर अपना महान कर्त्तव्य पालन करते ही थे, मुसलमान शासकों ने भी देश की आर्थिक उन्नति के लिए इस दिशा में समुचित प्रयत्न किया। अंगरेजी शासन में एक विशेष सरकारी विभाग द्वारा कृषि की उन्नति करने का विचार सर्व-प्रथम सन् १८६६ में, उड़ीसा में अकाल पड़ने के अवसर पर हुआ। सन् १८८० के अकाल-कमीशन ने भी इस विषय की सिफारिश की।* फल-स्वरूप विविध प्रान्तों में कृषि-विभाग स्थापित किए गए, परन्तु बहुत समय तक इनसे विशेष कार्य न हुआ। सन् १९०५ ई० में इन विभागों के संगठन तथा आर्थिक स्थिति में सुधार किया गया, और एक केन्द्रीय कृषि-विभाग (बोर्ड) स्थापित किया गया। इस विभाग के प्रयत्नों से, विशेषतया भिन्न-भिन्न प्रकार की जमीनों में उचित खादों के उपयोग, अच्छे बीज, पौधों के रोग और उनके निवारण, नए तरह के औजारों के उपयोग, पशु-चिकित्सा और नए तरीकों से खेती करने के सम्बन्ध में कई उत्तम बातों का ज्ञान प्राप्त होता है; परन्तु उस

* लंकाशायर के कपड़े के कारखाने वाले भी बहुत चाहते थे कि भारतवर्ष में लम्बे रेशेवाली रूई पैदा की जाय। उन्होंने इस उद्देश्य से सरकार का ध्यान कृषि सम्बन्धी उन्नति की ओर दिलाया।

ज्ञान का सर्वसाधारण में यथेष्ट प्रचार करने के लिए कुछ सन्तोषजनक प्रयत्न नहीं किया। पूसा (बिहार) में एक केन्द्रीय अनुसन्धान संस्था (इम्पीरियल रिसर्च इन्स्टीच्यूट) स्थापित की गई थी; सन् १९३६ से वह देहली में है। कुछ खास-खास नगरों में चीनी, दूध, मक्खन, रूई, गन्ना आदि भी अनुसन्धान-संस्थाएँ हैं। इनके सम्बन्ध में भी उपर्युक्त बात ही लागू होती है।

१९२६ ई० में यहाँ एक शाही कृषि कमीशन नियत हुआ था। उसने अपनी रिपोर्ट से कृषि-सम्बन्धी उन्नति, अनुसन्धानों, भूमि-विभाजन, कृषि-प्रदर्शनियों (नुमायशों), पशु-चिकित्सा, आबपाशी, देहाती जीवन, कृषि-शिक्षा, सरकारी-साख-समितियों और कृषि सम्बन्धी नौकरियों पर अपने विचार प्रकट किए थे। इस रिपोर्ट के आधार पर एक कृषि-कौंसिल बनाई गई, जिसका कार्य खेती की उन्नति का विचार करना है। १९३५ ई० से भारत-सरकार ग्रामोन्नति के लिए कुछ कार्य करने लगी है, उसका उल्लेख अन्यत्र किया जायगा। यहाँ दूसरी बातों का विचार करना है।

**बंगाल का अकाल और उसकी जाँच**—सन् १९३५ के शासन-विधान से पहले चावल-प्रदेश वाला बर्मा भारतवर्ष का ही अंग था उस दशा में यहाँ खासकर गेहूँ की कमी होती थी। यह कभी आस्ट्रेलिया और कनाडा से गेहूँ मंगाकर पूरी की जाती थी। जब बर्मा भारत से अलग कर दिया गया तो बर्मा-रहित भारतवर्ष में चावल की कमी होने लगी। सन् १९३९ से दूसरा योरपीय महायुद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध के समय बाहर से अन्न आदि आना बहुत कठिन होता ही है, इसके अलावा भारतवर्ष में उस समय सरकारी प्रबन्ध भी बहुत खराब रहा। इसका नतीजा यह हुआ कि बंगाल में, सन् १९४३ में बहुत भयकर अकाल पड़ा। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार इसमें १५ लाख, और दूसरे हिसाब लगानेवालों के मत से इसमें ३५ लाख आदमी मर गए। जो आदमी इस अकाल में रोगग्रस्त होकर कष्ट

पाते रहे, उनकी संख्या रही अलग। इस अकाल की जाँच करनेवाले वुडहेड-कमीशन ने इसके जो कारण बताए हैं, उनमें से मुख्य ये हैं—(१) बर्मा का चावल न आना, (२) बंगाल-सरकार प्रान्त में अनाज का संग्रह और वितरण करने में असफल रही (३) जनता का बंगाल की सरकार में विश्वास नहीं रहा था। (४) भारत-सरकार ने अपनी अनाज-नीति निर्धारित करने में गलती की। (५) बगाल में अनाज की कमी होते हुए भी चावल बाहर भेजा गया। (६) चोर-बाजार (ब्लैक मार्केट), और घूसखोरी का जोर रहा; सरकार ज़रूरत के समय जनता को अनाज न दे सकी, इससे अनाज की कीमत छः गुनी बढ़ गई। (७) जापानी आक्रमण के भय से, नावों आदि पर सरकारी कब्जा हो जाने से भीतरी व्यापार चौपट हो गया। (८) सन् १६४१ की 'अमन' की फसल अच्छी न थी।

**सरकारी अन्न-वितरण नीति**—सन् १६४३ से सरकार के प्रयत्न देश में अन्न के समान वितरण पर केन्द्रित रहे। उसने 'खाद्यान्न-नीति-समिति' की सिफारिश के अनुसार किसानों से अन्न निर्धारित मूल्य पर खरीद कर देश के विविध भागों में भेजा। सरकार को अपनी पैदावार निर्धारित मूल्य पर बेचने से किसानों को घाटा रहा, क्रमशः उनका असन्तोष बढ़ा। आखिर, सितम्बर १६४७ में देश के खाद्य-उत्पादन को आगामी ५ वर्ष से निश्चित रूप से बढ़ाने के उपाय सुझाने के लिए 'पुरुषोत्तमदास समिति' की नियुक्ति की गई।

**'अधिक अन्न उपजाओ'-आन्दोलन**—यह आन्दोलन बर्मा से आनेवाले चावल की कमी को पूरा करने के लिए सन् १६४२ में प्रारम्भ किया गया था; इस प्रकार यह एक आकस्मिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए था। इससे देश की खाद्य सम्बन्धी समस्त आवश्यकता पूरी नहीं हुई। सन् १६४६-४७ में देश के सात प्रमुख खाद्यान्नों चावल, ज्वार, बाजरा, मक्का, गेहूँ, चना और जौ की पैदावार में अन्दाजन १० लाख टन की वृद्धि हुई। 'खाद्यान्न-नीति-समिति' ने

कम-से-कम समय में प्रतिवर्ष एक करोड़ टन की वृद्धि करने की सिफारिश की थी। यह वृद्धि बहुमुखी योजनाओं—सिंचाई, खाद, और उत्तम बीजों द्वारा भूमि की उत्पादन शक्ति बढ़ाने तथा कृषि योग्य बंजर भूमियों के विकास द्वारा हो सकती है। इस विषय की कुछ बातों का विचार पहले किया जा चुका है, और कुछ का आगे किया जायगा।

इस सम्बन्ध में दो बातें याद रखने की हैं। प्रथम तो कृषि बहुत-कुछ वर्षा के आश्रित है। थोड़े से समय की अति वर्षा या अनावृष्टिसे साल भर की पैदावार को बहुत क्षति पहुँच सकती है। दूसरी बात यह है कि कृषि प्रान्तीय विषय है। केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय योजनाओं के लिए परामर्श या आर्थिक सहायता दे सकती है, अनुसंधान करा सकती है, तथा आवश्यक सामग्री की व्यवस्था कर सकती है परन्तु अन्नोत्पादन में वृद्धि करने का कार्य प्रान्तीय सरकारें ही कर सकती हैं। इन सरकारों के कर्मचारियों ने अपने लेखों और व्याख्यानों में किसानों को कहा कि 'खाद्य सामग्री अधिक उपजाओ।' परन्तु ऐसा कहने मात्र से क्या लाभ, जब तक कोई सुसंगठित योजना साथ में न हो। यह ज़रूरी था कि सरकार ऐसी व्यवस्था करे कि किसानों को खेती के लिए अच्छा बीज और काफी पानी मिले; और जो किसान अधिक अन्न पैदा करे, उसे आबपाशी और लगान अपेक्षाकृत कम देना पड़े; और, अनाज के उचित दाम मिलें। भारतवर्ष में तत्कालीन सरकार द्वारा इस दिशा में कुछ संतोषजनक कार्य नहीं किया गया।

**भूमि-सुधार**—भारत के स्वतन्त्र होने के बाद इस बात की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है कि अधिक-से-अधिक भूमि में खेती की जाय; जो भूमि कुछ सुधार करने से खेती के योग्य होसके, उसमें सुधार किया जाय। इस विषय पर प्रान्तीय सरकारें अपने अपने प्रान्त की भूमि के भेद के अनुसार विचार कर रही हैं। उदाहरण के लिए बम्बई प्रान्त में खार-भूमि की रक्षा और उन्नति,

तथा ज्वार-भाटा वाली भूमि का निर्माण तथा मरम्मत करने का निश्चय किया गया है। इस कार्य के लिए एक उत्तरदायी समिति बना दी गई है। इस प्रकार वहाँ उस सैकड़ों एकड़ भूमि का खेती के लिए उपयोग हो सकेगा, जो इस समय जमींदारों और किसानों की उपेक्षा से बेकार पड़ी है। इसी प्रकार के प्रयत्न अन्य प्रान्तों में चल रहे हैं।

**ट्रैक्टरों का उपयोग**—देश के विविध भागों में बड़े-बड़े ट्रैक्टरों और हलों द्वारा बड़े परिमाण में भूमि-सुधार किया जाने लगा है। इस प्रकार की योजनाएँ संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त और मत्स्य-संघ में जारी की गई हैं। अब तक प्रान्तों को लगभग ४५,००० एकड़ भूमि के सुधार करने में सहायता दी गई है। किन्तु ऐसा अनुमान है कि आवश्यक मशीनरी और अन्य सामान प्राप्त करने में कठिनाइयाँ होने के कारण आगामी पाँच-छः वर्षों में ६० लाख एकड़ से अधिक भूमि का सुधार करना सम्भव न होगा, इसके लिए भी १०० और मशीनें खरीदनी होंगी। संसार की उत्पादन और माँग की वर्तमान स्थिति में १८ मास की समाप्ति पर २००, और उसके बाद प्रति वर्ष ३००, से अधिक मशीनें प्राप्त करने की आशा नहीं है। इन मशीनों के साथ आवश्यक, भूमि-सुधार के भारी हलों को भारत में बनाना सम्भव है, किन्तु उनके कुछ हिस्सों को फिर भी बाहर से मँगवाना होगा।*

**कृषि-यन्त्रीकरण और बैल**—कितने ही कृषि-विशेषज्ञों और संस्थाओं का मत है कि भारतवर्ष में कृषि में ट्रैक्टर और हारवेस्टर मशीनों का उपयोग किया जाय। परन्तु क्या भारतवर्ष में, मशीनें बैलों का स्थान ले सकती हैं। मशीनों के विदेशों से आने की कठिनाई का उल्लेख पहले किया गया है। फिर, उन्हें चलाने के लिए पेट्रोल की आवश्यकता होती है। उसके लिए भी हमें दूसरे देशों के आश्रित रहना पड़ता है। पेट्रोल की जगह कोयले, या बिजली शक्ति का प्रयोग व्यावहारिक नहीं है। यह भी विचारणीय है, कि पच्चीस से

---

* 'मार्तंड'—विशेषांक; १९ अगस्त १९४८

तीस घोड़ों की शक्ति वाले ट्रैक्टर का उपयोग करने के लिए, डेढ़ सौ से दो सौ एकड़ तक भूमि होनी चाहिए; और इस भूमि में फसलों का परिवर्त्तन-क्रम इस प्रकार होना चाहिए कि वर्ष में कम-से-कम अट्ठारह सौ घण्टे ट्रैक्टर का उपयोग हो सके। इसके लिए आवश्यक है कि भूमि की पूरी सिंचाई हो, और उसमें दो फसलें हों। वर्तमान अवस्था में वह व्यावहारिक नहीं है।

हमारे देश में इंग्लैण्ड, अमरीका की तरह मनुष्य शक्ति की कमी नहीं है, यहाँ तो मनुष्य-शक्ति का यथेष्ट उपयोग करने की ही समस्या बनी हुई है। हमें घरेलू उद्योग-धन्धों की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को काम मिल सके। ट्रैक्टर आदि से तो बेकारी बढ़ती है।

इस प्रकार भारतीय-कृषि में ट्रैक्टर आदि यन्त्रों को विशेष स्थान नहीं दिया जा सकता। कुछ खास दशाओं में, और बहुत परिमित सीमा तक ही इनका उपयोग किया जाना चाहिए। निस्संदेह यहाँ कुछ उन्नत एवं आधुनिक यंत्रों का उपयोग होना आवश्यक है, परन्तु हमें सदैव स्मरण रखना चाहिए कि वे यंत्र ऐसे ही हों जो मनुष्य-शक्ति के उपयोग में बाधक न हों; यहाँ बेकारी न बढ़ावें। इन यंत्रों की मरम्मत की व्यवस्था स्थान-स्थान पर होनी चाहिए; और कुछ समय में तो ये यंत्र ही यहाँ बनने लगें, ऐसी योजना होनी चाहिए। निदान, हमें बैलों की नस्ल सुधारने और उनकी संख्या बढ़ाने की बहुत आवश्यकता है। उसके साथ ही हमें उनके लिए अच्छा चारा उगाने की ओर भी विशेष ध्यान देना चाहिए। स्मरण रहे कि अच्छे बैलों की संख्या बढ़ने से कोई हानि नहीं है, वरन् लाभ ही है, जैसा कि एक अँग्रेज कृषि-विशेषज्ञ का कथन है, अधिक चारे की उत्पत्ति सम्भवतः कृषि की उपज में उन्नति एवं वृद्धि करेगी। अधिक चारे का अर्थ हुआ अधिक खाद और भूमि की अधिक उत्पादन शक्ति।

**खाद्य उत्पादन बढ़ाने की योजनाएँ**—स्वतंत्र भारत की सरकार

को खाद्य उत्पादन बढ़ाने की बहुत चिन्ता है। इसका विचार करने के लिए उसने खासकर निम्नलिखित समितियाँ बनाई हैं। 'खाद्य-उत्पादन-समिति' अधिक खाद्य उत्पन्न करने और उत्पादन में होने वाली बाधाओं को दूर करने का विचार करेगी। दूसरी समिति खेतीकी पैदावार के मूल्य में स्थिरता रखने का विचार करेगी। तीसरी समिति कृषि सम्बन्धी आँकड़े तैयार करने के लिए बनी है। चौथी समिति का उद्देश्य भारत सरकार की बन-नीति पर विचार करना है।

प्रान्तीय सरकारें अपने-अपने क्षेत्रों में विविध योजनाओं को अमल में लाने का प्रयत्न कर रही हैं। उदाहरण के लिए मध्यप्रान्त की सरकार ने जो योजनाएँ तैयार की हैं, उनमें से कुछ ये हैं :—(१) सन की हरी खाद की योजना। (२) खली की खाद की योजना। (३) रासायनिक खाद की योजना। (४) कचरे, कूड़े और मैले से (कम्पोस्ट) खाद तैयार करके उसके वितरण की योजना। (५) नई तोड़ी हुई पड़ती ज़मीन में चने की फसल पैदा करने की योजना। (६) गेहूँ, चना, धान, मूँगफली और आलू आदि फसलों के लिए बीज के वितरण की योजना। (७) तरकारी, भाजी आदि के वितरण की योजना (८) सिंचाई के लिए पुराने कुओं की मरम्मत की योजना। (९) ज़मीन को फसली बनाने के लिए बाँध बाँधने की योजना। (१०) सिंचाई के लिए छोटे-छोटे तालाबों को खोदने की योजना।

संयुक्तप्रान्त की सरकार ने गत वर्ष खासकर निम्नलिखित तीन आन्दोलन चलाए :—(१) खाद (कम्पोस्ट) निर्माण आन्दोलन (२) तालाबों को गहरा करने का आन्दोलन (३) वृक्षारोपण का आंदोलन।

इसी प्रकार अन्य प्रान्तों की सरकारें भी खेती की उपज बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील हैं। यथेष्ट खाद्य प्राप्त करने का प्रश्न उतने महत्व का है कि उसमें सरकार और जनता को पूरी शक्ति लगा देनी चाहिए। इस दृष्टि से एक सुझाव यह भी है कि देश भर के डाक-बँगले, शिक्षा संस्थाएँ, मौसमी कारखाने, न्यायालय, रेलवे स्टेशन आदि की वह सब

भूमि जिसमें आसानी से खाद्यान्न उत्पन्न हो सकता हो, इस काम में लाई जानी चाहिए। आशा है स्वतंत्र भारत शीघ्र ही अपने खाद्य पदार्थों के लिए ही नहीं, खेती की अन्य पैदावार के वास्ते भी स्वावलम्बी होगा। हमारा आदर्श तो यह है कि हम यथा-सम्भव अन्य देशों की भी सहायता करें; हमें स्वयं दूसरों की सहायता का आसरा तकना तो कदापि शोभा नहीं देता।

——❀——

## दसवाँ ~~सातवाँ~~ अध्याय

# उद्योग-धन्धे

---

केवल खेती से पैदा होनेवाली वस्तुओं से ही हमारा काम नहीं चल जाता; हमें अनेक प्रकार के तैयार माल की भी ज़रूरत होती है, इसलिए उसकी उत्पत्ति की जाती है। दस्तकारियों और उद्योग-धन्धों का, खेती से गहरा सम्बन्ध है; कारण कि इनके लिए जो कच्चा माल आवश्यक होता है, वह खेती से ही मिलता है। खेती सम्बन्धी विचार कर चुकने पर अब हम उद्योग-धन्धों का विचार करते हैं।

**औद्योगिक उन्नति की आवश्यकता** कुछ वर्षों से भारतवर्ष की औद्योगिक उन्नति हो रही है, परन्तु यह उन्नति, इस देश की जन-संख्या और क्षेत्रफल को देखते हुए, जैसी होनी चाहिए थी, नहीं हुई है। यहाँ इसकी बहुत आवश्यकता है। इससे कई लाभ होंगे—

(१) कृषि पर निर्वाह करनेवालों की संख्या घटेगी, और फसल खराब होने की दशा में आर्थिक संकट बहुत अधिक न होगा। (२) राष्ट्रीय आय की वृद्धि होगी, और लोगों का रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होगा। इससे उनकी कार्यक्षमता और उत्पादन-शक्ति बढ़ेगी, जिसके परिणाम-स्वरूप पुनः जनता की आय बढ़ेगी। इस प्रकार लाभ बढ़ता रहेगा। (३) सरकार तथा म्युनिसिपेलटियों आदि स्थानीय संस्थाओं की

आय बढ़ेगी और वे सार्वजनिक उपयोगिता के अधिकाधिक कार्य कर सकेंगी। (४) अनेक आदमियों को रोजगार मिलेगा, और उनकी बेकारी दूर होने में सहायता मिलेगी। (५) देश स्वावलम्बी होगा। आवश्यक वस्तुएँ यहाँ ही बनाई जा सकेंगी, उनके लिए विदेशों को रुपया भेजना, तथा भारतवर्ष को उनके आश्रित रहना न होगा। (६) लोगों की, धन गाड़ कर रखने, या उसे ज़ेवर आदि अनुत्पादक कार्यों में लगाने, की प्रवृत्ति में सुधार होगा। मिश्रित पूँजी की व्यवस्था से लोगों की बचत की छोटी-छोटी रकमों का भी उपयोग हो सकता है, जो बेकार पड़ी रहती हैं। (७) लोगों के विचारों की संकीर्णता दूर होगी, उनका दृष्टिकोण उदार होगा। वे परम्परा के अंध-भक्त न रहेंगे, हानिकर रूढ़ियों को तोड़ते हुए समाजसुधार के कार्यों में आगे बढ़ेंगे। (८) कृषि को भी लाभ होगा। देश में धन अधिक होने से आर्थिक उन्नति के लिए आवश्यक पूँजी मिलना आसान होगा। उद्योग-धन्धों में अधिक श्रमियों के लग जाने सेकृषि-श्रमियों कीसंख्या कुछ कम होगी, उनकी वेतन में वृद्धि होगी, और उनका रहन-सहन तथा कार्यक्षमता बढ़ेगी।

**भारतवर्ष में छोटी दस्तकारियों की विशेषता**—यद्यपि देश में कुछ बड़े-बड़े कारखाने हैं, और ये बढ़ रहे हैं; यहाँ की जनता और क्षेत्रफल को देखते हुए ये कम ही हैं। यहाँ तो अधिकांश भागों में छोटी दस्तकारियों की ही बहुतायत है। इसके कुछ विशेष कारण ये हैं—

(१) जाति-प्रथा के कारण जुलाहे, कुम्हार आदि अपने पूर्वजों के ही काम करते हैं। आजीविका के नए साधन-प्राप्त करने से उन्हें बहुधा जाति से बाहर रहना पड़ता है।

(२) बहुधा मनुष्यों को अपनी इच्छानुसार काम करने की आदत पड़ी हुई है, वे कारखानों में निश्चित घंटे काम करना, अथवा अन्य कायदे-कानून के बन्धन में रहना पसन्द नहीं करते।

(३) कुछ खास-खास केन्द्रीय स्थानों को छोड़कर कारखानों में मिलनेवाली मजदूरी इतनी अधिक नहीं हुई है कि गाँव के लोग सहसा नगर में रहने की असुविधाएँ और खर्च सहन करने लगें।

(४) अधिकतर आदमी अपने गाँव या कस्बे में ही रहना पसन्द करते हैं। स्थान-परिवर्तन उन्हें रुचिकर नहीं होता; वे भूखे रहने या कर्जदार होने पर ही लाचार होकर, घर या कुटुम्ब का मोह छोड़ते हैं।

(५) परदे की प्रथा के कारण बहुतसी औरतें बाहर जाकर काम नहीं कर सकतीं; वे घरू धंधों में ही भाग ले सकती हैं।

(६) किसानों को साल में प्रायः चार महीने से छः महीने तक बेकार रहना पड़ता है; और बाकी महीनों में उनकी आय से जैसे तैसे काम ही चलता है, बेकारी के समय के लिए वे कुछ बचा कर नहीं रख सकते। अतः उन्हें ऐसे उद्योग-धन्धे के कार्य की आवश्यकता होती है, जिसे वे अपने गाँव में ही कर सकें। इसका अभिप्राय यह है कि देश की दो-तिहाई जनता के लिए घरू उद्योग-धन्धों का बड़ा महत्व है।

**घरेलू उद्योग-धंधे**—घरेलू उद्योग-धन्धों के दो भेद किए जा सकते हैं—(१) ऐसे धन्धे जो खेती में सहायक हो सकते हैं, जिन्हें किसान अपने अवकाश के समय में कर सकते हैं, जैसे पशु-पालन, दूध-घी का काम, गुड़ बनाना, बगीचा लगाना, चटाई या टाट पट्टी बुनना, टोकरी बनाना, सूत-कातना, कपड़े बुनना आदि। (२) ऐसे धन्धे जिन्हें गाँव या कस्बे वाले एक स्वतन्त्र धन्धे के रूप में करें, जैसे लकड़ी लोहे का काम, तेल पेरने का काम, चमड़ा कमाना, जूता बनाना, दरी या कालीन बुनना, धान कूटना आदि। इन धन्धों में से कुछ के विषय में मुख्य-मुख्य बातें आगे दी जाती हैं।

**किसानों के लिए उपयोगी सहायक धन्धे; पशु-पालन**—हमने पहले कहा है कि वर्त्तमान अवस्था में एकमात्र खेती के आसरे रहने से किसानों का बारहों महीने काम नहीं चल सकता। अपने निर्वाह के लिए उन्हें उसके साथ दूसरे कार्य भी करने चाहिएँ।

अवश्य ही ये कार्य ऐसे होने चाहिएँ कि इनसे खेती में कोई बाधा न हो; ये यथासंभव उसमें सहायक ही हों। इस दृष्टि से किसानों के लिए एक मुख्य उद्योग पशु-पालन का है। दूध देनेवाले पशु रखने से किसान को और उसके बच्चों को यदि दूध नहीं, तो मट्ठा मिल ही सकता है। गाय के बछड़ों का अच्छी तरह पालन-पोषण होने पर वे अच्छे बैल बन सकते हैं, जो खेती के बहुत काम आते हैं। गोबर से खाद का बड़ा लाभ है।

**दूध-घी का काम**—प्रायः यह काम काफ़ी सफ़ाई और ईमानदारी से नहीं किया जाता, दूध दुहते समय हाथों तथा गाय के थनों को धोया नहीं जाता, दूध का बर्त्तन साफ़ नहीं किया जाता। दूध में पानी मिला दिया जाता है। अनेक स्थानों में कच्चे दूध में से ही मक्खन निकालकर मखनियाँ दूध बेचा जाता है। बहुत से आदमी, रोगी गाय भैंस के दूध को भी दूसरे दूध के साथ मिला देते हैं। प्रायः मक्खन का घी बनाते समय उसे काफ़ी गर्म नहीं करते, इससे घी अच्छा नहीं होता और जल्दी बिगड़ जाता है। फिर, आज-कल तो घी में तरह-तरह की मिलावट करदी जाती है। बनस्पति घी का भी बहुत उपयोग हो रहा है। इस प्रकार शुद्ध घी मिलना ही बहुत कठिन होगया है। आवश्यकता है कि इस धंधे को करनेवाले इन दोषों से बचें, और सरकार बनस्पति घी का रंगा जाना अनिवार्य करदे, जिससे वह साफ पहचाना जा सके।

**गुड़ बनाना**—मनुष्य के शरीर के पोषण के लिए अन्न और दूध-घी की तरह गुड़ भी बहुत उपयोगी है। किसान गन्ना पैदा करते ही हैं। वे आसानी से ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं कि गन्ने के रस से गुड़ बनालें। हाँ, जो गुड़ बनाया जाय, वह अच्छा साफ होना चाहिए। वर्तमान अवस्था में रस में से तिनके और पत्तियाँ आदि पूरी तरह से नहीं निकाली जातीं, और रस को उबालते समय उसका सारा मैल भी नहीं निकाला जाता। इस से बहुत-सा गुड़ घटिया होता है। यदि गुड़ अच्छा बढ़िया बनाया जाय, जैसा संयुक्तप्रान्त में मेरठ, बरेली और

शाहजहांपुर आदि में होता है, तो गुड़ की मांग भी बढ़ सकती है। जो लोग चीनी का उपयोग करते हैं, उनमें से कुछ गुड़ का ही उपयोग करने लगें; क्योंकि गुड़ में पोषक तत्व अधिक होते हैं। भारतवर्ष में प्रति व्यक्ति गुड़ और चीनी का खर्च १६ पौंड है जब कि आवश्यकता कम-से-कम ४६ पौंड की है। इस प्रकार गुड़ और चीनी का मौजूदा पैदावार दुगनी बढ़ने की आवश्यकता है। इस से इस उद्योग-धन्धे का भविष्य कितना उज्वल है, यह स्पष्ट है।

**बगिया लगाना**—खेती के साथ एक छोटा-सा बगीचा मामूली खर्च से सहज ही लगाया जा सकता है, जिसमें स्थानीय परिस्थिति तथा आवश्यकता के अनुसार भाँति-भाँति के फल, सब्जी (तरकारी), या फूल लगाए जायँ। इसमें यह विचार रखा जाय कि प्रत्येक ऋतु में उसके अनुकूल पदार्थ उत्पन्न किए जायँ, जिससे बारहों महीने कुछ-न-कुछ आमदनी होती रहे। अगर फल आदि के बेचने की व्यवस्था किसान खुद न कर सके तो बगीचा ठेके पर उठाया जा सकता है। जो जमीन खेती के योग्य न हो, उस पर पेड़ लगा देने से बढ़िया लकड़ी बेचने के, और मामूली लकड़ी जलाने के, काम में आ सकती है।

किसान रस्से बटने, टोकरी बनाने, रंगने, छापने आदि का काम भी बखूबी कर सकते हैं।

**हाथ की कताई-बुनाई**—किसानों के लिए सब से महत्वपूर्ण धंधा हाथ की कताई-बुनाई का है; कारण, भोजन के अलावा कपड़े की जरूरत सब को होती है। बहुत से किसानों के पास कपास होती ही है, उसे ओट कर रुई तैयार की जा सकती है। किसान की स्त्री घर का काम करने के साथ-साथ थोड़े समय ही कात लेने से अपने तमाम घर वालों के लिए ओढ़ने-पहिनने के कपड़े बना सकती है। किसानों के लिए यह धंधा खास महत्व का इसलिए है कि साल में कुल मिलाकर चार-छः महीने उन्हें बेकार रहना पड़ता है, और यह धंधा ऐसा है, जिसे आदमी आसानी से कर सकते हैं। इसे सीखने में समय तथा

इसे चलाने में पूँजी की विशेष आवश्यकता नहीं होती। इसके अलावा इससे जो वस्तु तैयार होती है, वह मनुष्य की प्रमुख आवश्यकताओं में से होने के कारण, कुछ तो उत्पादक के ही काम आसकती है, और जो शेष बचे, वह आसानी से आस-पास ही खप सकती है।

भारतवर्ष में कुल मिला कर लगभग छः सौ करोड़ गज़ कपड़े की खपत है। हाथ की खड्डियाँ हर साल करीब डेढ़ सौ करोड़ गज कपड़ा तैयार करती हैं, जो बगैर किसी सरकारी अथवा जनता की सहायता के बिक जाता है। यह कपड़ा मिल के सूत और हाथ के सूत-दोनों का होता है। कुछ कपड़ा तो केवल मिल के ही सूत का होता है। अगर इस धन्धे को अपनी खोई हुई बपौती फिर से प्राप्त करनी है, तो इसे मशीनों के सूत पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। मिल का सूत यद्यपि पूरा इकसार होता है तो भी हाथ के सूत के मुकाबले में मजबूत नहीं होता। पिछले सालों में चर्खा-संघ ने सूत में बहुत-कुछ सुधार किया है। अगर हाथ की खड्डियाँ, मिल के सूत की जगह, केवल हाथ का कता सूत काम में लावें, तो किसानों की दरिद्रता बहुत हद तक कम हो सकती है।

**अखिल भारतीय चर्खा संघ**—राष्ट्रीय जागृति के समय हाथ की कताई-बुनाई के धन्धे की उन्नति की ओर नेताओं का ध्यान जाना स्वाभाविक था। इसका संगठित प्रयत्न सन् १९२५ से हुआ, जबकि महात्मा गांधी की प्रेरणा से यहाँ अ० भा० चर्खा संघ की स्थापना हुई। इसका कार्य दृढ़तापूर्वक और सुव्यवस्थित रूप से होता रहा है। सन् १९३८ में जब कई प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बने तो वे खादी के काम को यथाशक्ति मदद देने को तैयार थे। संघ ने भी उनकी सहायता से इस काम को बढ़ाने और फैलाने की योजनाओं पर अमल किया। परन्तु यह सुअवसर बहुत समय तक न रहा। अगले वर्ष कांग्रेस मन्त्रिमंडलों ने त्याग-पत्र दे दिए, और अगस्त १९४२ में तो देश में राष्ट्रीय-आन्दोलन का जो भयंकर दमन हुआ, उससे कई प्रान्तों में

चर्खा-संघ पर कठोर प्रहार हुआ। छोटे-बड़े बहुत से कार्यकर्ता जेलों में बन्द रहे इसलिए संघ का काम व्यवस्थित रूप से न चल सका। इससे म० महात्मा गाँधी को अनुभव हुआ कि खादी के काम की दृष्टि में परिवर्तन होना आवश्यक है। बिक्री के लिए खादी बनाने से वह व्यापक नहीं हो सकती। सर्वसाधारण गरीब लोगों के लिए वह बहुत मँहगी रहती है, और केवल भावना से उसे कितने आदमी खरीद सकते हैं! फिर, सार्वजनिक सहायता या दान के भरोसे उसका काम कब तक चलाया जा सकता है। इसलिए महात्मा जी ने लोगों को अपने लिए स्वयं खादी तैयार करने अर्थात् वस्त्र-स्वावलम्बन की प्रेरणा की। उन्होंने "कातें, वे पहिनें; और पहिनें, वे कातें।" का सूत्र चलाया।

**खादी का विकेन्द्रीकरण**—खादी के विकेन्द्रीकरण की बात विशेष रूप से १६४४ के बाद काम में आई। देश भर के लिए किसी एक केन्द्र से, या प्रान्त भर के लिए किसी एक प्रान्तीय संगठन से, काम चलाने में वस्त्र-स्वावलम्बन का उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। म० गाँधी ने 'हरिजन' में लिखा, "अब वक्त आ गया है जब सूबे इसके लिए बिल्कुल स्वतन्त्र या आज़ाद होना चाहें तो हो जायँ, सूबे न हों या न हो सकें तो ज़िले; जिले न हो सकें, तो ताल्लुके; और ताल्लुके न हो सकें तो गाँव के छोटे-छोटे समूह; और वे भी न हो सकें, तो गाँव स्वतन्त्र हो जायँ। हर एक व्यक्ति तो इसके लिए स्वतन्त्र है ही" आखिर, बिहार और उसके बाद संयुक्तप्रान्त की शाखा अखिल भारत चर्खा संघ से स्वतन्त्र हो गईं, वैसे वे चर्खा संघ की नीति के अनुसार काम करती रहीं।

**खादी की शिक्षा**—कार्यकर्ताओं को कताई के सब अंगों में निपुण बनाने के हेतु एक खादी की परीक्षा का सिलसिला चल रहा है। सन् १६४६-४७ की क्रियात्मक परीक्षाओं में १६०१ परीक्षार्थी बैठे, जिनमें से ५७३ परीक्षार्थी उत्तीर्ण हुए। लिखित परीक्षा में बैठनेवाले

६४७ थे, इनमें से २१७ उत्तीर्ण हुए। इन परीक्षाओं के कारण कार्यकर्त्ताओं की धुनाई-कताई आदि की जानकारी बढ़ी है। पास होनेवालों की संख्या कुछ कम दीखने का कारण यह है कि कुछ कार्यकर्त्ता सभी विषयों में पास नहीं हो सके हैं।

इस वर्ष चर्खासंघ की शिक्षा समिति के अभ्यास-क्रम चलानेवाले आठ विद्यालय थे। उनमें शिक्षा पानेवाले और उत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थियों की संख्या क्रमशः ३८६ और ५० थी।

**चर्खा-संघ और प्रदर्शनी**—अहमदाबाद कांग्रेस (सन् १६२१) के समय से हर साल कांग्रेस-अधिवेशन के समय खादी प्रदर्शिनी होती रही है जिसमें पीछे ग्रामोद्योगी तथा स्वदेशी चीजें भी शामिल की जाने लगीं। स्वदेशी की व्याख्या समय-समय पर बदलती रही है; हाँ, मिल का, या मिल के सूत से बना हाथ बुनाई का, कपड़ा प्रदर्शिनी में नहीं रखा गया। सन् १६४६ में मेरठ-कांग्रेस की प्रदर्शिनी में मिल का बना स्वदेशी कपड़ा ही नहीं, बल्कि दूर-दूर बनी व्यापारी-खादी भी बेचने का सिलसिला बन्द करने का निश्चय किया गया था; पर साम्प्रदायिक दंगे के कारण कांग्रेस के उक्त अधिवेशन में प्रदर्शिनी नहीं हो पाई। अप्रेल १६४७ में संघ ने निश्चय किया कि वह किसी ऐसी प्रदर्शिनी में भाग न लेगा, जिसमें (क) संयोजकों का लक्ष्य शिक्षा न होकर धन एकत्र करना हो। (ख) निर्माण, सजावट या प्रचार के लिए मिल का सूत या कपड़ा इस्तेमाल किया गया हो। (ग) ग्रामोद्योग-विरोधी वस्तुओं का प्रचार या बिक्री या प्रदर्शन हो। (घ) ऐसी शिक्षा-पद्धति का प्रदर्शन या प्रचार हो, जो नई तालीम के सिद्धान्तों के खिलाफ़ हो। (ङ) वस्त्र के लिए खादी की खरीद-बिक्री हो। (च) ऐसे खेल, नाटक, प्रचार, पत्रक आदि को स्थान हो, जिससे हिंसात्मक वातावरण फैल सके।

**चर्खा-संघ का वर्तमान क्षेत्र**—अब संघ की दृष्टि उत्पत्ति-बिक्री और बाँटी गई मज़दूरी पर उतनी नहीं है जितनी पहले थी। इनके स्थान पर, संघ वस्त्र-स्वावलम्बन, खादी-शिक्षा, और खादी-विचार

के प्रचार पर अधिक शक्ति लगा रहा है। इसके लिए सरंजाम बनाने की ओर भी अधिक ध्यान दिया जा रहा है। सन् १९४६-४७ में संघ की पूँजी कुल मिलाकर ७५ लाख रुपए रही। उसने ६६,७८,३६२ वर्ग गज़ कपड़ा तैयार किया, जिसमें १,०५,६०,५०६ रुपए लगे। संघ के कपड़े की कुल बिक्री १,०४,३७,१३१ रुपए की हुई। इस वर्ष में संघ के द्वारा २२,६१२ चर्खे बनाए गए, जिनकी कीमत २,१०,६८७ रुपए थी। कुल सरंजाम २,६०,३४४ रुपए का बना। कारीगरों को दी हुई मज़दूरी का व्योरा इस प्रकार है :—कताई-मज़दूरी २१,६७,३०३ रुपए, बुनाई-मज़दूरी २६,४०,७७४ रुपए तथा अन्य मज़दूरी ८,०६,१३६ रु०। स्मरण रहे कि ये अंक पूरी स्थिति सूचित नहीं करते; कई स्थानों के अंक नहीं मिल सके हैं, वे ऊपर के हिसाब में सम्मिलित नहीं हैं।

चर्खा संघ के प्रारम्भ अर्थात् सन् १९२४–२५ से सन् १९४७ तक संघ तथा उससे प्रमाणित संस्थाओं की ओर से लगभग साढ़े सात करोड़ रुपया देश के गरीब जनता में दिया गया। इसमें से तीन करोड़ साठ लाख रु० कत्तिनों को, २ करोड़ ९० लाख रुपए जुलाहों को, और ६० लाख रुपये अन्य कारीगरों को मिले। जिन क्षेत्रों में काम हुआ, वहाँ के देहातों की कुल संख्या इस वर्ष लगभग दस हजार रही। चर्खा संघ और उससे प्रमाणित संस्थाओं के उत्पत्ति-केन्द्र ६२२ और बिक्री-केन्द्र ३०६ थे। संघ के कुल कार्यकर्ताओं की संख्या का अन्दाज़ १९०० है। भारतवर्ष के विशाल क्षेत्र और जनसंख्या को देखते हुए ये अंक बहुत कम हैं। यद्यपि उनका अपना महत्व है, यह स्पष्ट है कि अभी इस कार्य को बहुत अधिक बढ़ाने की आवश्यकता है।

**सरकार और खादी**—भारतवर्ष में कपड़े की तंगी होना स्पष्ट है। जैसा आगे बताया गया है, मिलें हमारी कपड़े की समस्या को हल करने में असमर्थ हैं। इसके अलावा, लगभग पचास लाख शरणार्थी पाकिस्तान से भारतीय-संघ में आए हुए हैं। इन्हें आजीविका का साधन देना है, और इनमें से बहुत सों को खादी का काम आसानी से

दिया जा सकता है। इस प्रकार सरकार को खादी के उत्पादन और प्रचार में सहायक होना आवश्यक है। सौभाग्य से भारतवर्ष अब स्वतन्त्र है, और यहाँ शासन-सत्ता उस वर्ग के हाथों में है, जिसने अपने अल्पकालीन शासन ( १९३८–३९ ) में खादी को यथेष्ट सहायता दी थी। अब यह स्वाभाविक ही है कि प्रान्तीय सरकारें इस ओर कदम उठावें। अस्तु, पश्चिम बंगाल, बम्बई, तथा उड़ीसा प्रान्त की सरकारें इस दिशा में क्रियात्मक कार्य कर रही हैं, जैसे कुछ ग्राम-केन्द्र स्थापित करना, जिनमें लोगों को कातने-बुनने, धुनने आदि की शिक्षा दी जाय; चर्खे कपास तथा अन्य सरंजाम आसानी से मिल सकने की व्यवस्था करना; आदि। पाकिस्तान की सरकार भी इस ओर झुक रही है। वहाँ सन् १९४८ के अन्त में ९ लाख ५१ हजार चर्खे चलाने की योजना बनाई गई है। आशा है, भारतवर्ष के सभी भागों की सरकारें इस गृह-उद्योग को यथेष्ट सहायता देंगी।

जनता में कताई के प्रति रुचि और प्रेम पैदा करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि उच्चपदाधिकारी इस कार्य को करने लगें, जिससे सामान्य जनता उनका अनुकरण कर इस कार्य को अपनावे। उदाहरण के लिए श्री० कैलाशनाथ जी काटजू ने, जब वे उड़ीसा के गवर्नर थे, कटक में अपनी कोठी पर कताई-क्लब स्थापित किया था, जिसमें वे स्वयं तथा अन्य ३०–४० स्त्री-पुरुष हर रोज़ कातते थे। उनकी प्रेरणा से कटक में ४–५ कताई-क्लब स्थापित हुए। उड़ीसा में शहरों या देहातों में, जहाँ वे गए, उन्होंने सामूहिक-कताई का कार्य-क्रम रखा। इस समय श्री० काटजू पश्चिम बंगाल के गवर्नर हैं। वे यह आग्रह करने लगे हैं कि उन्हें जहाँ सार्वजनिक उत्सवों में निमंत्रित किया जाय, वहाँ के कार्यक्रम में सामूहिक कताई का कार्यक्रम अवश्य रहे। वे खुद ऐसी कताई में भाग लेते हैं। ऐसे उदाहरणों का यथेष्ट प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है।

**स्वतंत्र रूप से किए जानेवाले धंधे**—अब तक ऐसे घरू धंधों

का विचार किया गया है, जिन्हें किसान खेती के साथ-साथ कर सकते हैं। अब हम कुछ ऐसे उद्योग धंधों के विषय में विचार कर सकते हैं, जो उन लोगों के लिए उपयोगी हैं, जो खेती नहीं करते। इन धन्धों का कार्य स्वतंत्र रूप से किया जा सकता है। पहले लकड़ी और लोहे के काम की बात लेते हैं।

**लकड़ी और लोहे का काम**—लकड़ी और लोहे की अनेक चीज़ों की किसानों तथा साधारण आदमियों को भी आवश्यकता होती है, जैसे हल, जुआ, चारपाई, पीढ़ा, खिड़की, दरवाज़ा, खुरपा, कुल्हाड़ी, बसूला तथा गाड़ी और छकड़ा आदि। वर्तमान अवस्था में कोई आदमी इन चीज़ों को अच्छी बढ़िया बनाने का विचार नहीं करता। यह ठीक है, कि अच्छी बढ़िया चीज़ों की माँग भी कम है। तथापि यदि ये चीज़ें बढ़िया बनाई जाने लगें तो इनकी माँग भी बढ़ने लगे। कहीं-कहीं दरवाज़ों, खिड़कियों आदि की लकड़ी पर बेल-बूटे का काम होता है; लकड़ी के खिलौने बनाकर उन पर चित्रकारी, वार्निश और रंगाई की जाती है। इन कार्यों की बहुत उन्नति की जा सकती है।

**तेल पेरने का काम**—अधिकांश जनता के लिए तेल एक रोजमर्रा की ज़रूरतों में से है। कुछ तेल खाने के काम आता है, और कुछ जलाने के। यह सरसों, तिल्ली, अलसी, मूँगफली, महुआ आदि कितने ही पदार्थों के पेरने से निकाला जाता है। अब आयल (तेल)-एंजिनों के चलने से तेल पेरने का काम सस्ता होने के कारण इसके घरू-धन्धे का ह्रास होता जा रहा है, परन्तु मशीन से तेल निकाले जाने पर जो खली बचती है वह पशुओं के लिए उतनी उपयोगी नहीं होती, जितनी कोल्हू आदि से तेल निकालने की दशा में बची हुई खली होती है। इस उद्योग की तरफ देशवासियों को ध्यान देना चाहिए।

**चमड़े का काम**—यद्यपि बहुत से आदमी गरीबी के कारण जूते

नहीं पहिनते, तथापि देश में उनकी खपत काफ़ी है। नगरों में ही नहीं, गाँव-गाँव में उनकी ज़रूरत रहती है। आजकल देशी जूता बनानेवाले प्रायः घटिया माल तैयार करते हैं। कारखानों में बननेवाले विलायती ढग के जूते (बूट या स्लीपर) की खपत बढ़ती जा रही है, जिसके लिए बहुत सी गायों को मारा जाता है। हमारे कारीगरों को चाहिए कि वे मुर्दा-खाल (स्वयं मरे हुए पशुओं की खाल) से ही अच्छा बढ़िया और मज़बूत सामान तैयार करें। बहुत से आदमी चमड़े के काम को घटिया समझते हैं और इसे करने से परहेज़ करते हैं। यह ठीक नहीं है; जो चीज़ समांज के काम आती है और मनुष्यों के लिए हितकर है, उसे बनाने का श्रम सदैव आदरणीय है।

**अ० भा० ग्राम-उद्योग-संघ**—ऊपर थोड़े से ही उद्योग-धंधों के विषय में कुछ मुख्य-मुख्य बातें लिखी गई हैं। देश में अनेक उद्योग-धंधे ऐसे हैं जिनकी उन्नति और विचार की बहुत आवश्यकता है। इसके वास्ते पहले जरूरत इस बात की होती है कि प्रत्येक उद्योग धन्धे के बारे में यथेष्ट जानकारी हासिल की जाय, और इस जानकारी को ऐसे आदमियों के पास पहुँचाया जाय, जो वैसे ही उद्योग-धंधों में लगे हुए हों। कांग्रेस ने आवश्यक जानकारी प्राप्त करने के बाद अक्तूबर सन् १६३४ ई० में औद्योगिक उन्नति के कार्य को आगे बढ़ाने का निश्चय किया।

इस वर्ष के अन्त में वर्धा ( मध्यप्रान्त ) में 'अखिल भारत ग्राम-उद्योग-संघ' की स्थापना, एक स्वतन्त्र संस्था के रूप में, हुई। इसका उद्देश्य है—ग्रामों का पुनःसंगठन, ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहित करना, उनमें आवश्यक सुधार करना; और, ग्राम-निवासी जनता की नैतिक और शारीरिक उन्नति करने की चेष्टा करना। संघ का संचालन एक मंडल के अधीन है, जो समय-समय पर ग्राम-सुधार अथवा ग्राम-रचना संबन्धी अपना कार्यक्रम निर्धारित करता है; भिन्न-भिन्न केन्द्रों में जिन पद्धतियों अथवा नीति से काम लिया जायगा, उनका समन्वय और

सुधार करता है; ग्रामवासियों की आर्थिक, नैतिक और शारीरिक अवस्था सम्बन्धी, एवं ग्रामों के पिछड़े हुए तथा विकासशील उद्योग-धन्धों की वास्तविक स्थिति सम्बन्धी खबरें, कार्यकर्ताओं और प्रतिनिधियों से प्राप्त कर, उनका वर्गीकरण कर, उन्हें सर्वत्र फैलाता है; विशेषज्ञों की सहायता से खोज का काम करता है; तथा स्थानीय ग्रामवासियों की जरूरतों को पूरा करने के बाद बचे हुए तैयार माल के लिए बाजार ढूँढता है, या पैदा करता है।

इस संघ की संरक्षता में निम्नलिखित ग्रामोद्योग या उनके प्रयोग चल रहे हैं :—१—धान से चावल निकालना, २—आटा पीसना, ३—गुड़ बनाना, ४—तेल निकालना, ५—मूँगफली छीलना, ६—शहद की मक्खियाँ पालना, ७—मछली पालना, ८—दूध शाला, ९—नमक बनाना, १०—कपास लुढ़ाई, ११—कम्बल बनाना, १२—रेशम और टसर का माल बनाना, १३—सन् की कताई और बुनाई, १४—कालीन बनाना, १५—कागज बनाना, १६—चटाई बुनना, १७—कंघियाँ बनाना, १८—चाकू कैंची आदि बनाना, १९—साबुन बनाना, २०—पत्थर की कारीगरी, २०—मरे हुए जानवरों की लाशों का उपयोग करना, और चमड़ा तैयार करके उसकी विविध वस्तुएँ बनाना।

आशा है, संघ उत्तरोत्तर उन्नति करेगा। कार्य करने के लिए क्षेत्र विशाल है। आवश्यकता इस बात की है कि सब देश-प्रेमी सज्जन अपनी शक्ति भर इसको सहयोग प्रदान करें।*

घरू उद्योग-धन्धों की उन्नति के उपाय—घरू उद्योग-धन्धों को जीवित रखने तथा उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि करने के लिए कई बातों की आवश्यकता है। पहले तो लोगों के मन में से यह गलत धारणा निकल जानी चाहिए कि हाथ का काम नीचे दर्जे का है।

* इस विषय में विशेष जानने के लिए पाठक ग्राम-उद्योग-संघ, वर्धा, का विवरण तथा संघ द्वारा प्रकाशित साहित्य अवलोकन करें।

नागरिकों के मन में बचपन से ही शारीरिक श्रम का गौरव बैठाया जाना चाहिए। इसके लिए औद्योगिक शिक्षा की व्यापक व्यवस्था की जानी चाहिए; इसके सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। गाँवों की प्रारम्भिक पाठशालाओं में, छोटी-छोटी कारीगरी के लिए उपयोगी, अच्छे औज़ार काम में लाने आदि की शिक्षा और भिन्न-भिन्न रोज़गार सम्बन्धी विविध जानकारी मिलने का यथेष्ट प्रबन्ध होना चाहिए। सहकारी समितियों को भी बहुत बढ़ाने और सङ्गठित करने की ज़रूरत है, जिससे आवश्यक कच्चा माल खरीदने और तैयार माल बेचने में अधिक लाभ और सुभीता हो। इन समितियों के सम्बन्ध में विशेष आगे लिखा जायगा।

घरू उद्योग धन्धों की उन्नति के लिए संचालन शक्ति की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि आदमी अपने-अपने गाँव में ही नहीं, अपने-अपने घर में उसका उपयोग कर सकें। बहुत से उद्योग धंधे ऐसे हैं कि उनमें कड़े परिश्रम की आवश्यकता होती है। यदि लोगों को अपने-अपने स्थान में बिजली की शक्ति मिल सके तो वे उन उद्योग-धन्धों का काम आसानी से कर सकें, तथा उनका परिमाण भी बढ़ा सकें। संचालन शक्ति के बारे में विशेष आगे लिखा जायगा।

इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर हाथ की बनी स्वदेशी वस्तुओं की प्रदर्शनियों (नुमायशों) तथा विज्ञापन की व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे सर्वसाधारण यह जान सकें कि कैसी-कैसी चीजें कहाँ-कहाँ बनती हैं; और, उत्साही सज्जनों को वैसी चीजें बनाने तथा उनमें सुधार करने की प्रेरणा हो। साथ ही प्रत्येक केन्द्रीय ग्राम या कस्बे में स्थानीय आवश्यकता की वस्तुओं का एक स्वदेशी भंडार रहना चाहिए, जहाँ आदमी अपने लिए जरूरी वस्तुएँ खरीद सकें। लोगों को चाहिए कि वे यथासम्भव आस-पास की ही वस्तुओं से काम चलावें, और इस प्रकार अपने गाँव या नगर के कारीगर भाइयों की सहायता करें।

**सरकारी सहायता**—सरकार द्वारा भी उद्योग-धन्धों की वृद्धि में

बहुत सहायता मिल सकती है। ऊपर औद्योगिक शिक्षा के प्रचार तथा सहकारी समितियों की स्थापना की बात कही गई है, यह कार्य विशेषतया सरकारी सहायता से ही करने का है। सरकार द्वारा उद्योग-धन्धों को आर्थिक सहायता भी दी जा सकती है। यहाँ भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त में एक औद्योगिक विभाग है, वह उद्योग-धन्धों के विषय में विचार करता है। उसके द्वारा विविध प्रकार का कार्य होता है। पर उसे अकसर धन की कमी की शिकायत बनी रही। फिर, प्रायः अधिकारी कार्यकर्त्ता जनता के सम्पर्क में नहीं आए। इसलिए जैसा चाहिए, वैसा काम नहीं हुआ। यदि सरकार का समुचित सहयोग प्राप्त होता तो उद्योग-धन्धों की उन्नति विलक्षण रूप से हो सकती थी। अन्यान्य बातों में सरकार अपने विविध विभागों के लिए यहाँ हाथ से तैयार किया हुआ माल खरीद कर इस दिशा में बहुत सहायक हो सकती थी। पराधीन भारत में ये बातें नहीं हुईं या बहुद कम हुईं। अब देश स्वाधीन हो गया है, और सरकार इन बातों में अग्रसर हो रही है।

घरू उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए यह भी आवश्यक है कि उनसे तैयार होनेवाले माल को न सिर्फ विदेशी माल की प्रतियोगिता से बचाया जाय, वरन् देश के कारखानों के माल के मुकाबले से भी उसकी रक्षा की जाय। उसके लिए पहिले उन खास-खास घरू उद्योगों को छाँट लिया जाना चाहिए, जिनकी रक्षा करना अभीष्ट हो। फिर कानून द्वारा ऐसी व्यवस्था की जाय कि उस तरह का माल देश के कारखानों में भी न बने, विदेशों से उसका आना तो संरक्षण-करों द्वारा रोक ही दिया जाय। उदाहरण के लिए खादी की बात लीजिए। इस समय बहुत से आदमी इसे मँहगी होने पर भी, भावनावश इस्तेमाल करते हैं; परन्तु इस तरह कब तक चलेगा! जब देशी मिलें बढ जायँगी और देश के लिए यहाँ काफी कपड़ा बनने लगेगा, तब अगर मिलें ही मोटा कपड़ा भी तैयार करने लगीं, तो साधारणतया

ग्राहक उनके सस्ते कपड़े को ही खरीदेंगे, और हाथ की कती और बुनी खादी को न पूछेंगे। इसका उपाय यही है कि कानून द्वारा मिलों को एक खास हद से अधिक मोटा कपड़ा न बनाने दिया जाय। तभी खादी का घरू उद्योग-धन्धा टिक सकेगा और लाखों आदमियों को आजीविका देता रह सकेगा। इसी तरह दूसरे उद्योग-धन्धों के बारे में विचार किया जा सकता है।

**छोटे उद्योग-धन्धों का भविष्य**—इस समय भारतवर्ष के अधिकांश ग्रामोद्योग, कृषि के सहायक उद्योगों के रूप में चल रहे हैं और प्रायः सभी अवनत अवस्था में हैं। जब कि देश का ध्यान विस्तृत उद्योगीकरण की ओर बढ़ता जा रहा है, यह विचार करना आवश्यक है कि ग्रामोद्योगों के जीवित रहने की कहाँ तक सम्भावना है, और क्या इन्हें पुनर्जीवित करना लाभदायक होगा।

यह निश्चित है कि आधुनिक प्रगति में पुराने उद्योग-धन्धे ज्यों-के-त्यों नहीं रह सकते; कुछ दस्तकारियों का एक सीमा तक ह्रास होना स्वाभाविक है। तथापि उन्हें भाग्यभरोसे छोड़ देना उचित नहीं है। आवश्यकता है कि ग्रामीण कारीगरों को इस प्रकार शिक्षा दी जाय कि वे अपने आप को बदली हुई परिस्थितियों के अनुकूल बना सकें, नए आधुनिक औज़ारों का प्रयोग करसकें, जहाँ सम्भव हो बिजली की शक्ति से काम ले सकें और सहकारिता के सिद्धान्तों से यथेष्ट लाभ उठा सकें। ये बातें खासकर लोहे के छोटे कारखानों, लकड़ी के कारखानों, मिट्टी आदि के बर्तन बनाने के छोटे उद्योगों तथा दस्तकारियों के लिए हैं। इनके अतिरिक्त डलिया बनाने, गन्ने का काम करने, रस्सा बाँटने, पाट कातने, कपास ओटने, धान कूटने तथा पशु पालने आदि के उद्योगों के लिए भी उपयोगी हैं। इन उद्योगों में औज़ार साधारण प्रकार के लगते हैं, और प्रतियोगिता का भय नहीं है। कृषक इन्हें अपने फ़ुरसत के समय में आसानी से कर सकते हैं। इनके करने से उनके कृषि-उद्योग को कोई क्षति न पहुँचेगी। इस प्रकार किसानों

के पास एक दूसरा सहारा बना रहेगा, उनकी कृषि-आय में वृद्धि होगी और उनका जीवन-स्तर भी ऊँचा उठ सकेगा। और विशेष बात यह होगी कि एक उन्नत ग्राम्य-अर्थव्यवस्था का सूत्रपात होगा तथा अत्यधिक ग्राम्यीकरण और नागरिकीकरण के बीच संतुलन स्थापित हो सकेगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राष्ट्र के सभी शुभचिन्तकों को छोटे उद्योग-धन्धों के भविष्य में विश्वास रखते हुए इनकी उन्नति का यथेष्ठ प्रयत्न करते रहना चाहिए।

**बड़े उद्योग धन्धे**—छोटे उद्योग-धन्धों के बारे में इतना ही कहकर अब हम बड़े उद्योग धन्धों का विचार करते हैं। पहले हमारा ध्यान कपड़े के धन्धे की ओर जाता है। हाथ की कताई-बुनाई के प्रसंग में इस विषय की कुछ बात पहले कही जा चुकी है। अब मिलों की बात लें। पहले मोटे हिसाब से यहाँ कपड़ा इस प्रकार खपता था :—एक-तिहाई, विदेशी—एक-तिहाई, देशी मिलों का; और एक-तिहाई, हाथ से कते सूत का। अब विदेशी कपड़े की आयात बहुत कम हो गई है, और यहाँ की मिलों का कुछ कपड़ा बाहर भी जाता है। अब प्रतिवर्ष साधारण तौर से ४०० करोड़ गज कपड़ा मिलों का और २०० करोड़ गज कर्घों का बुना हुआ होता है। यदि यह सब कपड़ा हमें ही मिले तो प्रति व्यक्ति १५ गज ही तो पड़ता है। राष्ट्रीय योजना समिति के मतानुसार प्रति व्यक्ति की औसत आवश्यकता ३० गज की है।

**वस्त्र-संकट के कारण**—कपड़े के वर्तमान संकट के मुख्य कारण मिल-मालिकों ने ये बतलाए हैं—(१) आन्तरिक झगड़े और हड़तालें। (२) कार्यकुशल मजदूरों की गैर-हाजरी। (३) आठ घंटे का दिन। [कपड़ा-सभा (टेक्सटाइल कान्फ्रेंस) की तीन पालियों (शिफ़्ट्स) की प्रणाली लागू करने की आशा पूरी नहीं हुई; क्योंकि प्रथम तो अहमदाबाद और मद्रास की कुछ मिलों को छोड़ कर यह प्रणाली प्रायः असम्भव है, और दूसरे इसके विषय में मजदूर-संघों का भी विरोध है।]

(४) इंगलैंड, जापान आदि से आयात का बन्द होजाना। (५) (लाभ की मात्रा में कमी कर दीगई है। कपड़े और सूत की कीमतें नियंत्रित हैं, और उसी हिसाब से कपास आदि की कीमत नियंत्रित नहीं है। इस-लिए उत्पादन की प्रवृत्ति कम हो गई है।

यह तो मिल मालिकों का मत हुआ। परन्तु यदि हम यह गहराई से अध्ययन करें कि गत वर्षों में कपास आदि के दामों की अपेक्षा कपड़े के दाम कितने अधिक बढ़े, कपड़े की कीमतें नियंत्रित होते हुए भी मिल-मालिकों ने अपनी चतुराई और चालबाजी से मुनाफ़ा कितना अधिक लिया, और उसकी तुलना में मजदूरों की वेतन कितनी कम बढ़ाई, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कपड़े के वर्तमान संकट का उत्तरदायित्व बहुत कुछ मिल-मालिकों पर ही है। अपनी स्वार्थपरता और दूषित मनोवृति के कारण वे समाज-हित की उपेक्षा करते रहते हैं।

**मिल-उत्पादन से सावधान**—ऐसी दशा में बहुत से विचारशीलों का मत है :—

(१) कपड़े जैसी व्यापक मांगवाली वस्तु के लिए बड़े-बड़े कार-खानों पर निर्भर रहना खतरनाक है।

(२) यद्यपि, अब वर्तमान मिलों की उत्पादन-शक्ति का उपयोग आवश्यक है, तथापि उनके उत्पादन का क्षेत्र, क्रम और अंक अभी से निश्चित कर देने होंगे; कारण कि भविष्य में यदि उनका राष्ट्रीयकरण न हो तो वे कपड़े की समस्या को उलझाने में समर्थ न हों।

(३) कपड़े के वर्तमान कारखानों की संख्या नहीं बढ़ाई जानी चाहिए। राष्ट्रीयकरण करना हो तो वर्तमान कारखानों के राष्ट्रीयकरण में ही काफ़ी दिक्कत होगी। फिर राष्ट्रीय सरकार को अपने आर्थिक विकास के लिए पहले भारी बुनियाद उद्योग-धन्धों को चुन कर उनका राष्ट्रीयकरण करना है।

**कपड़े की समस्या का हल**—अब प्रश्न यह है कि कपड़े की

समस्या हल किस प्रकार हो। वर्तमान अवस्था में देश भर के बड़े-बड़े कारखानों की सारी उत्पत्ति अधिक-से-अधिक ६ सौ करोड़ गज कपड़े की हो सकती है, लेकिन इस मात्रा तक पहुँचना कई वर्षों का काम है और फिर उसमें भी सन्देह ही है। इस समय भारत-सरकार की योजना के अनुसार २८,५८,००० तकुए (स्पिण्डल्स) बढ़ाकर ७० करोड़ गज़ बृद्धि करने की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार सन् १९५० में भारतवर्ष की सम्पूर्ण आवश्यकता अर्थात् ११६७ करोड़ गज़ कपड़े का आधा भाग ही तैयार हो सकेगा। इससे स्पष्ट है कि वर्त्तमान मिलों के उत्पादन को लेते हुए भी हमारे कपड़ों की समस्या हल न होगी, और अभी तो मिलें काफी असमर्थ हैं। सम्भवतः उनमें से बहुतों को, अपने सूत को अपने आप बुनने में भी दिक्कत हो। स्मरण रहे कि आयात से भी हमारी समस्या हल नहीं हो सकती; विदेशों पर निर्भर रहना हमें कदापि उचित नहीं है।

अ० भ० चर्खा संघ की उत्पत्ति, जो इस समय केवल एक करोड़ गज़ तक ही सीमित है, सरकार का आश्रय पाकर बहुत शीघ्र पर्याप्त मात्रा में बढ़ाई जा सकती है। सूत तैयार करने में न तो समय ही ज्यादा लगता है और न पूँजी ही। प्रत्येक व्यक्ति की साल भर की पूरी ३० गज़ कपड़े की ज़रूरत पूरी करने के लिए सूत कातने में एक आदमी को कुल मिलाकर ३६० घण्टे लगते हैं। यह सारा सूत हमें अपने गाँवों में पैदा कर लेना चाहिए। इस सूत को बुनने के लिए भारतवर्ष के बुनकरों में पूरी शक्ति मौजूद है। शहरी ज़रूरत के लिए वर्त्तमान मिलों का उपयोग हो सकता है। इस योजना में रूई जहाँ पैदा होगी, अधिकांशतः वहीं इस्तेमाल भी हो जायगी, और कपड़े के वितरण का प्रश्न भी हल हो जायगा। कलकारखानों से उत्पादन बढ़ जाता है तथापि वह वितरण और उपभोग के लिए समाज को पेचीदे और जटिल पंजों में जकड़ जाता है। सरकार उसमें सुधार करने का प्रयत्न करती है परन्तु वह उसमें विशेष सफल नहीं होती।

इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि कल-कारख़ानों की उत्पत्ति का यथासम्भव नियंत्रण रखा जाय और बढ़ने न दिया जाय।*

सन् १९४६ में मद्रास सरकार ने, जब कि वहाँ श्री० टी० प्रकाशम् प्रधान मंत्री थे, यह निश्चय किया था कि इस प्रान्त में नई मिलें नहीं खड़ी हो सकेंगी और पुरानी मिलों में नए तकुए नहीं बढ़ाए जा सकेंगे। मद्रास सरकार की उस नीति का मिल वालों ने, पूँजीपतियों ने और कुछ पढ़े-लिखे लोगों ने काफ़ी विरोध किया। समाचार-पत्र भी इन लोगों का साथ देते रहे। खादी के पक्ष में भी आन्दोलन था परन्तु समाचार-पत्रों का सहारा न होने के कारण जनता को उसका यथेष्ट परिचय नहीं हुआ। उस समय केन्द्र में अंगरेज़ सरकार थी, उसने मद्रास सरकार की नीति का विरोध किया। कुछ समय बाद वहाँ कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल हुआ उसने भी उस नीति का विरोध किया। अन्त में कुछ कारणों से वहाँ का मन्त्रिमण्डल बदला और श्री० ओ० पी० रामास्वामी रेड्डियर प्रधान मन्त्री हुए। नए मन्त्रिमण्डल ने पुराने मन्त्रिमण्डल की मिल सम्बन्धी नीति बदल दी; हाँ, उसने खादी प्रचार आदि की योजना जारी रखी। इस प्रकार मिलों का क्षेत्र और शक्ति नियंत्रित करने का वह प्रयोग सफल नहीं हुआ, तथापि उससे हतोत्साह होने की आवश्यकता नहीं है। अब वातावरण बदल गया है और इस दिशा में धीरे-धीरे क़दम बढ़ाया जा सकता है।

**चीनी का उद्योग**—इसका कुछ उल्लेख गुड़ के प्रसंग में किया गया है। भारतवर्ष में दो करोड़ किसान और मज़दूर चीनी के उद्योग पर निर्भर हैं। गन्ने में पोषक तत्व होने से वह भारतवर्ष की अधिकांश जनता के लिए खाद्यांश की पूर्ति करता है। १८ वर्ष पहले तक भारत हर साल लगभग १६ करोड़ रु० की चीनी विदेशों से मँगाया करता था। पीछे भारत-सरकार ने संरक्षण-कर लगाकर भारत के चीनी के उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता से बचा लिया। तथापि यदि भारतीय, यथेष्ट

*'सर्व संदेश', फ़रवरी १९४७, के आधार पर।

पौष्टिकभोजन चाहते हैं तो चीनी की पैदावार जो इस समय प्रति वर्ष लगभग ग्यारह लाख टन है, करीब दूनी करनी होगी। वर्त्तमान समय में चीनी का मूल्य बेहद बढ़ा हुआ है, इसे गिराने की बहुत आवश्यकता है। इसके लिए उचित यही है कि गन्ने की प्रति एकड़ उपज बढ़ाई जाय और अगली फ़सल में उसकी कीमत कम कर दी जाय। भारतवर्ष में जितना गन्ना पैदा होता है उसका लगभग आधा गुड़ बनाने के काम आता है, और जितनी चीनी ख़र्च होती है उससे तिगुना गुड़ खर्च होता है। खाँड और गुड़-उद्योग की समस्याओं को हल करने के लिए एक उप-समिति की आवश्यकता है।

स्थानाभाव से अन्य बड़े उद्योगों का यहाँ खुलासा विचार नहीं किया जा सकता। आगे प्रसगानुसार कुछ बातों का उल्लेख किया जायगा। यहाँ हमें उद्योग-धंधों के राष्ट्रीयकरण की बात को कुछ स्पष्ट करना है, जिसका जिक्र पहले कपड़े की मिलों के सम्बन्ध में हुआ है।

**उद्योग-धंधों का राष्ट्रीयकरण**—उत्पादन-कार्य दो प्रकार से होता है। एक तो यह कि उत्पादक को उसे चलाने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो, राज्य की ओर से उसमें कोई हस्तक्षेप न हो। इसे व्यक्तिवाद कहते हैं। दूसरा प्रकार यह है कि उत्पत्ति के साधनों का स्वामित्व राष्ट्रीय सरकार के हाथ में हो। प्रारम्भ में बहुत समय तक पहले मार्ग का अनुसरण हुआ, उससे पूँजीवाद की वृद्धि हुई, जिसका परिणाम हुआ मज़दूर तथा पूँजीपतियों का संघर्ष। इस पर ऐसे कानून बने जिनसे उत्पादन तथा वितरण सम्बन्धी समस्याओं में सरकार को पर्याप्त अधिकार मिले। आजकल प्रायः इसी नीति का अनुसरण किया जा रहा है। अब प्रत्येक देश में, यहाँ तक कि ब्रिटेन जैसे पूँजी वाले देशों में भी, राष्ट्रीयकरण की माँग बढ़ती जा रही है। श्रमजीवियों के रक्षार्थ कानून बनाना, उनको सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना, धंधों को बाह्य प्रतियोगिता से रक्षा करना, अनुसन्धान सम्बन्धी सामग्री प्रदान करना तथा आर्थिक सहायता देना—ये सब बातें उद्योग धंधों को राष्ट्रीयकरण की ओर ले

जा रही है।

राष्ट्रीयकरण के मुख्य दो रूप हैं। एक तो यह है कि सरकार ही उद्योग-धंधों का प्रबन्ध तथा संचालन करे और उसमें लगाने के लिए आवश्यक पूँजी भी जुटाए। दूसरा यह है कि उत्पादन-कार्य का संचालन तथा प्रबन्ध व्यक्तियों के हाथ में हो और वे ही मुनाफे के अधिकारी हों परन्तु उनका नियंत्रण या कन्ट्रोल सरकार करे।

आर्थिक बातों में देश-काल तथा परिस्थिति के अनुसार ही परिवर्त्तन हुआ करते हैं और होने भी चाहिए। साधारणतया रेल, सड़कें और अन्य मुख्य यातायात के साधनों का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए; इनमें बहुत सी बातें ऐसी हैं, जिनकी ठीक ठीक व्यवस्था राष्ट्रीय सरकार द्वारा ही हो सकती है। बहुत से आधारभूत धंधे ऐसे हैं जिनका उचित संचालन सरकार द्वारा अच्छी तरह हो सकता है। भारी रासायनिक द्रव्य और मशीन बनाने के कारखानों का भी राष्ट्रीयकरण होना उचित है; उनमें पर्याप्त पूँजी का जुटाना तथा देश-हित के उद्देश्य से उन्हें चलाने का कार्य राष्ट्रीय सरकार द्वारा ही सुगमता से हो सकता है। छोटे पैमाने के व्यवसायों का संचालन राष्ट्र के हाथ में देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इनके द्वारा धन-वितरण की बहुत असमानता नहीं होगी। हाँ, इनके संचालन के साधनों के लिए सरकार को संचालकों की उचित सहायता करनी चाहिए।*

भारत-सरकार की औद्योगिक नीति के विषय में आगे लिखा जायगा।

**कुछ ध्यान में रखने की बातें**—देश में औद्योगिक उन्नति या औद्योगिककरण की बात उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। यंत्रवाद के प्रबल प्रवाह के समय कुछ बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। (१) जैसा श्री० जे० सी० कुमारप्पा ने कहा है, एक ऐसे देश में जो प्रमुखतः खेतीहर है, और जहाँ लोग बिलकुल ही कम भोजन पर जीवन-

* 'सर्व-संदेश', फरवरी १९४७

यापन कर रहे हैं, उपर्युक्त योजना कृषि पर ही केन्द्रित होनी चाहिए, जिसमें प्रमुख विषय के रूप में भोजन और कपड़ा बनाने के कच्चे पदार्थों का उत्पादन भी हो। जमीन के ऐसे उत्पादन जो कारखानों के काम में आते हैं, जैसे मिल में जानेवाली ईख, विदेशी व्यापार के लिए तेलहन, निर्यात होनेवाली तमाखू, रुई की मिलों में जाने वाली लम्बे रेशे की रुई, एक अलग विभाग के हवाले होने चाहिएँ। सरकार आर्थिक सहायता आदि के रूप में इन्हें प्राथमिकता न दे। (२) मिलों और मशीनों का इस्तेमाल खासकर उन कार्यों के लिए किया जाय, जो उनके बिना हो नहीं सकते, और जिनके बिना देश का काम नहीं चल सकता। मिलों से जो हानियाँ वर्त्तमान समय में नज़र आती है, उन्हें रोकने का भी भरसक प्रयत्न किया जाय। मिलों के मालिक केवल धन पैदा करने की ओर ही लक्ष्य न रखकर इस बात की ओर भी ध्यान दें कि हज़ारों-लाखों आदमी अपेक्षाकृत अच्छी आमदनी के लालच में फँस कर अपना जीवन बर्बाद न करें। श्रमजीवियों की शिक्षा, स्वास्थ्य मनोरञ्जन और विकास के लिए समुचित साधनों की व्यवस्था होनी चाहिए; इस विषय की कुछ बातें आठवें अध्याय में कही जा चुकी हैं। (३) बिजली आदि की सञ्चालन शक्ति की यथेष्ट व्यवस्था की जाय, जिससे वह काफी सस्ती हो, और उसका उपयोग करते हुए श्रमी अपने घर में, अपने परिवार के आदमियों के साथ रहते हुए स्वतंत्रता-पूर्वक उद्योग-धंधे का काम कर सकें; मिलों और कारखानों की बुराइयों से बचे रहें। (४) यह प्रयत्न किया जाय कि विदेशों का सस्ता माल यहाँ न खप सके, और वह हमारे स्वतन्त्र व्यवसायों को चौपट न कर सके। यह कैसे? सरकारी सहायता तथा संरक्षण-करों से।

**उद्योग-धन्धों के लिए सरकारी सहायता**—छोटे उद्योग-धन्धों सम्बन्धी सरकारी सहायता के विषय में जो बातें पहले लिखी जा चुकी हैं, उनमें से कुछ, बड़े उद्योग-धन्धों की उन्नति के वास्ते भी उपयोगी होती हैं। बड़े उद्योग-धन्धों में एक मुख्य प्रश्न पूँजी का रहता है।

कभी-कभी सरकार उसके लिए बाजार दर से कम ब्याज पर रुपया उधार देती है, या कुछ ऐसा रुपया प्रदान करती है जिसे वह वापिस नहीं लेती, या उसके बदले, एक खास परिमाण में उत्पन्न वस्तु लेती है। सरकारी सहायता का एक रूप यह भी हो सकता है कि सरकार कुछ मशीनें उत्पादकों को किराए पर दे; एक निर्धारित अवधि तक किराया दे चुकने पर मशीनें उत्पादकों की हो जायँ। सरकार किसी आदमी या संस्था को, किसी वस्तु की उत्पत्ति का एकाधिकार देकर भी उद्योग-धन्धों की सहायता कर सकती है। उदाहरण के लिए बिजली आदि का ठेका किसी खास कम्पनी को दिया जाता है, इससे वह कम्पनी नगर भर के लिए बिजली का प्रबन्ध करती है, और उसकी दर काफी सस्ती रखती है। अगर दो या अधिक कम्पनियाँ अलग-अलग इस काम को करें, तो ग्राहकों के बँट जाने से प्रत्येक कम्पनी को बिजली कम पैदा करनी हो, फल-स्वरूप बिजली की दर ऊँची रहे, और इस धन्धे की वैसी उन्नति न हो।

**उद्योग-धंधों का संरक्षण**—सरकारी सहायता का एक व्यापक रूप उद्योग धन्धों का संरक्षण है। सरकार जिस नए उद्योग-धन्धे का संरक्षण करना चाहती है, उसकी विदेशी आयात (विदेशों से आनेवाले माल) पर काफी भारी कर लगाकर उसे मँहगा कर देती है। इससे देश में स्वदेशी वस्तु की बिक्री को सहायता मिलती है। कुछ समय के बाद यह वस्तु यहाँ सस्ती पड़ने लगती है, और विदेशी वस्तु की प्रतियोगिता में ठहरने योग्य हो जाती है। भारतवर्ष में सरकार ने प्रथम महायुद्ध से पहले उद्योग-धन्धों का संरक्षण नहीं किया। उस महायुद्ध के समय, तथा उसके बाद उसकी नीति में कुछ परिवर्तन हुआ। सन् १६१६ ई० में यहाँ की औद्योगिक परिस्थिति की जाँच करने के लिए कमीशन बैठाया गया। पश्चात् सन् १६२१ ई० में एक आर्थिक जाँच-समिति नियुक्त हुई। इसने सिफारिश की कि भारतीय उद्योग की रक्षा के लिए बाहर से आनेवाले माल पर विशेष कर लगाना चाहिए। उसके

बाद यहाँ 'टेरिफबोर्ड' कायम किया गया और उसकी सिफारिश के अनुसार विदेशी लोहे, फौलाद के सामान, कागज़, कपड़े, सीमेंट और चीनी की आयात पर क्रमशः ऐसा कर लगाया गया कि वे यहाँ की बनी उन चीजों से कुछ मँहगी हो गई। इससे इन वस्तुओं के स्वदेशी उद्योग-धन्धे को प्रोत्साहन मिला। अस्तु, संरक्षण नीति से स्वदेशी उद्योग-धन्धों की उन्नति होती है। परन्तु यह कोई स्थायी या एकमात्र उपाय नहीं है। अतः इससे पूर्व जो बातें कही गई हैं, उनका भी समुचित ध्यान रखा जाना चाहिए।

**युद्ध और उद्योग धन्धे**—युद्ध का उद्योग-धन्धों पर कई प्रकार से प्रभाव पड़ता है। शान्ति-काल में हम बहुत-सा तैयार माल विदेशों का काम में लाते हैं; युद्ध के समय उसका आना बन्द हो जाता है, और जनता स्वदेश में बने हुए माल से काम चलाने पर बाध्य होती है। कुछ आदमी अपनी आवश्यकताएँ नियंत्रित करते हैं, तो भी देश में उत्पादन-कार्य को प्रोत्साहन मिलता है। देशी माल विदेशी की अपेक्षा कुछ मँहगा होने पर भी, उसकी खूब माँग रहती है। सरकार कुछ पदार्थों की कीमत नियंत्रित करती है, तथापि कल-कारखाने वालों को काफी लाभ हो जाता है। उन्हें सरकार भी माल बनाने के लिए आर्डर देती है, उदाहरण के तौर पर सैनिकों की वर्दी का कपड़ा, कम्बल, थैले, बोरे, तम्बू आदि बनाने का आदेश किया जाता है। इस प्रकार उन्हें खूब काम रहता है, और उनके पास पहले से कहीं अधिक मजदूर काम करने लगते हैं। वे पहले की अपेक्षा बड़े पैमाने पर काम करते हैं, इससे उनके लाभ का परिमाण बढ़ना स्वभाविक ही है।

युद्ध के कारण उद्योग-धन्धों में एक बाधा भी होती है। विदेशों से आवश्यक मशीनें नहीं आ सकतीं; यदि आती भी हैं तो उनकी कीमत बढ़ी हुई होती है; फिर उनका मार्ग-व्यय तथा बीमा-खर्च आदि अधिक देना होता है। मशीनों सम्बन्धी इस बाधा से कोई नया कारखाना खोलना या किसी काम को बहुत अधिक बढ़ाना कठिन

होता है।

युद्ध-काल में कई नए उद्योग-धन्धों की आवश्यकता होती है; जैसे शस्त्रास्त्र, यांत्रिक गाड़ियाँ, वायुयान, जहाज और अन्य युद्ध सामग्री। यदि सरकार की नीति अनुकूल हो तो ये चीजें विदेशों से न मँगाकर स्वदेश में बनाई जा सकती हैं। परन्तु उस समय भारत पराधीन था, यहाँ सरकार ने इस ओर घोर उपेक्षा की। भारतीय व्यवसाय के विशेषज्ञ श्री विश्वेस्वरैया ने बताया था कि (१) जहाजी यात्रा की जोखिम उठाकर भी भारत से कच्चा लोहा इङ्गलैंड इसलिए भेजा गया कि उसकी फौलाद बनाई जाकर भारत मँगाई जाय। (२) भारतवर्ष के लिए जहाज यहाँ न बनवा कर आस्ट्रेलिया बनवाए गए। (३) भारत-सरकार ने यहाँ की मोटर कम्पनी को किसी प्रकार की मदद देने से इनकार किया; उसने यह भी स्वीकार न किया कि अपनी जरूरत तथा फौज के लिए इस को रखने की मोटरें खरीदे, और इस कारखाने के प्रयत्नों को युद्ध-प्रयत्नों में शामिल करे।

अमरीका से एक औद्योगिक कमीशन भारतवर्ष आया था। उसने युद्ध सम्बन्धी उद्योगों के लिए विविध सिफारिशें कीं। भारत-सरकार ने उनके अनुसार कुछ कार्य किया, पर वह काफी नहीं रहा। इन बातों के कारण युद्ध-काल में भी भारतीय उद्योग धन्धों की विशेष उन्नति न हो सकी; सरकार की इस विषय सम्बन्धी नीति बहुत खेद-जनक रही। पराधीनता की अवस्था में ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

**स्वतन्त्र भारत और औद्योगिक उन्नति**—स्वतन्त्र भारत की सरकार को औद्योगिक उन्नति की ओर ध्यान देना आवश्यक था। पर उसे कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अगस्त १९४६ से भारतवर्ष के औद्योगिक उत्पादन में क्रमिक ह्रास प्रारम्भ हो गया था। एक कठिनाई यह भी पैदा हो गई कि वस्तुओं की माँग अधिकाधिक बढ़ती गई। इसका फल यह हुआ कि मुद्रा-वृद्धि अबाध गति से होगई। उत्पादन की कमी के कारण ये थेः—(१) यातायात की कठिनाइयाँ

(२) कच्चे माल की कमी और (३) मजदूरों में असन्तोष। यातायात की कठिनाइयों के कारण एक तो कारखानों को कच्चा सामान, खासकर कोयला, पर्याप्त मात्रा में नहीं पहुँचाया जा सका और दूसरे उत्पन्न वस्तुओं को कारखानों से निकासी न हो सकी। कच्चे सामान में कोयला सीमेंट और इस्पात की भारी कमी रही। कास्टिक सोडा, सोडा-ऐश जैसे आवश्यक पदार्थों की तो समस्त संसार में ही कमी थी, फिर भारतवर्ष को तो इनकी प्राप्ति के लिए विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस-लिए यहाँ इनका आयात बहुत थोड़ी मात्रा में हुआ।

मजदूरों के असन्तोष से उत्पादन में बहुत कमी हुई। युद्धोत्तर काल की अनिश्चित परिस्थितियों और मुद्रा-बाहुल्य के कारण मजदूरों की कितनी ही हड़तालें हुईं इनका सबसे अधिक प्रभाव रेल के यातायात, पर तथा इस्पात और कपड़े के उद्योगों पर पड़ा।

इन कठिनाइयों के अतिरिक्त उत्पादन पर देश के विभाजन का भी प्रभाव पड़ा। साम्प्रदायिक उपद्रव और उसके बाद शरणार्थियों के आवागमन से चमड़ा, शीशा जैसे कई उद्योग अस्तव्यस्त हो गए। जूट और कपास के उत्पादन का अधिकांश क्षेत्र पाकिस्तान में चले जाने से इनके उद्योगों के लिए कच्चा माल मिलना कठिन हो गया।

इस विषय पर दिसम्बर १९४७ में उद्योग सम्मेलन में विचार किया गया। लगभग ३२ उद्योगों के लिए, जिनमें इस्पात सूती कपड़ा, सीमेंट, सुपर फोस्फेट, कागज और औषधियाँ, मशीनी औजार, मोटर-बेटरी बिजली पैदा करने के यन्त्र आदि शामिल थे, तात्कालिक योजना तैयार की गई। जिन उद्योगों के लिए विदेशों से मशीनें या साज-सामान मँगाना आवश्यक था, उनको अल्पकालीन योजना में रखा गया अनुमान लगाया गया कि तत्कालीन योजना को कार्यान्वित करने में अट्ठारह महीने, और अल्पकालीन योजना को पूरा करने में तीन वर्ष लगेंगे। इन योजनाओं का पूरा फल तो अभी मालूम नहीं हुआ, तथापि कुछ उद्योगों में प्रगति दिखाई दे रही है है, जैसे शीशा,

चीनी मिट्टी, अल्युमिनियम, डीज़ल इंजिन, नमक आदि।

उत्पादन की नई योजनाएँ— मार्च १९४८ में भारत सरकार द्वारा निर्मित प्रथम जहाज 'जल ऊषा' (८,००० टन) विजगापट्टम बन्दरगाह के जहाज़ी कारखाने से समुद्र में उतारा गया। पीछे सिंधिया कम्पनी का ८,००० टन का एक दूसरा जहाज भी तैयार किया गया। यह एक महत्वपूर्ण प्रगति है, यद्यपि भारतवर्ष को २०,००,००० टन के व्यापारी जहाजों की आवश्यकता है।

बेंगलौर की हिन्दुस्तान-एअर-क्राफ्ट फैक्टरी ने उत्पादन-कार्य प्रारम्भ कर दिया है। यह कम्पनी अगले दो वर्षों में ३० वायुयान बना सकेगी। भारत के दो कारखानों ने मोटर बनाने का कार्य शुरू कर दिया है उन्होंने सवा दो करोड़ की मशीनें मँगवाई हैं। सड़क कूटनेवाला एक इंजिन जमशेदपुर में बन ही चुका है। प्रतिवर्ष १० लाख टन इस्पात बनाने योग्य एक कारखाना खोलने की सरकारी योजना चालू है। अगले ५ वर्ष में यह कारखाना इस्पात बनाने लग जायगा। कोयले का उत्पादन बढ़ाने और कोयले के तेल निकालने तथा लोहे के कारखाने स्थापित करने की योजना पर विचार हो रहा है। इसी प्रकार अमोनियम-सलफ़ेट, गन्धक का तेजाब, सोडा, और विस्फोटक रसायनिक पदार्थों का उत्पादन बढ़ाने की योजना पर विचार हो रहा है। अनुमान है कि आगमी १५ वर्षों में भारत रासायनिक पदार्थों और औषधियों के सम्बन्ध में स्वावलम्बी हो जायगा।

भारत सरकार ने एक राष्ट्रीय योजना-समिति बना दी है, जो औद्योगिक विकास की योजनाएँ बनाए और कार्यक्रम निश्चित करे।

भारत सरकार की औद्योगिक नीति— भारत सरकार की अप्रेल १९४८ में घोषित औद्योगिक नीति की मुख्य बातें ये हैं—शस्त्रास्त्र और गोला बारूद के उत्पादन, परमाणु शक्ति के उत्पादन और रेलवे यातायात के नियंत्रण पर केन्द्रीय सरकार का अधिकार होना चाहिए। कोयला, लोहा, इस्पात वायुयान-निर्माण, जहाज़-निर्माण, रेडियो-सेट,

टेलीफोन यंत्र और खानिज तेल—इन उद्योगों पर सरकार का आवश्यक नियन्त्रण और नियम रहेगा। यद्यपि सरकार का वर्तमान औद्योगिक कारखानों पर कब्जा करने का सदा ही अधिकार रहेगा फिर भी सरकार ने १० वर्ष के लिए इन उद्योगों को पनपने का अवसर देने का निर्णय किया है।

कुछ ऐसे आधारभूत महत्वपूर्ण उद्योग भी ऐसे हैं जिनका केन्द्रीय सरकार द्वारा संयोजित तथा नियमित होना आवश्यक है। इनमें से कुछ ये हैं:— नमक, मोटर, बिजली, इंजीनियरिङ्ग, भारी मशीनें, मशीनी औजार, उच्च प्रकार के रसायन, खाद और औषधियाँ, बिजली तथा रसायन सम्बन्धी उद्योग, रबड़ की वस्तुएँ, सूती तथा ऊनी कपड़ा, सीमेंट चीनी, कागज, हवाई तथा समुद्री यातायात, खनिज पदार्थ और सुरक्षा सम्बन्धी उद्योग।

शेष औद्योगिक क्षेत्र में साधारणतः व्यक्तिगत और सामुहिक दोनों ही प्रकार के निजी उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जायगा। राष्ट्र की आर्थिक स्थिति में घरेलू तथा छोटे-छोटे उद्योगों का एक विशेष स्थान है। इस उद्योग को सहकारिता के आधार पर संगठित करना सरकार का उद्देश्य रहेगा।

**विशेष वक्तव्य**—देश में समाजवाद की लहर बढ़ रही है। कल-कारखानों के मालिकों तथा अन्य पूँजीपतियों की बेढब मुनाफाखोरी से इसे खूब बल मिल रहा है। निदान उद्योग-धन्धों के राष्ट्रीयकरण की चर्चा जोरों पर है। तथापि अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों को किसी उद्योग धन्धे के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में मत देते समय गम्भीरता से काम लेना चाहिए। जिस उद्योग का राष्ट्रीयकरण होने से उसका संचालन सुचारुरूप से तथा किफायत से होने के साथ देश-हित होता हो, उसका राष्ट्रीयकरण हो जाना ठीक ही है। पर यह नहीं समझना चाहिए कि सरकार द्वारा संचालित होने पर हर उद्योग में यह बात हो ही जायगी। उदाहरण स्वरूप रेलों की बात हमारे

सामने है। राष्ट्रीयकरण होते हुए भी इनका प्रबन्ध कितना खराब है। कितनी रिश्वतखोरी है! यात्रियों से रेलवे अधिकारियों का व्यवहार कितना अशिष्टता-पूर्ण है! कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय सरकार नई व्यवस्था जमाने का अभी यथेष्ट अवकाश नहीं मिला है, और वह धीरे-धीरे इस परिस्तिति में सुधार करेगी। तथापि इस तरह के उदाहरणों से राष्ट्रीयकरण के पक्षपातियों को शिक्षा लेनी चाहिए और अंधाधुन्ध हरेक उद्योग के राष्ट्रीयकरण का आन्दोलन नहीं करना चाहिए।

पूँजीपतियों को भी विचार करने की आवश्यकता है। उन्हें व्यर्थ भयभीत नहीं होना चाहिए। जिस उद्योग-धंधे का राष्ट्रीयकरण होगा, उसके संचालन के लिए सरकार को अनुभवी कार्यकर्ताओं की जरूरत होगी और वह कुशल उद्योगपतियों से काम लेगी। इस दशा में उन्हें ऐसा मुनाफा न मिलेगा जैसा वे अपना निजी उद्योग चलाकर समाज-हित की उपेक्षा करते हुए पा लेते थे। पर वह तो अनुचित था। यदि हमारे उद्योगपति अपने स्वार्थ को कुछ कम करके उत्पादन बढ़ाने में भरसक योग दें और मजदूरों के तथा समाज के हित का यथेष्ट ध्यान रखें तो सरकार उनके उद्योग को अपने अधिकार में करने का झञ्झट क्यों करेगी। इस समय भारत-सरकार उद्योगपतियों को दस वर्ष का समय दे रही है, उद्योगपतियों को चाहिए कि वे अपने व्यवहार से राष्ट्रीयकरण की अनावश्यकता सिद्ध करने का प्रयत्न करें।

आशा है, स्वतन्त्र-भारत निकट भविष्य में ऐसी औद्योगिक उन्नति कर लेगा कि वह किसी खास बात में परमुखापेक्षी न हो, और साथ ही ऐसी व्यवस्था करेगा कि उद्योग-धन्धों का काम करने वाले करोड़ों नागरिकों को सुख-शान्ति का प्रयोग करते हुए यथेष्ट विकास का अवसर मिलता रहे।

—०—

## ग्यारहवाँ अध्याय

# उत्पत्ति की वृद्धि और आदर्श

पिछले अध्यायों में भारतवर्ष में होनेवाली उत्पत्ति के सम्बन्ध में विविध बातों का विचार किया जा चुका है। अब हमें यह सोचना है कि क्या यहाँ उत्पत्ति बढ़ाने की आवश्यकता है, तथा उत्पत्ति के विषय में हमारा आदर्श क्या रहना चाहिए। आदर्श-हीन तो कोई कार्य उचित नहीं है।

उत्पत्ति की वृद्धि; स्वावलम्बन की आवश्यकता हम पहले बता चुके हैं कि भारतवर्ष में यहाँ की जनसंख्या को देखते हुए उत्पत्ति का परिमाण बहुत कम है, और इसलिए लोगों की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं है। उपज की मात्रा कम होने के कारणों पर प्रसंगानुसार विचार किया जा चुका है। एक मुख्य कारण यह है कि अनेक आदमी यहाँ ऐसे हैं, जो उत्पादन में भाग नहीं लेते। जब कि प्रत्येक व्यक्ति भोजन-वस्त्र आदि की विविध वस्तुओं का उपभोग करता है, अथवा अपने बच्चों को खिलाता पहिनाता है, तो उसके लिए आवश्यक है कि वह अपनी सामर्थ्य और सुविधानुसार उन चीजों की वृद्धि करे। किसी व्यक्ति का निठल्ला या निरुद्यमी रहना अनुचित है; वह एक अपराध है, पाप है। इस दृष्टि से वे सब बड़े सेठ-साहूकार, पूँजीपति, जमींदार आदि दोषी हैं, जो कुछ विशेष काम नहीं करते, और ऐश्वर्य का जीवन व्यतीत करते हैं। फिर, उन आदमियों के दोषी होने में तो कोई सन्देह ही नहीं है, जो समर्थ होते हुए भी समाज के लिए कुछ भी सेवा या उपकार नहीं करते, और भिक्षा, या दान-वृत्ति आदि से अपनी गुजर करते हैं। जनता की श्रद्धा या धार्मिक भावनाओं का इस प्रकार लाभ उठाया

जाना निन्द्य है। हाँ, जो व्यक्ति अपने किसी शारीरिक या मानसिक विकार के कारण कुछ उत्पादन-कार्य नहीं कर सकते, उनका दूसरों के आश्रित रहना बुरा नहीं। बच्चों, लँगड़े-लूले अपाहिजों या, रोगियों के निर्वाह की समुचित व्यवस्था करना उनके परिवारवालों तथा समाज का कर्तव्य है। अस्तु, यदि इन बातों का ध्यान रखा जाय, और श्रम करने योग्य हरेक आदमी स्वावलम्बी हो तो देश में उत्पत्ति यथेष्ट हो जाय, कुछ कमी न रहे, यह स्पष्ट ही है।

कैसी चीजों की उत्पत्ति की जानी चाहिए?—अच्छा, क्या ऐसी प्रत्येक चीज़ बना ली जाया करे, जो विनिमय-साध्य हो? हम पहले बता चुके हैं कि कई प्रकार की वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनके बनाने का श्रम व्यक्तिगत दृष्टि से उत्पादक माना जाने पर भी सामाजिक दृष्टि से उत्पादक नहीं होता। उदाहरण के तौर पर एक आदमी मादक वस्तुएँ बनाता है, अथवा, आतिशबाजी या विलासिता की चीजें बनाता है। समाज की मौजूदा हालत में उस आदमी को उन चीज़ों की कीमत मिल जाती है, और वह अपने आपको उत्पादक कह सकता है। परन्तु उसके समय या शक्ति से समाज को कुछ भलाई न होकर हानि ही होती है। यदि वह आदमी अन्न-वस्त्र आदि बनाता, कृषि के लिए उपयोगी औजार बनाता, दूध देने वाले पशुओं के भरण-पोषण का काम करता, अथवा किसी उद्योग-धंधे में लगता तो उसको लाभ होने के साथ-साथ उससे समाज का भी बहुत हित-साधन होता। इसलिए हमें ऐसी ही चीजों की उत्पत्ति करनी चाहिए, जो केवल हमारे लिए कुछ आमदनी का साधन न हों, वरन् उससे समाज को भी भलाई हो।

यही नहीं समाज की सुरक्षा और विकास के लिए यह भी आवश्यक है कि कुछ आदमी अपने निजी स्वार्थ को त्याग कर अपने श्रम का लाभ और जाति देश को पहुँचायें, वे ऐसी चीजें बनाएँ, ऐसे आविष्कार या अनुसंधान करें, जिनसे समाज की मौजूदा समस्याओं का

हल हो। वे ऐसी सेवाएँ करें, जिनसे चाहे उन्हें विशेष आमदनी न हो पर समाज का हित अवश्य हो। भारतवर्ष में बहुत से साधु-संत, महात्मा, कथावाचक, लेखक, कवि चिकित्सक आदि समय-समय पर अपना जीवन समाज के लिए अर्पण करते रहे हैं। इस समय भी स्वार्थत्याग करनेवाले परोपकारी नेताओं और कार्यकर्त्ताओं का अभाव नहीं है। हाँ, राष्ट्र को वर्त्तमान अवस्था में ऐसे आदमी काफ़ी अधिक संख्या में होने चाहिएँ।

**उत्पत्ति का आदर्श : पूँजीवाद या स्वार्थवाद ?**—आज-कल पूँजीवाद का प्रचार बहुत है। अनेक आदमी उसी वस्तु की उत्पत्ति करते हैं, जिससे उन्हें नफा हो। वे किसी वस्तु की उत्पत्ति उस सीमा तक करते हैं, जहाँ तक करने से उन्हें अधिक-से-अधिक लाभ होता हो। उनका मुख्य लक्ष्य अपने मुनाफे का रहता है।* उनके कार्य से समाज का हित होता है, या नहीं, अथवा उनकी उत्पादन-विधि में श्रमजीवियों के कुशल-क्षेम की रक्षा और वृद्धि होती है या नहीं, यह बात पूँजीपतियों के लिए गौण रहती है: वे इस पर उतना ही ध्यान देते हैं, जिससे वे कानून की पकड़ में न आवें। आधुनिक उत्पादन में पूँजी और मजदूरी के झगड़े नित्य बने रहते हैं, द्वारावरोध और हड़तालों की आशंका रहती है। इनके निवारण के लिए कानून की व्यवस्था की जाती है, परन्तु वह पर्याप्त नहीं होती। पराधीन देशों में प्रायः पूँजीपतियों और सरकार का बहुत सहयोग होता है। अधिकांश पूँजीपति शासनपद्धति को प्रजातंत्रमूलक होने देने में यथा-सम्भव बाधक ही रहते हैं। वे एक प्रकार से तानाशाही, या एकतंत्रवाद के समर्थक, और साम्राज्य के आधार-स्तंभ होते हैं; और, देश की स्वतंत्रता

*अमरीका आदि के पूँजीपति जब यह देखते हैं कि उत्पत्ति का परिमाण इतना अधिक हो गया है कि वस्तु की दर गिरने, और उन्हें लाभ कम होने की सम्भावना है, तो हजारों-लाखों आदमियों के उस वस्तु के लिए, तरसते हुए भी, वे उस वस्तु को समुद्र या अग्नि की भेंट करने में संकोच नहीं करते।

में रोड़े अटकाया करते हैं स्वाधीन देशों में पूँजीपति सरकारी अधिकारियों पर अनुचित प्रभाव डालने का तथा अपने पक्ष के आदमियों को पदारूढ़ कराने का प्रयत्न करते रहते हैं। सरकार का सहयोग पाकर ये, पिछड़े हुए या कम उन्नत देशों पर 'आर्थिक आक्रमण' करने तथा अपना प्रभुत्व जमाने की धुन में लगे रहते हैं। स्वार्थ, कूटनीति चालबाजी के वातावरण में जनता को सुख-शान्ति नहीं मिलती। पूँजीवाद से संसार में हरदम महायुद्ध की आशंका बनी रहती है।

**परमार्थवाद**—इससे यह साफ जाहिर है कि पूँजीवाद या स्वार्थवाद, उत्पत्ति के आदर्श की दृष्टि से, अनुचित और हानिकारक है। इसमें वह सुख और शान्ति कहाँ, जो परमार्थवाद में है! परमार्थवाद के कई दर्जे हैं। कुछ आदमी वस्तुओं की उत्पत्ति में ही परोपकार का भाव रखते हैं। उदाहरण के लिए कोई प्रकाशक धार्मिक या सामाजिक साहित्य छपाकर उसे नाम-मात्र के मुनाफे से बेचता है। वह अपने कार्य का मुख्य उद्देश्य लोक सेवा मानता है। कुछ आदमी त्याग-भाव से समाज-सेवा करते हैं। वे बहुत ही संयम और सादगी से रहते हुए इस बात का प्रयत्न करते रहते हैं कि स्थान-स्थान पर कुएँ, बाग, प्याऊ, धर्मशाला, अनाथालय, औषधालय, पुस्तकालय या विद्यालय आदि बन जाँय और गाँवों में स्वास्थ्य और शिक्षा आदि का कार्य बढ़े। भारतीय इतिहास ऐसे अनेक सज्जनों के चरित्रों से भरा पड़ा है, जिन्होंने अपने श्रम का बहुमूल्य प्रतिफल देश और जाति की सेवा में अर्पण करके, विलक्षण सुख और संतोष का अनुभव किया। पर ऐसा आदर्श रखने का सौभाग्य कुछ थोड़े से ही आदमियों को मिलता है।

**मध्यम मार्ग**—साधारण आदमी ऐसे महानुभावों का गुणगान तो करते हैं, पर उनका अनुकरण नहीं कर सकते। वे उत्पत्ति का ध्येय स्वार्थवाद रखना नहीं चाहते और परमार्थवाद रख नहीं सकते। उनके लिए उत्पत्ति सम्बन्धी व्यावहारिक आदर्श मध्यम भाग हैं; वह

यह कि उत्पत्ति से उत्पादक को लाभ हो, उसका अच्छी तरह सुख-पूर्वक निर्वाह ही पर कष्ट या हानि किसी की न हो। हमारे कार्य से दूसरों को समाज की, भलाई अवश्य हो।

विशेष वक्तव्य—कुछ आदमी बहुत कुछ कल्पना-जगत में रहते हुए यह उपदेश किया करते हैं कि धन बहुत बुरी चीज है, इसकी उत्पत्ति या वृद्धि नहीं करनी चाहिए। यह उपदेश कहाँ तक समाज-हितकर है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इस उपदेश के अनुसार व्यवहार करने से मनुष्यों का जीवन धारण तथा विकास हो किस प्रकार हो सकता है? इसलिए दूरदर्शी आचार्यों या शास्त्रकारों ने यही आदेश किया है कि धन की उत्पत्ति करो; चाहे जितना धन उत्पन्न करो, पर इस बात का ध्यान रखो कि यह कार्य धर्म-पूर्वक हो, किसी को कष्ट या हानि पहुँचा कर नहीं। दूसरों के स्वार्थ का भी ऐसा ही ध्यान रखो, जैसा स्वयं अपने स्वार्थ का। धर्म-पूर्वक पैदा किए हुए धन से ही व्यक्ति का, देश का, और मानव समाज का वास्तविक हित-साधन होता है।

—०—

# तीसरा भाग

# उपभोग



## बारहवाँ अध्याय

## उपभोग और आवश्यकताएँ



किसी पदार्थ की उत्पत्ति, उसके उपभोग किए जाने के लिए ही की जाती है। इस विचार से हम यह कह सकते हैं कि उपभोग और उत्पत्ति का, कारण और कार्य का सम्बन्ध है। मनुष्यों को विविध प्रकार के पदार्थों की आवश्यकता होती है। वे उन पदार्थों को खर्च या उपभोग करना चाहते हैं। इसीलिए संसार में तरह तरह के काम-धन्धे दिखलाई पड़ते हैं। यदि हमारी आवश्यकताएँ कुछ भी न रहें, तो बहुत-से कार्य बन्द कर दिए जायँ। फिर, जो पुरुष यथेष्ट पदार्थ खाए-पिएगा ही नहीं, उसकी उत्पादन-शक्ति का ह्रास हो जायगा। इस दृष्टि से भी उत्पत्ति का उपभोग से घनिष्ट सम्बन्ध है।

**उपभोग के विचार का महत्त्व**—धन की उत्पत्ति बहुधा बहुत कठिन समझी जाती है, और उसे बढ़ाने के नए-नए ढङ्ग निकालने के लिए बड़े-बड़े दिमाग़ काम करते हैं। परन्तु उपभोग की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। जैसा कि श्री० एफ़. ए. वाकर ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है, लोग बिना पढ़े-लिखे ही अपने आप को इस विषय का पूर्ण ज्ञाता समझते हैं। परन्तु अर्थशास्त्र के सिद्धांतों पर ध्यान देने से मालूम होता है कि असल में प्रति सैकड़ा ९९ मनुष्यों को अपव्ययी होने का दोषी ठहराया जा सकता है। इस बात की सचाई की जाँच के लिए आप जुदा-जुदा आदमियों के एक महीने के

खर्च पर सूक्ष्म विचार करें। आपको विदित हो जायगा कि प्रायः हरेक आदमी ने कुछ-न-कुछ खर्च ऐसा अवश्य किया है, जो उसे न करना चाहिए था, अथवा उसने जिस वस्तु को खरीदने में खर्च किया है, उसकी अपेक्षा कोई अन्य वस्तु उसके लिए अधिक उपयोगी है। इसका कारण यह है कि कोई मनुष्य यह अच्छी तरह नहीं जानता कि किसी वस्तु के उपभोग में वास्तविक उपयोगिता कितनी होगी। कभी-कभी जब हम बाज़ार से चीजें ले आते हैं तो पीछे ऐसा मालूम होता है कि उन चीजों में एक-दो ऐसी हैं जो वास्तव में उतनी उपयोगी नहीं हैं, जितनी हम उन्हें समझते थे; और, कोई दूसरी चीज़ जिसे हम खरीद कर नहीं लाए हैं, हमारे लिए अधिक उपयोगी थी। ऐसी बातों से यह स्पष्ट है कि उपभोग के विषय का विचार करने की कितनी आवश्यकता है।

उपभोग का महत्व केवल उपभोक्ता की ही दृष्टि से नहीं है। उत्पादकों को भी इसके विचार की अत्यन्त आवश्यकता है। हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि जिन वस्तुओं को हम उत्पन्न करें, वे ऐसी हों, जिनका उपभोग होता है। पर इसका यह आशय नहीं कि हम अपने लाभ के वास्ते ऐसी वस्तुओं का भी उत्पादन करें, जो सामाजिक दृष्टि से हानिकर हों; इस सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है।

**विचार न करने से हानि**—यदि कोई आदमी उपभोग के बारे में अच्छी तरह विचार नहीं करता तो उसका जीवन बहुत कष्टमय हो जाता है। भोजन के ही विषय को लें। हमारा मन चाहता है कि जो चीजें स्वादिष्ट हों, खूब खट्टी-मीठी या चटपटी हों, उनका उपभोग करें। प्रायः हम उनका उपभोग करते भी हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हमारा पैसा व्यर्थ जाता है, उसकी हानि तो होती ही है; स्वास्थ्य की भी हानि होती है। फिर, किसी आदमी या परिवार की आय की एक सीमा होती है। यदि वह किसी के बहकाए में, या विज्ञापनबाजों के धोखे में आकर, बहुत-सा पैसा कम उपयोगी वस्तुओं को खरीदने में

खर्च कर डालता है, तो उसे अपने जीवन-निर्वाह में कठिनाई उपस्थित होगी। यह कोई कल्पित बात नहीं है। हम रोज देखते हैं, बहुत से मज़दूर अपने वेतन का खासा भाग मादक वस्तुओं के उपभोग में खर्च कर डालते हैं; और, कितने ही युवक 'टाकी', चल-चित्र, सिनेमा या नाटक आदि में बहुत-सा पैसा उड़ा देते हैं। वे थोड़ी देर का आनंद लेते हैं, पर पीछे उन्हें कष्ट भी बहुत उठाना पड़ता है। अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उनके पास धन नहीं रहता, वे सारी उम्र ऋणी या कर्जदार रहते हैं।

जब किन्हीं दो परिवारों की आमदनी बराबर हो, और दोनों के आदमी भी संख्या में समान हों, एवं उनकी आवश्यकताएँ भी बहुत-कुछ एक-सी हों, तब यदि एक परिवार अपना निर्वाह अच्छी तरह कर रहा हो, और दूसरा बड़े कष्ट में हो तो समझना चाहिए, कि उनके इस अंतर का एक प्रधान कारण यह है कि पहले परिवार का उपभोग-कार्य विचार-पूर्वक है, और दूसरे का ऐसा नहीं है।

बहुधा स्त्रियों को घर में तरह-तरह की चीज़ें रखने का शौक होता है। वे बाजार या मेले-तमाशे में जाती हैं तो सजी हुई दुकानों को देखकर उनका मन अनेक चीज़ों की तरफ चला जाता है, और वे बहुत-सी चटक-मटक की, या अनावश्यक वस्तुएँ खरीद लेती हैं; अथवा, स्त्रियों को प्रसन्न करने के लिए आदमी ही वैसी चीज़ें खरीद लाते हैं। इससे बहुधा, खासी अच्छी आयवाले परिवार की भी आर्थिक हालत खराब रहती है।

हम किसी वस्तु का उपभोग इसलिए करते हैं कि हमें उस वस्तु के उपभोग की आवश्यकता प्रतीत होती है, और हम अपनी उस आवश्यकता को पूरी करना चाहते हैं। इस प्रकार उपभोग का मूल है, आवश्यकताएँ। उनके विषय में कुछ जरूरी बातें जान लेनी चाहिएँ।

**आवश्यकताएँ**—मनुष्यों की विविध आवश्यकताओं के दो भेद किए जा सकते हैं:—(१) वे आवश्यकताएँ, जो धन या सम्पत्ति द्वारा

पूरी हो सकती हैं; जैसे भूख-प्यास तथा सर्दी-गर्मी के लिए भोजन, और वस्त्रादि की आवश्यकता होती है। ये पदार्थ धन या सम्पत्ति द्वारा मिल सकते हैं। (२) वे आवश्यकताएँ, जो धन या सम्पत्ति द्वारा पूरी नहीं हो सकतीं; जैसे कुटुम्ब का प्रेम आदि। अर्थशास्त्र में इन दूसरी प्रकार की आवश्यकताओं का विचार नहीं किया जाता। यह शास्त्र उन्हीं आवश्यकताओं का विवेचन करता है, जो धन या सम्पत्ति द्वारा पूरी हो सकती हैं। इन्हें 'आर्थिक आवश्यकताएँ' कहते हैं।'

**आर्थिक आवश्यकताओं के लक्षण**—आदमियों की आवश्यकताओं के मुख्य लक्षण ये हैं—

(१) उनकी संख्या अनन्त है। आमतौर से मनुष्य को भाँति-भाँति के भोजन, तरह-तरह के वस्त्र, नई-नई पुस्तकों और दूसरी चीज़ों की इच्छा बनी रहती है। सभ्यता के साथ-साथ ये आवश्यकताएँ अधिकाधिक बढ़ती जाती हैं, तथा विचार-शक्ति बढ़ने से नई-नई इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं।

(२) यथेष्ट साधन होने पर मनुष्य की प्रत्येक आर्थिक आवश्यकता अलग-अलग पूरी हो सकती है; परन्तु ज्यों ही एक आवश्यकता पूरी होती है, त्यों ही दूसरी आ खड़ी होती है। इस प्रकार नई-नई जरूरतें पैदा होते रहने से साधारण मनुष्य की सब-की-सब आवश्यकताओं की पूर्ति होना कठिन है। फिर, प्राकृतिक, प्रारम्भिक या शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति अधिक सरल और सम्भव है, परन्तु कृत्रिम आवश्यकताओं के सम्बन्ध में यह बात नहीं होती। उदाहरण के लिए यह तो अनुमान किया जा सकता है कि एक आदमी कितना भोजन करेगा; लेकिन यह सहसा नहीं कहा जा सकता कि इतने द्रव्य, धन, या आभूषणों आदि से कोई पुरुष या स्त्री सन्तुष्ट होगी।

(:) एक ही प्रकार की आवश्यकताओं में बहुधा प्रतियोगिता रहती है। एक आवश्यकता उसी प्रकार की दूसरी आवश्यकता को हटाकर उसकी जगह लेने का प्रयत्न करती है। दूध पीनेवाले बहुत-से

आदमियों को दूध महँगा होने की दशा में चाय या कहवे का अभ्यास हो जाता है। सवारी के लिए भारतवर्ष में रथ या बैलगाड़ी की आवश्यकता का स्थान अब इक्का-बग्घी की आवश्यकता ने ले लिया है; अधिक समर्थ आदमी तो मोटर की अभिलाषा रखते हैं। गेहूँ खानेवाले अकाल के समय ज्वार, बेझर या मक्का आदि से, और इनके भी अभाव में शाक-भाजी या वृक्षों की पत्तियों तक से निर्वाह करते हैं।

(४) आवश्यकताएँ एक दूसरे की पूरक या पूरी करनेवाली होती हैं। बहुधा किसी वस्तु की पृथक् आवश्यकता कम होती है; उसके साथ अन्य वस्तुओं की भी आवश्यकता होती है, जैसे शाक-भाजी के साथ मसाले, ईंधन और बर्तनों की आवश्यकता होती है। हाँ, उसका इक्के के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु इक्के के साथ घोड़े और साज आदि की आवश्यकता होगी। इस प्रकार आदमियों की आवश्यकताओं के कई समूह हैं। एक समूह की एक वस्तु का, उसी समूह की अन्य वस्तुओं से, परस्पर सम्बन्ध होता है।

(५) आवश्यकताओं की प्रवृत्ति आदत बनने की रहती है। जब एक चीज किसी देश में बराबर एक-दो पीढ़ी तक बरती जाती है, तब वहाँ वालों को उसकी आदत पड़ जाती है। इस प्रकार कृत्रिम आवश्यकताएँ प्राकृतिक आवश्यकता का स्वरूप धारण कर लेती हैं। योरप के देशों में नेकटाई या कालर, वस्त्र का एक प्रधान अंग माना जाता है। अनेक मजदूरों के लिए शराब एक आवश्यक वस्तु है। इस प्रकार आवश्यकताओं के बदलने या घटने-बढ़ने से समय-समय पर रहनसहन का दर्जा बदलता रहता है।

(६) आवश्यकताएँ एक सीमा तक रोकी जा सकती हैं—उनका नियंत्रण हो सकता है। प्रायः इस बात को आदमी भूल जाते हैं; अर्थशास्त्र के ग्रन्थों में भी इसका बहुत कम विचार किया जाता है। इस पर कुछ विशेष प्रकाश आगे डाला जायगा।

———

## तेरहवाँ अध्याय

# उपभोग के पदार्थ

मनुष्य जिन अनेक पदार्थों का उपभोग करते हैं, उनके साधारणतया पाँच भेद किए जा सकते हैं:—(१) जीवन-रक्षक पदार्थ, (२) निपुणतादायक पदार्थ, (३) कृत्रिम आवश्यकताओं के पदार्थ, (४) आराम के पदार्थ, और (५) विलासिता के पदार्थ।

**जीवन-रक्षक पदार्थ**—वे पदार्थ जो प्राण धारण करने के लिए आवश्यक हैं; जैसे साधारण अन्न, साधारण वस्त्र, साधारण मकान आदि। इन पदार्थों की माँग कम लोचदार होती है;* जैसे-जैसे इनकी कीमत बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे इन पदार्थों पर होने वाला कुल खर्च बढ़ता जाता है।

**निपुणतादायक पदार्थ**—निपुणतादायक पदार्थ वे पदार्थ हैं, जिनके उपभोग से मनुष्यों की कार्य-कुशलता बढ़ती है, और उत्पादन में जो वृद्धि होती है उसका मूल्य उपभोग के पदार्थों के मूल्य से अधिक होता है, जैसे पुष्टिकारक भोजन, स्वच्छ वस्त्र, अच्छे हवादार मकान आदि। इनकी भी माँग कम लोचदार होती है; जैसे-जैसे इनकी कीमत बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे इन पर होनेवाला कुल खर्च भी बढ़ता है।

**कृत्रिम आवश्यकताओं के पदार्थ**—जो पदार्थ असल में

* कीमत के (अल्प) परिवर्तन से किसी वस्तु की माँग के बढ़ने या घटने के गुण को 'माँग की लोच' कहते हैं। जब कीमत में थोड़ा-सा ही परिवर्तन होने से, किसी चीज़ की माँग बहुत घट-बढ़ जाती है, तो यह कहा जाता है कि उसकी माँग लोचदार है।

आवश्यक नहीं होते, परन्तु रीति-रस्म, आचार-व्यवहार और आदतों के कारण आवश्यक समझे जाने लगते हैं, उन्हें कृत्रिम आवश्यकताओं के पदार्थ कहते हैं। बहुधा इनके लिए बहुत-से आदमी अपने जीवन-रक्षक या निपुणतादायक पदार्थों में भी कुछ कमी कर देते हैं—जैसे शराब, गाँजा, भाँग, तम्बाकू, अफ़ीम, विवाह-शादियों में या जन्म-मरण के समय उपभोग किए जानेवाले कई अनावश्यक पदार्थ। इनकी भी माँग कम लोचदार होती है, और जैसे-जैसे इनकी कीमत बढ़ती जाती है, इन पर होनेवाला कुल खर्च भी बढ़ता जाता है।

**आराम के पदार्थ**—आराम के पदार्थ वे कहे जाते हैं, जिनके उपभोग से मनुष्य की कार्य-कुशलता बढ़ती है, वह अधिक उत्पत्ति करने लगता है; परन्तु उत्पादन में जो वृद्धि होती है उसका मूल्य उप-भोग के पदार्थों के मूल्य की अपेक्षा कम रहता है। उदाहरण के लिए मामूली मजदूर के लिए साइकल, बढ़िया कपड़े, कीमती मकान आदि। इनकी माँग साधारणतया लोचदार होती है, और जैसे-जैसे इनकी कीमत बढ़ती या घटती है, माँग भी प्रायः उसी अनुपात में घटती-बढ़ती है; इससे उन पर किया जानेवाला कुल खर्च प्रायः एकसा रहता है।

**विलासिता के पदार्थ**—विलासिता के पदार्थ वे पदार्थ होते हैं, जिनके उपभोग से कार्य-कुशलता बहुत ही कम बढ़ती है, या नहीं भी बढ़ती; और, कुछ दशाओं में तो उसके घटने की सम्भावना रहती है, जैसे एक मामूली मजदूर के लिए बहुत ही बढ़िया कपड़े, चश्मा, मोटर आदि। इनकी माँग बहुत लोचदार होती है, और जैसे-जैसे इसकी कीमत बढ़ती जाती है, इन पर होनेवाला खर्च, बढ़ी हुई कीमत के अनुपात से, कम होता जाता है।

याद रहे कि जो पदार्थ एक मनुष्य के लिए आराम या विलासिता का पदार्थ है, वही दूसरे के लिए निपुणतादायक भी हो सकता है। एक ही आदमी के लिए भी पदार्थ की कीमत बढ़ जाने पर, अथवा

उस व्यक्ति के निर्धन हो जाने पर, निपुणतादायक पदार्थ आराम या विलासिता का पदार्थ हो सकता है।

**अधिकतम तृप्ति**—विविध पदार्थों का उपभोग इसलिए किया जाता है कि तृप्ति मिले। अब प्रश्न यह है कि किसी आदमी को अपनी आय किस प्रकार खर्च करनी चाहिए कि उसे अधिक-से-अधिक तृप्ति हो। इसके वास्ते उसे चाहिए कि वह विलासिता के पदार्थों का उपभोग छोड़ दे, और आराम के पदार्थों का उपभोग यथा-शक्ति कम करे। कृत्रिम आवश्यकताओं का खर्च मनुष्यों की आदतों और रीति-रस्मों पर निर्भर रहता है, और ये सहसा नहीं बदलतीं। इसलिए इन पर किया जानेवाला खर्च एकदम घटाया नहीं जा सकता; परन्तु धीरे-धीरे प्रयत्न करने से, कुछ समय में, थोड़ी-बहुत सफलता मिल सकती है। इस प्रकार इन मदों से अपने खर्च की बचत करके मनुष्य को उसे निपुणतादायक पदार्थों के उपभोग में लगाना चाहिए। इससे अन्त में उसे अधिक तृप्ति होगी। यह बात पहले-पहल ठीक न जँचेगी। बहुधा आदमी जल्दी मिलनेवाली तृप्ति की ओर ध्यान देकर, अपनी आय उसकी प्राप्ति के लिए खर्च करना अच्छा समझते हैं। परन्तु यदि वे दूरदर्शिता से काम लें, और अपने उपभोग में उपर्युक्त परिवर्तन करें, तो उन्हें अपनी भावी आवश्यकताओं के लिए चिन्ता करने का अवसर ही न मिले। ऐसा करने से उनकी कार्यकुशलता, उत्पादन-शक्ति एवं आय बढ़ेगी। फिर, इस बढ़ी हुई आय का भी उसी प्रकार उपभोग करने पर वे अधिक लाभ का, एवं भविष्य में तृप्ति बढ़ाने का, प्रबन्ध कर सकेंगे।

**कुछ पदार्थों के उपभोग का विचार; (१) अन्न**—अब कुछ पदार्थों के उपभोग का विचार करें। पहले अन्न का विषय लेते हैं। समय-समय पर कुछ लेखकों ने यह हिसाब लगाया है कि यहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न की, कई वर्ष की औसत पैदावार कुल मिलाकर कितनी हुई, उसमें से कितना अन्न विदेश गया, और शेष कितना यहाँ रहा। (यदि हिसाब

के वर्षों में कुछ अन्न विदेशों से आया है, तो वह जोड़ लिया गया।) इस अन्न का परिमाण प्रति व्यक्ति कितना रहा, यह मालूम किया गया है। इस हिसाब से यह सिद्ध हुआ कि हमारे बहुत-से आदमी गेहूँ चावल आदि बढ़िया अन्न को खरीदने की शक्ति न रखने के कारण, इनका यथेष्ट उपभोग नहीं कर सकते। बहुत से आदमी घटिया अन्नों का उपभोग करते हैं। ज्वार, बाजरा, मकाई, चना, आदि घटिया अन्नों की जितनी पैदावार होती है, उसमें से कुछ तो पशुओं—गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि—के लिए खर्च होती ही है। यदि उसका हिसाब न लगाया जाय, तो भी प्रति मनुष्य अन्न के दैनिक उपभोग का औसत यहाँ, योरप अमरीका आदि की अपेक्षा, कम बैठता है।

योरप अमरीका के आदमी मांस खानेवाले हैं, उनके भोजन में औसतन मांस का काफी परिमाण होता है। इसके विपरीत, भारतवासी प्रायः शाक-भोजी हैं, यहाँ प्रति मनुष्य के भोजन में औसतन मांस का परिमाण बहुत कम होता है। इससे सिद्ध है कि यहाँ घटिया अन्न मिलाकर भी सब लोगों को भरपेट भोजन नहीं मिलता। नई फसल तैयार होने से पहले, अथवा दुर्भिक्ष के समय का तो यह साधारण अनुभव है कि असंख्य व्यक्ति बेर, महुआ, इमली, गूलर आदि के सुखाए हुए फलों को अथवा इमली आदि के बीजों को पीसकर आटे में मिलाकर खाते हैं, या गाजर, शलजम, प्याज, ककड़ी, या आम की गुठली आदि से, अपनी भूख मिटाने की चेष्टा करते हैं।

(२) नमक—यह एक जीवन-रक्षक पदार्थ है; भारतवर्ष में यह काफी पैदा होता है, और इसकी उत्पत्ति सहज ही बढ़ाई भी जा सकती है। विशाल समुद्र-तट, नमक की झील तथा नमक के पहाड़ होने के कारण यहाँ इतना नमक पैदा हो सकता है कि जनता की आवश्यकता सहज ही पूरी हो जाय। तथापि पिछली दशाब्दियों में यहाँ नमक बाहर से आता रहा है; कारण, अंगरेज सरकार स्वाभाविक रूप से पाए जानेवाले तथा आसानी से बन सकनेवाले इस पदार्थ का

जनता को स्वेच्छापूर्वक उपभोग नहीं करने देती थी। वह इस पर अपना एकाधिकार रखती थी। वह समय-समय पर फ़ी-मन आठ आने से, ढाई रुपये मन तक कर लगाती रही। यहाँ अधिकांश आदमी बहुत गरीब हैं। इसलिए इस पदार्थ के जीवन-रक्षक होने पर भी, कीमत बढ़ते ही इसका उपभोग कम हो गया। अन्य देशों में नमक के उपभोग का प्रति मनुष्य वार्षिक औसत भारत से बहुत अधिक है। इसकी आवश्यकता आदमियों के लिए ही नहीं, पशुओं के लिए भी होती है। परन्तु मँहगी के समय भारत के पशुओं की कौन कहे, आदमियों को भी नमक काफी नहीं मिला। जनता को इस जीवन-रक्षक पदार्थ पर लगनेवाला सरकारी कर बहुत अखरता रहा। नेताओं ने इसका निरंतर विरोध किया। आखिर, सन् १९४६ में जब यहाँ केन्द्र में अन्तरिम सरकार थी, यह कर उठा दिया गया। अब तो भारतवर्ष स्वतंत्र ही है, और सरकार के लिए लोकहित का ध्यान रखना अनिवार्य है। अब जनता को नमक के उपभोग में कमी न करनी होगी।

घी-दूध—भारतवर्ष में अधिकांश आदमी निरामिष-भोजी या शाकाहारी हैं। उनके लिए मुख्य पौष्टिक पदार्थ घी-दूध है। जैसा पहले कहा गया है, इस देश में गाय भैंसों की संख्या, जनसंख्या की दृष्टि से, बहुत कम है। फिर, यहाँ गाय-भैंस रखनेवाले अधिकतर किसान लोग हैं। इनकी गाय भैंसे जो दूध देती हैं, वह या तो पास के नगरों में बिकने चला जाता है, या उसका घी निकाल कर बेचा जाता है। किसानों तथा इनके बच्चों को मट्ठा या छाछ मिल जाय, यही बहुत है; घी-दूध की चीज़ें तो किसी त्योहार या सामाजिक भोज के अवसर पर नसीब होती हैं। भारतवर्ष में एक समय था, जब घर-घर गाय-भैंस, और खासकर गाय, होने से किसी को दूध, दही या घी आदि खरीदने की आवश्यकता नहीं होती थी। आज दिन वह है कि दाम देकर भी यह चीज़ें, विशेषतया शहरों में, शुद्ध और काफी परिमाण में मिलना कठिन होता है।

बच्चों के भरण-पोषण के लिए, रोगियों की चिकित्सा के लिए, और बूढ़ों की शक्ति की रक्षा के लिए गाय का दूध अमृत है। पर सर्व-साधारण के लिए दूध है कहाँ! यहाँ प्रति व्यक्ति दूध का दैनिक औसत साढ़े तीन छटांक है, उसमें से भी सिर्फ एक-तिहाई पीने के काम आता है। नतीजा यह है कि भारतवासियों की शक्ति का ह्रास हो रहा है और उनकी कार्य कुशलता बहुत कम है। यही नहीं, वे निर्बल और रोगी होने के साथ, संसार के अनेक देशों के आदमियों की अपेक्षा, अल्पायु होते हैं—जल्दी मर जाते हैं। गौओं आदि की उन्नति और वृद्धि के विषय में पहले लिखा जा चुका है।

( ४ ) **खांड और गुड़**—मांस न खाने वाले गरीब मनुष्यों के लिए खाद्य पदार्थों में खाँड ही एक विलास-सामग्री है। यह मिठाइयों में बहुत खर्च होती है, जिन्हें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और योरपियन भी जन्मोत्सव, ब्याह-शादी, मृतक-संस्कार अथवा अन्य त्योहारों या दावतों में बहुत खाते हैं। नगरों में बहुत-से विद्यार्थी तथा अन्य पेशेवाले बहुधा मिठाई का नाश्ता करते हैं। सन् १९३२ ई० पूर्व यहाँ विदेशी खाँड की खपत बहुत होती थी। उस वर्ष सरकार ने विदेशी खाँड पर काफी कर लगा कर स्वदेशी खाँड के व्यवसाय को संरक्षण दिया; तब से यहाँ स्वदेशी खाँड अधिक तैयार होने लगी। अब यह पहले की अपेक्षा काफी अधिक खपती है। तो भी बहुत से आदमियों के लिए यह बहुत महँगी है, इसलिए वे इसका उपभोग नहीं कर सकते। इसके तैयार करने की लागत में कमी की जानी चाहिए और इसकी कीमत घटाई जानी चाहिए जिससे इसकी खपत बढ़े।

अस्तु, अभी यहाँ जन-साधारण में गुड़ का ही उपभोग अधिक है। जैसा कि आ० भा० ग्राम-उद्योग संघ द्वारा प्रकाशित सूचना में कहा गया है, स्वास्थ्य की दृष्टि से खांड की अपेक्षा गुड़ कहीं ज्यादा फायदेमन्द है; गुड़ में शरीर के लिए बहुत ज़रूरी कुछ ऐसे पोषक

द्रव्य और जीवन-तत्व रहते हैं, जो खाँड में बिलकुल नहीं रह जाते। गुड़ जल्दी हजम हो जाता है और अकेला भी पेट का आधार हो सकता है, पर खाँड अकेली नहीं खाई जाती। गुड़ खाँड से सस्ता भी है।

गुड़ का प्रचार बढ़ना चाहिए। ऐसा होने से खांड़ पर खर्च होने-वाला बहुत-सा पैसा गरीब गाँववालों को मिलेगा, जिससे उन्हें बहुत सहायता मिलेगी। जो लोग खाँड खाना न छोड़ सकें उन्हें हाथ की बनी शक्कर को इस्तेमाल करके गरीबों की सहायता करनी चाहिए। सरकारी कृषि-रसायन-विशेषज्ञ रायबहादुर डी० एल० सहस्रबुद्धे का मत है कि हिन्दुस्तान में हर साल लगभग तीस लाख टन गुड़ बनता है; यदि उसकी खाँड बनाई जाय तो सिर्फ साढ़े इक्कीस लाख टन ही होगी। कोई कारण नहीं कि साढ़े आठ लाख टन स्वास्थ्यप्रद बढ़िया खाद्य पदार्थ का इस तरह नुकसान किया जाय। हाँ, गुड़ बहुत शुद्ध और साफ बनाया जाना चाहिए। यह पहले कहा जा चुका है।

(५) कपड़ा—भारतवर्ष में विशेषतया चार प्रकार का कपड़ा इस्तेमाल होता है—(क) विदेशी, (ख) भारतीय मिलों के सूती मिलों में ही बुना हुआ, (ग) भारतीय मिलों के सूत का जुलाहों द्वारा हाथ से बुना हुआ, और (घ) हाथ से कते सूत का हाथ से बुना हुआ।

जैसा पहले कहा जा चुका है, यह सब मिलाकर भी यहाँ बहुत से आदमियों को आवश्यकतानुसार कपड़ा नहीं मिल पाता। इस बात का जीता-जागता प्रमाण हर घड़ी हमारे सामने रहता है। यह ठीक है कि विवाह-शादी अथवा मेले-तमाशों में कुछ आदमी तरह-तरह के चटकीले भड़कीले और कुछ बढ़िया वस्त्र पहनकर निकलते हैं, एवं सरकारी नौकर अथवा उच्च श्रेणी के कुछ आदमी कपड़ों में फैशन का बहुत ध्यान रखते हैं। परन्तु वास्तविक दशा को जानने के वास्ते तो हमें साधारण आदमियों को साधारण परिस्थिति में देखना चाहिए। भारतीय जनता का वास्तविक प्रतिनिधि यदि कोई

हो सकता है तो वह किसान है। और, वह क्या पहनता है ? गर्मियों के दिनों में वह प्रायः 'अर्ध-नग्न' रहता है। एक छोटी-सी, घुटनों से भी ऊपर तक रहनेवाली धोती, और सिर पर एक मामूली पगड़ी होती है। उसके बच्चे बहुधा नंगे फिरा करते हैं। बड़ी-बड़ी लड़कियाँ भी बहुधा लंगोटी लगाकर अपनी लज्जा निवारण करती हैं। जाड़े के दिनों में बहुत से किसानों या कृषि-श्रमजीवियों के बदन पर केवल एक सूती मिर्जई या अंगरखा होता है, जिसके बदलने का अवसर प्रायः उसके फटजाने पर ही आता है। ऊनी वस्त्रों का तो अभाव ही रहता है। रात्रि में ओढ़ने के लिए एक मामूली रजाई, और बिछाने को पयाल या फूस मिल जाय तो गनीमत है। बहुत-से आदमियों को खेतों पर पहरा देते समय एक फटी-पुरानी चादर में रात काटनी पड़ती है।

यदि किसान और श्रमजीवी अपने अवकाश के समय (जो बहुत काफी होता है) कपास ओटलें, और रुई का सूत कातकर कपड़ा बुनवालें तो वह इन्हें मुफ़्त-सरीखा पड़ सकता है। इसमें स्त्रियों के श्रम का भी बहुत अच्छा उपयोग हो सकता है। किसानों के अतिरिक्त, गाँवों तथा नगरों के अन्य आदमियों को भी चाहिए कि यथा-सम्भव खद्दर का ही इस्तेमाल करें, जिससे कपास पैदा करनेवाले, ओटनेवाले, सूत कातनेवाले और कपड़ा बुननेवाले—इन सब गरीब भाई-बहिनों को सहायता मिले। अस्तु, यदि सर्वसाधारण के लिए कपड़े की समस्या का कुछ हल हो सकता है तो विशेष आशा खद्दर के धन्धे की उन्नति से ही हो सकती है। इसके सम्बन्ध में आवश्यक बातें पहले लिखी जा चुकी हैं।

(६) चाय—इस पदार्थ का उपभोग उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है, गत वर्षों में इसमें विलक्षण वृद्धि हुई है। इसका शौक पहले उच्च दर्जे के रहनसहन वाले ही करते थे। धीरे-धीरे युवकों और विद्यार्थियों ने इसे अपनालिया। अब तो साधारण मज़दूरों तक में इसका प्रचार

खूब जोर से हो रहा है। इसका कारण बहुत-कुछ चाय की कम्पनियों की व्यापार-कुशलता और विज्ञापनबाज़ी है। जगह-जगह इनके एजन्ट घूमते हैं, और ग्रामोफोन के गीत सुनाकर, सिनेमा आदि के चित्र दिखाकर, जहाँ-तहाँ दीवारों पर, स्टेशनों और चौराहों पर सुन्दर बढ़िया रंगीन चित्रवाले विज्ञापन चिपकाकर, एवं भिन्न-भिन्न भाषा के पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराकर, सर्वसाधारण के मन में यह बात बैठाई जाती है कि चाय हरेक आदमी के लिए प्रत्येक ऋतु में स्वास्थ्य-वर्द्धक है; यह गर्मी में ठंढक पहुँचाती है, और सर्दी में बदन गरम रखती है। निर्धन भारतवासियों को अब गाय का दूध दुर्लभ होता जा रहा है, और वे इस नए हानिकर पदार्थ का शौक करके संतोष प्राप्त करते हैं। अनेक स्थानों में अब यह स्वागत-सत्कार की चीज बन गई है; कितने ही आदमी तो प्रति दिन कई-कई प्याले उड़ा जाते हैं।

कई डाक्टरों की सम्मति है कि चाय एक हल्का उत्तेजक पदार्थ है, जो मनुष्य की शक्ति को उसी प्रकार बढ़ाता है, जैसे दुर्बल घोड़े की शक्ति को चाबुक या हंटर बढ़ाता है। लोगों को चाहिए कि वे मिथ्या या अत्युक्ति-पूर्ण विज्ञापनों के धोखे में न आवें। यदि उन्हें अपनी शक्ति वास्तव में बढ़ानी है, तो दूध, घी, फल, मेवा आदि पौष्टिक पदार्थों का सेवन करें, न कि चाय जैसे उत्तेजक पदार्थों का।

(७) तम्बाकू—बहुत से लोगों के लिए तम्बाकू एक आवश्यक पदार्थ हो गया है। नवयुवकों अथवा शौकीनों को हुक्का अच्छा नहीं लगता; वे सिगरेट या बीड़ी पीते हैं, यद्यपि उसका धुआँ हुक्के के धुएँ से अधिक हानिकारक है। मिलों में काम करनेवाले तथा अन्य नीचे दर्जे के मजदूर अपने वेतन से चाहे जीवन-रक्षक पदार्थ यथेष्ट मात्रा में न पा सकें, परन्तु इस शौक के लिए तो पैसे निकाल ही लेते हैं। बहुतेरे आदमी तम्बाकू पीते नहीं, तो सूँघते या खाते ही हैं। निदान, बहुत कम आदमी ऐसे मिलेंगे, जो इसका बिलकुल ही व्यवहार

नहीं करते। संभव है, कुछ आदमी तम्बाकू का सेवन किन्हीं विशेष अवस्थाओं में, कोई खास बीमारी दूर करने के लिए, औषधि-रूप में करते हों, परन्तु इनकी संख्या मुश्किल से एक फी-सदी होगी। अधिकांश आदमी देखा-देखी, शौक के लिए, इसका खुद इस्तेमाल, और यार-दोस्तों में प्रचार करते हैं। बड़े-बड़े वैद्यों और डाक्टरों का यह मत है कि तम्बाकू खाने, पीने या सूँघने से इन विकारों के होने का भय रहता है—मंद-दृष्टि, मुर्च्छा, मुँह में बदबू, कलेजे में जलन, छाती में कफ बढ़ना, दाँतों की कमजोरी, पित्त की वृद्धि, और शरीर की कमजोरी आदि।

देश के जो आदमी इसका सेवन करते हैं, उनके एक दिन के इस उपभोग का औसत खर्च यदि एक पैसा माना जाय, तो पाठक अनुमान कर सकते हैं कि देश का कुल कितने करोड़ रुपया प्रति वर्ष इस मद में खर्च हो जाता है। एक लेखक ने तो हिसाब लगाकर दिखाया है कि इससे प्रति वर्ष कम-से-कम दो अरब रुपए व्यर्थ जाते हैं; स्वास्थ्य-हानि रही अलग। सिगरेट-बीड़ी पीनेवालों ने देश में दियासलाई का भी खर्च बेहद बढ़ा दिया है।

(८) **मादक द्रव्य**—बहुत से आदमी भाँग, गाँजा, चरस और अफीम आदि का सेवन करते हैं। पश्चिमी सभ्यता के संसर्ग से यहाँ शराबखोरी का प्रचार बढ़ता ही जा रहा है। ऊँची श्रेणी के वे मनुष्य, जो विलायती ढङ्ग से रहने लगे हैं, मद्य-पान से परहेज नहीं करते। मजदूर, विशेषतया कल-कारखानों में काम करने वाले, एक-दूसरे की देखा-देखी अपनी बहुत-सी गाढ़ी कमाई इसमें खर्च कर डालते हैं।

गतवर्षों में कुछ सज्जन मादक वस्तु-प्रचार-विरोध ('टैंप्रेंस') सभाएँ कायम करके मद्यपान आदि के विरुद्ध लोकमत तैयार करते रहे हैं; परन्तु कई स्थानों में, अधिकारियों का यथेष्ट सहयोग न मिलने और विरोध होने के कारण, उन्हें यथेष्ट सफलता नहीं मिली। अंगरेज सरकार मादक पदार्थों के उपभोग को नियंत्रित करती थी, परन्तु

वह इनसे होनेवाली आय की वृद्धि को बुरा नहीं समझती थी। अनेक स्थानों में मादक पदार्थ खुले आम बाजार के बीच बिकते रहे हैं, कोई तीर्थ-स्थान भी इनसे बचा नहीं रहा। मजदूरों के लिए बहुधा कारखानों और खानों के पास ही शराब की दुकानों की व्यवस्था रहती थी। इससे ये अभागे अकसर अपनी साप्ताहिक वेतन लेकर, घर पहुँचने से भी पहले अपनी गाढ़ी कमाई के पैसे मदिरा देवी को ही भेंट कर देते थे। सन् १९३७-३९ में, जब अधिकतर प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल थे, अनेक स्थानों में सरकार मादक-वस्तु-निषेध की नीति अमल में लाई थी। अब तो देश स्वतंत्र ही है; केन्द्र में तथा सब प्रान्तों में जनता की सरकार है। परन्तु आमदनी घटने की आशंका से कई प्रान्तों की सरकारों ने मादक पदार्थों का सेवन रोकने की व्यवस्था नहीं की। आवश्यकता है लोक-हित के लिए इस दिशा में हरेक प्रान्त में जल्दी कदम उठाया जाय।

**भोजन-वस्त्र का आवश्यक परिमाण**—पहले कहा जा चुका है कि अधिकांश भारतवासी या तो यथेष्ट परिमाण में भोजन नहीं पाते अथवा घटिया भोजन से ही किसी तरह काम चलाते हैं। साधारणतया वैज्ञानिकों का मत है कि एक आदमी की औसत दैनिक आवश्यकता निम्नलिखित होती है—अनाज ८ छटाँक, दाल डेढ़ छटाँक, चीनी १ छटाँक, साग भाजी ३ छटाँक, फल १ छटाँक, घी-तेल चार तोले, और दूध जिसमें से मक्खन या मलाई आदि न निकाली गई हो ४ छटाँक, (अथवा मांस मछली अंडे आदि छः तोले)। कपड़े के बारे में प्रति व्यक्ति की आवश्यकता का अनुमान तीस गज किया गया है।

म० गांधी के विचार से हर आदमी को साधारण भोजन के साथ-साथ हर रोज आध सेर दूध और दो तोले घी या ढाई तोले मक्खन साग तरकारी और कुछ मौसमी फल मिलने ही चाहिए। कपड़ा भी आवश्यकतानुसार होना चाहिए।

**भोजन-वस्त्रादि के उपभोग की विधि**—उपभोग की वस्तुओं

के अतिरिक्त, उपभोग की विधि की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। बहुत से आदमी बढ़िया अन्न तो खाते हैं, पर उनका खाने का तरीका ऐसा है कि उससे अन्न के कई आवश्यक तत्व नष्ट हो जाते हैं, शरीर को उनका यथेष्ट लाभ नहीं पहुँचता। उदाहरण के लिए आजकल शहरों में ही नहीं, अनेक कस्बों में, और कहीं-कहीं तो गाँवों तक में, आटा पीसने के लिए मिलें लग गई हैं। और, साधारण श्रेणी के आदमी भी अपने लिए आटा स्वयं न पीस कर, वहाँ पिसवा लाते हैं। मशीन की चक्की की गरमी से आटे के जीवन-तत्व कम हो जाते हैं, और आटा महीन हो जाने से पचने में भारी, तथा स्वास्थ्य के लिए हानिकर, हो जाता है। अतः आटा हाथ की चक्की का ही पिसा हुआ इस्तेमाल करना चाहिए,* तथा उसमें से बहुत छानस या चोकर नहीं निकालना चाहिए, जिससे वह जल्दी हजम हो सके और शरीर को उसके सब पोषक तत्वों का लाभ मिले। बेसन या मैदा बहुत हानिकर वस्तु है।

चावल भी 'पूरा' खाया जाना चाहिए, जो धान का केवल छिलका निकाल देने के बाद शेष रहता है। परन्तु प्रायः इस चावल को घिस कर इसके ऊपर का कुछ हिस्सा घटा दिया जाता है, जिससे चावल बहुत सफेद हो जाय और उसमें चमक आ जाय। प्रायः मध्य तथा ऊँची श्रेणी के आदमी एवं शौकीन लोग इस 'घटाए हुए' चावल का उपभोग करते हैं; इससे बहुत सा पोषक तत्व निकल जाता है। यह स्वास्थ्य के लिए अच्छा नहीं होता। यही बात दालों के विषय में है। आजकल धोई हुई दाल का प्रचार अधिक हो गया है। छिलके-वाली दाल को, जिसे 'काली' दाल कहते हैं, आदमी कम पसन्द करते हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से छिलके सहित दाल का सेवन करना अधिक

* जो आदमी आटा स्वयं पीसेंगे, उनके पिसाई के पैसे बचेंगे, तथा व्यायाम का लाभ होगा। यह व्यायाम विशेषतः स्त्रियों के लिए बहुत उपयोगी है। और, जो व्यक्ति आटा दूसरों से पिसाएँगे, वे पीसनेवालों की सहज ही आर्थिक सहायता कर सकेंगे।

उपयोगी है।

तिल या सरसों का तेल ऐसा इस्तेमाल किया जाना चाहिए, जो कोल्हू या घानी में निकाला गया हो। मिल से निकले हुए तेल में मूंगफली आदि का अन्य सस्ता तेल मिला रहता है; तथा वह अधिक समय तक पड़ा रहने से खराब न हो जाय, इस आशंका से उसमें कुछ रासायनिक द्रव्य डाले जाते हैं। यह स्वास्थ्य के लिए हानिकर है। घानी या कोल्हू से निकाला हुआ तेल बारीकी से न छाने जाने के कारण उतना साफ नहीं होता, पर उसमें जो चीज रहती है, वह उन दानों का ही अंश होता है, जिनसे तेल निकला है, अतः स्वास्थ्य के वास्ते हानिकर नहीं है।*

तली हुई चीज़ें, अथवा जिनमें खटाई मिर्च मसाले बहुत हों, शरीर के लिए हानिकर होती हैं। इनका इस्तेमाल नहीं किया जाना चाहिए। शौक या जिह्वा के स्वाद के वास्ते स्वास्थ्य को नुकसान पहुँचाना ठीक नहीं।

वस्त्र के विषय में भी इस प्रकार का विचार रखना आवश्यक है। हम खद्दर पहनने के आर्थिक लाभ बता चुके हैं। उसके अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि हमारे कपड़ों के रंग बहुत चटकीले भड़कीले न हों; ये आँखों के लिए हानिकारक हैं। वास्तव में हमारे भोजन-वस्त्र आदि का मन पर बहुत प्रभाव पड़ता है, और सात्विक रहनसहन का मानसिक उन्नति से ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि 'सादा जीवन और उच्च विचार', एक कहावत ही हो गई है।

**उपभोग के पदार्थों के शुद्ध होने की आवश्यकता**—आज-कल हम बहुत-सी ऐसी वस्तुओं का उपभोग करते हैं, जो बाजार से मोल लाई जाती हैं; घर पर नहीं बनाई जातीं। शहरों में पूरी

* मिल की खली निस्सत्व होती है, पर घानी या कोल्हू की खली पशुओं के लिए बहुत अच्छा पौष्टिक भोजन है; इस प्रकार घानी के तेल से यह भी लाभ है। इसके धंधे से गरीब आदमियों को रोजी तो मिलती ही है।

कचौरी और मिठाई आदि का ही कितना खर्च हो जाता है! हमारे उपभोग की कितनी वस्तुएँ तो दूर-दूर के नगरों से ही नहीं, अन्य देशों से आती हैं। और, अनेक आदमी अपने लाभ के लिए बहुत पुरानी, घटिया या मिलावट वाली चीजों को अच्छी, ताजी और बढ़िया कह कर बेचते हैं। मिलावटवाले तेल, और चमकाए हुए चावल का जिक्र पहले किया गया है। अनेक स्थानों में हल्दी, सोंठ, इलायची और दाल आदि को खास तरह से रंग कर बेचा जाता है। कई मिठाइयों में भी रंग डाला जाता है। बाजारों में शुद्ध घी-दूध मिलना तो कठिन ही होता है। गेहूँ के आटे में अन्य घटिया आटा मिला होना साधारण बात है। कहाँ तक गिनावें, करीब-करीब सभी चीजों में मिलावट की आशका होने लगी है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्यों को, किसी वस्तु के उपभोग से जितना लाभ या सुख मिलना चाहिए, नहीं मिल पाता। बहुत आवश्यकता है कि उपभोक्ता प्रत्येक वस्तु को खूब जाँच करने के बाद लें; बाजार की चीज़ों का इस्तेमाल ही कम हो; और, कानून से, तथा नागरिकता की शिक्षा द्वारा, उपभोक्ताओं के हित की समुचित व्यवस्था की जाय।

**भारतवासियों के मकान**—भारतवर्ष में औसतन प्रति पाँच मनुष्यों पीछे एक घर है। कस्बों तथा देहातों में, यह औसत लगभग समान ही है। यह ठीक है कि बम्बई, कलकत्ता और देहली आदि में कितने ही मकान शाही महलों की भाँति भव्य और विशाल हैं, कुछ देशी राज्यों की राजधानियों में भी स्वयं राजाओं तथा उनके उच्च कर्मचारियों या कृपा-पात्रों आदि के मकान साधारण दर्शक को चकित करनेवाले हैं। परन्तु सब मिलाकर, ये भारतवर्ष के कुल मकानों में प्रति सहस्र या प्रति लाख कितने हैं! नगरों में कुछ थोड़े-से सौभाग्यशाली व्यक्तियों को छोड़ कर, सर्वसाधारण को मकान की कितनी असुविधा है, यह सब जानते हैं। मकानों की संख्या कम, उनका किराया बहुत अधिक, और अधिकतर आदमियों की आय बहुत मामूली!

इसका परिणाम यह होता है कि बहुत से आदमी तंग, और अंधकार वाली गलियों के छोटे-छोटे मकानों में रहते हैं; एक कमरे में कई-कई आदमियों को रहना पड़ता है; अथवा एक ही कमरे में एक से अधिक परिवारों को गुजर करनी पड़ती है। बड़े-बड़े शहरों में मिलों और कारखानों ने श्रमियों के लिए मकानों की अलग ही समस्या उपस्थित कर रखी है। बम्बई के औद्योगिक क्षेत्रों में एक आदमी को रहने के लिए औसतन २८ वर्ग फुट जगह मिलती है, जब कि स्वास्थ्य की दृष्टि से उसे १०० वर्ग फुट मिलनी चाहिए। पाकिस्तान से आए हुए शरणार्थियों के कारण कितने ही शहरों में इस समस्या ने और भी उग्र रूप धारण कर लिया है।

अब तनिक देहातों के मकानों की बात लें; भारतवर्ष अधिकांश में देहातों का ही देश है। यहाँ कुछ जमींदारों या महाजनों के घर कुछ बड़े, दुमंजिले और पक्के हैं, मध्य श्रेणी के आदमी भी क्रमशः पक्के मकान बनवा रहे हैं। यह होते हुए भी सर्वसाधारण के मकानों की क्या दशा है! बहुत से मकान कच्चे हैं, जिनकी प्रति वर्ष, बरसात से पहले मरम्मत करने की जरूरत होती है, अन्यथा वे टपकते हैं, और दो-तीन साल बाद तो गिरने ही लगते हैं। अधिकांश घरों में रसोई के लिए अलग कोठरी नहीं होती; पशु भी वहाँ ही रहते हैं। इससे होनेवाली असुविधा एवं स्वास्थ्य हानि स्पष्ट है।

हमारे अनेक भाई तो फूस की झोपड़ियों में ही जैसे-तैसे गुज़र करते हैं, जहाँ धूप, सर्दी और वर्षा सभी सहनी पड़ती है। इन झोपड़ियों के भीतर जाते समय तथा इनसे निकलते हुए आदमियों को सिर नवाना और कमर झुकानी पड़ती है; दुर्भाग्य से इनमें रहनेवालों का सिर समाज में सदैव ही नीचा रहा है। फिर, शहरों और गाँवों में अनेक आदमी ऐसे हैं जिनका अपना कोई घर या झोपड़ी नहीं, जो जहाँ तहाँ फिरते रहते हैं, और रात में सड़कों के किनारे पड़े रह कर अपना समय काटते हैं।

कुछ समय से मकानों की समस्या हल करने के विविध प्रयत्न हो रहे हैं। कहीं-कहीं मिलों के पास ही मजदूरों की बस्तियाँ बन रही हैं। मिल-मालिकों को मज़दूरों के लिए मकान बनवाने से लाभ ही है, ऐसा होने पर मज़दूरों की कार्यक्षमता बढ़ती है। परन्तु अधिकांश स्थानों में मिलें नगरों के बीच में हैं, उनके पास जगह न होने के कारण वे मजदूरों के लिए मकान नहीं बना पा रही है। प्रान्तीय सरकारें खास-कर शरणार्थियों के लिए मकान बनाने का काम हाथ में ले रहीं हैं। कुछ शहरों की म्युनिसपेलटियाँ अपने क्षेत्र में नए मकान बना रही हैं, अथवा उप-नगरों का निर्माण कर रही हैं। कितने ही स्थानों में सहकारी गृह-निर्माण समितियाँ काम कर रही हैं। यह सब होते हुए भी अभी विशेष प्रगति नहीं हुई है। इसका एक मुख्य कारण काफी इमारती सामान (ईंटें, लकड़ी, लोहा, सीमेंट आदि) का न मिलना है। सीमेंट की बात लीजिए; इस समय यह प्रति वर्ष १८ लाख टन ही बनता है, जब कि आवश्यकता ५० लाख टन की होती। अब इस उद्योग को बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है। तथापि अभी देश की आवश्यकता पूरी होने में समय लगेगा।

**घरों का समान**—हमने घरों की स्थिति देख ली, अब यह भी जान लें कि घरों में सामान कैसा रहता है। कुछ राजा-महाराजाओं, या पूँजीपतियों, सेठ-साहूकारों या जमींदारों, ताल्लुकेदारों, वकीलों या उच्च सरकारी नोकरों के घरों के सामान की सूची अवश्य कुछ लम्बी होती है। परन्तु जैसा कि पहले कहा गया है, इनकी संख्या कुल भारतीय जनता के हिसाब से बहुत ही कम है। मध्य श्रेणी के भी कुछ आदमियों को अपने घरों में 'फरनिचर' बढ़ाने की फिक्र होती है। बहुत से आधुनिक शिक्षा-प्राप्त युवकों के यहाँ मेज, कुर्सी आदि होना साधारण बात है। रसोई के साधारण बरतनों के अतिरिक्त 'कुकर', 'स्टोव' ( जिसमें मिट्टी के तेल की आँच से खाना पकाया जाता है ), 'टिफन-केरियर', ( भोजन रखने का बरतन ) भी होते हैं।

कपड़े रखने के लिए सन्दूकों की जगह बड़े-बड़े ट्रंक, आलमारी, 'हैंड-बेग' तथा सोने के वास्ते साधारण चारपाइयों की जगह लोहे के स्प्रिंगदार बढ़िया 'कोच' (पलंग) होते हैं। रोशनी के लिए लालटेन या तरह-तरह के लैंपों का प्रचार हो रहा है, और अब तो बिजली की व्यवस्था हो जाने से, उसके 'बल्ब' रखे जाते हैं। मनोरंजन के लिए बड़े-बड़े रंगीन चित्र, तथा ग्रामोफोन या हारमोनियम आदि का उपयोग होता है। फुटकर सामान—आइना, हजामत का सामान, चायदानी, तश्तरी, प्लेट, प्याले या 'कप', कुछ पुस्तकें, पूजा का सामान आदि भी क्रमशः अधिक परिमाण में रहने लगा है। परन्तु अधिकतर आदमियों के साधन परिमित होते हैं, और उनका बहुत-सा सामान ज्यादहतर दिखावट के लिए होता है।

भारतीय जनता का अधिकांश भाग गाँवों में रहनेवाले कृषक हैं। इनके यहाँ खेती के औज़ारों के अतिरिक्त, साधारण कीमत की कुछ इनी-गिनी वस्तुएँ—चक्की, चर्खा, सूप, चारपाई, या चटाई, और कुछ मिट्टी के घड़े होते हैं, जिनमें अनाज या आटा दाल आदि होता है। भोजन पकाने और खाने के लिए ये कुछ मिट्टी के बरतन, अथवा कुछ दशाओं में पीतल आदि के मामूली बरतन रखते हैं। पानी के वास्ते एक लोहे या टीन का डोल या बाल्टी, कुछ मिट्टी के घड़े, और कहीं-कहीं एकाध पीतल की टोकनी या हन्डा होता है। आजकल कुछ आदमी लैंप या लालटेन का इस्तेमाल करते जा रहे हैं; अब से कुछ समय पहले तक अधिकांश आदमी मिट्टी के दिए से ही काम चलाते थे, जिसमें सरसों का तेल जलता है। कुछ सस्ता होने के कारण, मिट्टी के तेल का प्रचार बढ़ रहा है, जिसका धुआँ बहुत हानिकारक होता है। कितने ही घरों में तो किसी भी प्रकार रोशनी करने का साधन नहीं होता। अनेक आदमियों में इतनी सामर्थ्य नहीं कि महीने में कुछ पैसों का भी तेल जला सकें।

इन पंक्तियों के लेखक ने धनी और सम्पन्न गिने जानेवाले बम्बई

कलकत्ता, देहली और इन्दौर आदि नगरों में भव्य विशाल भवनों के बरांडों में, या छज्जों के नीचे प्रातःकाल अनेक ऐसे घर-हीन दरिद्र व्यक्तियों को देखा है, जिनका कुछ सामान एक फटे-पुराने कपड़े की छोटी-सी पोटली में लिपटा होता है। इस सामान के परिमाण या प्रकार का पाठक स्वयं अनुमान करलें।

**सामूहिक उपभोग के पदार्थ**—अब सामूहिक रूप से उपभोग किए जानेवाले पदार्थों के विषय में विचार करें। यद्यपि गतवर्षों में कुछ प्रगति हुई है, तो भी शहरों को छोड़ कर, जिनकी कुल जनसंख्या कम ही है, हमारे कितने कस्बों या ग्रामों में सरकारी या गैर-सरकारी वाचनालय और पुस्तकालय हैं! यह ठीक है कि देश में शिक्षा-प्रचार कम है, पर उसके बढ़ाने का भी तो एक उपाय यही है कि स्थान-स्थान पर ये संस्थाएँ कायम की जाएँ। अच्छा; उसकी बात रहने दें। उद्यान (पार्क), व्यायामशाला, क्रीड़ा-शालाएँ आदि कितने स्थानों में हैं! शहरों में चल-चित्र और वाक्-पट ('टाकी') बढ़ रहे हैं, पर उनका मुख्य लक्ष्य जनता का द्रव्य खींचना है। और लिजिए, हमारे सात लाख गाँवों और कस्बों में से कितनों में चिकित्सालय, दवाखाने या औषधालय हैं। यात्रियों को समुचित आश्रय मिलने की व्यवस्था कितने स्थानों में हैं! यह ठीक है कि विशेषतया तीर्थ-स्थानों में कुछ धर्मशालाएँ बनी हुई हैं; पर इन स्थानों में भी उत्सवों या पर्वों के समय सहस्रों आदमी खुले मैदान में डेरा डाले हुए देखे जाते हैं। इन बातों से इस विषय की कुछ कल्पना हो सकती है कि हम कैसे पदार्थों का, और कहाँ तक व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से उपभोग करते हैं।

**युद्ध, और उपभोग के पदार्थ**—नशीली चीज़ों के नियंत्रण का उल्लेख पहले किया गया है। कभी-कभी, विशेषतया युद्ध-काल या युद्धोत्तर-काल में, सरकार कुछ अन्य पदार्थों के उपभोग को भी नियंत्रित करती है। बात यह है कि युद्ध के समय सरकार का सेना और सैनिकों

की आवश्यकता का विशेष ध्यान रहता है, और उसके द्वारा कितनी ही चीजें बहुत अधिक परिमाण में खरीद कर सुरक्षित रख लिए जाने के कारण, जनता के वास्ते उन चीजों का कम रह जाना स्वाभाविक है। यह देख कर धनी लोग या स्टोरिये उन चीजों को अपनी आवश्यकता से बहुत अधिक संचय करने की सोचते हैं। इसे नियंत्रण करना होता है। बहुधा यह बात युद्ध समाप्त हो जाने के कुछ समय बाद तक भी बनी रहती है।

**राशनिंग**—नियंत्रण या कंट्रोल की योजना का उद्देश्य यह होता है कि कोई आदमी उन चीजों को अपनी जरूरत से अधिक संग्रह न करे और बेजा मुनाफाखोरी न हो। इस योजना के अनुसार पदार्थों के वितरण के लिए साधारण तौर से परिवार को ही इकाई माना जाता है। यह निश्चय कर लिया जाता है कि किसी परिवार को कोई पदार्थ कितने परिमाण में मिले। इस हिसाब से भिन्न भिन्न परिवारों को प्रायः साप्ताहिक 'कूपन' ( सार्टीफिकट ) दिए जाते हैं, जिसमें उपर्युक्त विषय की सूचना रहती है। 'कूपन' पाने वाला व्यक्ति उसे दिखाकर निर्धारित प्रमाण में वह वस्तु निर्दिष्ट दुकान से ले सकता है, जो या तो सरकारी होती है, अथवा सरकार द्वारा नियंत्रित। इस व्यवस्था को 'राशनिंग' कहते हैं। भारतवर्ष में, दूसरे महायुद्ध के समय विशेषतया गेहूँ, चीनी, मिट्टी के तेल, मालगाड़ी के डिब्बों और पेट्रोल तथा कागज के लिए यह व्यवस्था की गई थी। महायुद्ध सन् १९४५ में समाप्त हो गया। उसके बाद भी यह व्यवस्था जारी रही; कुछ समय के लिए खासकर म० गाँधी की प्रेरणा से यह उठा ली गई थी; अब फिर जारी की जा रही है।

**कुव्यवस्था से हानि**--राशनिङ्ग की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि माल अच्छा हो, वह दुकानों पर ठीक समय और निर्धारित मात्रा में पहुँचता रहे, और उसके वितरण की ठीक व्यवस्था हो। गत वर्षों में यहाँ अनेक बार दुकानों पर खासकर आटा बहुत खराब मिला, और ग्राहकों को गेहूँ की जगह वह आटा लेने के लिये ही बाध्य किया गया।

चीनी तो कई बार दुकानों पर रही ही नहीं। और, मिट्टी के तेल की तो आधी-आधी बोतल के लिए आदमियों को घण्टों परेशान होना पड़ा है। स्पष्ट है कि उचित व्यवस्था न होने से राशनिंग से जितनी सहूलियत नहीं होती, उससे अधिक कठिनाई हो जाती है। भारतवर्ष में यथेष्ट व्यवस्था न रहने का एक ख़ास कारण यह है कि यहाँ उस समय राष्ट्रीय सरकार न थी। फिर, अन्न को इकट्ठे करने और नियंत्रण-पूर्वक वितरण करने का काम ऐसे देशों में ही विशेष सफल हो सकता है, जहाँ खेती (मशीनों से) बड़े पैमाने पर और थोड़े लोगों द्वारा की जाती हो, और जनता में यथेष्ट शिक्षा और जागृति हो।

**विशेष वक्तव्य**—इस समय भारतीय संघ में राष्ट्रीय सरकार है। प्रान्तीय सरकारें राशनिंग से होनेवाली असुविधाओं को दूर करने का प्रयत्न कर रही हैं। उदाहरण के लिए संयुक्तप्रान्तीय सरकार ने सहकारी समितियों द्वारा भोजन वस्त्रादि वितरण करने की प्रथा जारी की है। परन्तु वास्तव में नियंत्रण ('कंट्रोल') या राशनिंग का यहाँ जनता को बहुत ही कटु अनुभव हुआ है। कुछ वर्ष पहले 'चोर बाज़ार' (ब्लेक मार्केट) का अस्तित्व न था, अब यह खूब व्यापक है। यह खासकर 'कंट्रोल' की देन है। इससे सरकारी कर्मचारियों तथा व्यापारियों का नैतिक स्तर बहुत गिर जाता है; लोभी, रिश्वतखोर और मुनाफेखोर आदमी इसका अधिक-से-अधिक समय बना रहना चाहते हैं। ये इसके लिए सरकार पर अपना भरसक प्रभाव डालते रहते हैं। सरकार को चाहिए कि भ्रष्टाचार और चोर-बाजार को बन्द करने के लिए कंट्रोल जल्दी-से-जल्दी उठाए और जिस व्यापारी या खरीददार का व्यवहार समाज-हित-विरोधी हो, उस पर कड़ी निगाह रखे। विचार-शील नागरिकों को इस कार्य में सरकार का सहयोग करना चाहिए।



## चौदहवाँ अध्याय

# रहनसहन और पारिवारिक आय-व्यय

पिछले अध्याय में उपभोग के पदार्थों का विचार हो चुकने पर, अब यहाँ के आदमियों के रहनसहन का अनुमान अच्छी तरह हो सकता है। लोगों के रहनसहन पर कई बातों का प्रभाव पड़ता है।

**रहनसहन पर प्रभाव डालनेवाली बातें**—किसी आदमी के रहन-सहन का अनुमान करने और उसकी दूसरे आदमी के रहन-सहन से तुलना करने के वास्ते यह विचार करना होता है कि उनमें से प्रत्येक ने अपने उपभोग के पदार्थों में कितना रुपया व्यय किया, तथा किस ढँग की किस वस्तु का कितने परिमाण में उपयोग किया। प्रायः लोगों के रहनसहन की तुलना करते समय, उपयोग की जानेवाली वस्तुओं के गुण अर्थात् घटिया-बढ़िया होने का विचार किया जाता है; वस्तुओं के परिमाण का नहीं। रहनसहन के सम्बन्ध में जब हम दो व्यक्तियों के खर्च की तुलना करते हैं तो रुपए की क्रय-शक्ति का भी ख्याल रखना आवश्यक है, कारण कि जुदा-जुदा समय और स्थान में, इसमें अन्तर होता है; एक समय या एक जगह वस्तुएँ, दूसरे समय या स्थान की अपेक्षा महँगी या सस्ती होती हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ और भी बातों का रहनसहन पर असर पड़ता है।* किसी आदमी के लखपति अथवा करोड़पति होने पर भी संभव है कि उसका रहनसहन निपुणता-दायक तथा सुख देनेवाला न हो; उसके शरीर की अवस्था, स्वास्थ्य और हाज़मा इतना खराब हो कि वह उपभोग की कई वस्तुओं से कुछ भी आनन्द न प्राप्त

* श्री० दुबे और जोशी की 'सम्पत्ति का उपभोग' नाम की पुस्तक से।

कर सके। इसके विपरीत, एक स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट परन्तु गरीब मनुष्य उपभोग के साधारण पदार्थों से ही बहुत आनन्द प्राप्त कर सकता है। असल में आनन्द, उपभोग के पदार्थों में नहीं, स्वय उपभोक्ता की मानसिक तथा शारीरिक स्थिति में होता है। आँख कान, त्वचा, आंत इत्यादि में खराबी पैदा होने अथवा अन्य रोगों से पीड़ित रहने का मनुष्यों के रहन-सहन पर बहुत असर पड़ता है। वे उपभोग की वस्तुओं से पर्याप्त तृप्ति और आनन्द नहीं प्राप्त कर सकते।

बहुत से आदमी थोड़ी आमदनी से भी, बराबर अथवा उससे अधिक आमदनी वाले लोगों की अपेक्षा, अच्छी तरह रहते हैं। ५०) रु० मासिक आय वाले एक क्लर्क का रहनसहन ७०) रु० या इससे भी अधिक आय वाले क्लर्क से ऊँचा हो सकता है। इसका कारण यह है कि सब लोगों में उपभोग की वस्तुओं पर विचारपूर्वक द्रव्य खर्च करने की, तथा उन वस्तुओं का ठीक उपभोग करने की योग्यता एकसी नहीं होती।

**भारतवासियों का रहनसहन**—कुछ आदमी, यहाँ के आराम और विलासिता के सामान की आयात के तुलनात्मक अंक उपस्थित करके, कहते हैं कि सूती, रेशमी और ऊनी वस्त्र, भाँति-भाँति के खिलौने आदि बिसातखाने का सामान, साबुन, और औषधियों आदि की आयात के बढ़ते रहने से यह स्पष्ट है कि यहाँ इनका उपभोग अधिक हो रहा है। इसके अतिरिक्त अब बहुत से देहात वाले कच्चे और छप्पर के मकानों को छोड़कर पक्के मकान बनवा रहे हैं। किसानों के लड़के अँगरेजी ढङ्ग की कमीज, कोट तथा जूते पहनने और छतरी लगाने लगे हैं। कितने ही मामूली नौकर या श्रमजीवी विशेष अवसरों पर सोडावाटर या बर्फ़ का पानी पीते हैं। चाय और सिगरेट का प्रचार बढ़ता जा रहा है। ऐसी बातों से ये लोग यहाँ रहनसहन के दर्जे का ऊँचा होना सिद्ध करते हैं। यह निष्कर्ष भ्रममूलक है। बात यह है कि सुविधा, तथा भोग-विलास के पदार्थों के सेवन की ओर झुकना मनुष्य-मात्र की प्रकृति है। इसलिए हमारे दरिद्र बन्धु भी कभी-कभी

उनमें पैसा लगा देते हैं। यदि वे पदार्थ न होते, तो सम्भव था कि यह पैसा उन भाइयों के भरण-पोषण में व्यय होता। हम बहुधा देखते हैं कि मजदूर बालों में तेल लगाए, और भिखारियों के लड़के मुँह में सिगरेट दबाए, बाजारों में घूमते हैं। इससे यह अनुमान करना सरासर भूल है कि उनके रहनसहन का दर्जा ऊँचा होता जा रहा है। इसी प्रकार, यदि कुछ मनचले रईसों, नवाबों या राजकुमारों की आवश्यकता के लिए कुछ टीमटाम या शानशौकत के सामान की आयात बढ़ती है, तो इससे भी जन-साधारण को अधिक सुखी होने का सार्टीफिकेट नहीं दिया जा सकता।

सभ्यता की वृद्धि से मनुष्यों की आवश्यकताओं की संख्या धीरे-धीरे बढ़ा करती है। इस बात का अनुभव सभी देशों में—भारत में भी—हो रहा है। बहुधा शक्ति-सम्पन्न या फैशन-पसन्द आदमी अपने बच्चों के लिए विलायती ढँग के कपड़े सिलवाते, उन्हें बूट जूते पहनाते और विदेशी खिलौने लाकर देते हैं। यदि हो सकता है तो वे उनके लिए 'ट्राइसिकल' अथवा हाथ से चलाई जानेवाली छोटी बग्घी या नकली मोटर आदि खरीद देते हैं। इन बच्चों में से बहुत से, बड़े होकर, फैशन में कुछ और आगे क़दम बढ़ाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक अगली पीढ़ी में रहनसहन का दर्जा ऊँचा होता जान पड़ता है, या यों कहिए कि दिखावटी सुख बढ़ता जाता है।

इसमें संदेह नहीं कि देश की आन्तरिक शांति और पाश्चात्य सभ्यता के संसर्ग से यहाँ कुछ लोगों के धन में वृद्धि अवश्य हुई है, तथा अन्य धनी देशों के रहनसहन का ज्ञान हो जाने के कारण जनता के हृदय में नए विचारों का समावेश हो रहा है। लूटमार का भय हट जाने से अमीर लोगों को अब अपनी अमीरी प्रकट करने का अवसर मिल गया है। इससे भी देश में सुख कुछ बढ़ता नजर आ रहा है। तथापि सच्चाई यह है कि यहाँ की जनता को न तो पहले के समान भर-पेट और पुष्टिकारक भोजन मिलता है, और न काफी कपड़े ही। इस

प्रकार उनका रहनसहन का दर्जा गिर रहा है, यह स्पष्ट है।

**रहनसहन का दर्जा नीचा होने के प्रमाण**—प्रत्येक समाज में निर्धन, साधारण, और धनवान—सब प्रकार के आदमी पाए जाते हैं। अभी तक अच्छी तरह से जाँच कर, यह जानने का प्रयत्न बहुत कम लोगों ने किया है कि भारतवर्ष में फी सैकड़ा कितने-कितने आदमियों का रहनसहन कैसा-कैसा है। हाँ, कहीं-कहीं पारिवारिक आय-व्यय के सम्बन्ध में कुछ जाँच अवश्य हुई है। किन्तु उससे संपूर्ण देश के सम्बन्ध में कुछ खास ब्योरेवार परिणाम नहीं निकाले जा सकते। इस विषय पर विचार आगे किया जायगा। अस्तु, वर्त्तमान परिस्थिति में हमें अप्रत्यक्ष आधारों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। निम्नलिखित कारणों से मालूम होता है कि यहाँ बहुत नीचे दर्जे के रहनसहन वालों की संख्या बहुत अधिक, सम्भवतः तीन-चौथाई से भी अधिक, है—

(१) आमदनी का बहुत कम होना। हाल में व्यवसाय-सचिवालय ने कुछ उपयोगी आंकड़े एकत्र किए हैं, उनसे मालूम होता है कि सन् १९४५-४६ के अविभक्त भारत में प्रत्येक व्यक्ति की वार्षिक औसत आमदनी केवल १९८ रु० थी। यदि सिर्फ प्रान्तों का हिसाब लगाया जाय तो यह आमदनी २०४ रु० के लगभग आती है। यह दूसरे देशों से कितनी कम है, इसका अनुमान नीचे लिखे अंकों से लगाया जा सकता है—आस्ट्रेलिया १७९९ रु०, कैनेडा २८९८ रु०, ब्रिटिश संयुक्त राज्य २३५५ रु०, और संयुक्त राष्ट्र अमरीका ४६६८ रु०। ऊपर जो भारत-वासियों की औसत आय बताई गई है, इसमें राजा-महाराजा, सेठ-साहूकारों, पूँजीपतियों तथा ऊँची वेतन पानेवाले सरकारी या गैर-सरकारी पदाधिकारियों की आय भी सम्मिलित है; इसका आशय यह है कि अनेक आदमियों की आय इस औसत आय से भी बहुत कम है। जो पुरुष ऐसी निर्धनता का जीवन व्यतीत करते हैं, उनका रहनसहन नीचे दर्जे का होना स्पष्ट ही है।

(२) भारतवर्ष में पदार्थों का मूल्य अधिक होना। साधारण लोगों की यह धारणा है कि भारतवर्ष में रहनसहन का खर्च अन्य देशों की अपेक्षा कम है। यह धारणा गलत है। कुछ पाठकों को यह जान कर आश्चर्य होगा कि पश्चिम के कई देशों में यहाँ की अपेक्षा दूध घी आदि सस्ता है। हिसाब से मालूम हुआ है कि इस समय भारतवर्ष में रहनसहन का खर्च ब्रिटिश संयुक्त राज्य की अपेक्षा ८० फीसदी (और केनेडा की अपेक्षा १५० फीसदा अधिक) है; यद्यपि ब्रिटिश संयुक्त राज्य अपनी भोजन सम्बन्धी आवश्यकताओं की ६२ प्रतिशत पूर्ति विदेशों से करता है, जबकि भारतवर्ष की भोजन सम्बन्धी आयात केवल ६ फीसदी है। अस्तु, एक ओर तो भारतवासियों की आमदनी दूसरे देशों की अपेक्षा कम, फिर यहाँ वस्तुओं का मूल्य भी अधिक। इससे स्पष्ट है कि यहाँ रहनसहन का दर्जा बहुत नीचा है।

(३) हम पहले बता आए हैं कि यहाँ अन्न-वस्त्रादि आवश्यक पदार्थों के उपभोग की मात्रा बहुत कम है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि यहाँ अधिकांश भारतवासियों का रहनसहन नीचे दर्जे का है।

(४) यहाँ मृत्यु-संख्या का सालाना औसत फी हजार २५ है, और एक व्यक्ति की औसत आयु केवल २३ वर्ष है। इससे भी अधिकांश जनता का रहनसहन नीचे दर्जे का साबित होता है।

**रहनसहन के दर्जे के ऊँचे होने की आवश्यकता**—यहाँ लोगों के रहनसहन के दर्जे के ऊँचे होने की बहुत आवश्यकता है। हाँ, इसका आशय यह नहीं है कि देश के आदमियों में विलासिता की वस्तुओं, या आराम देने वाले अथवा कृत्रिम आवश्यकताओं के पदार्थों का उपभोग बहुत अधिक बढ़ जाय। वरन् इसका अभिप्राय यही है कि पहले जीवन-रक्षक आवश्यकताओं की पूर्ति हो, फिर निपुणतादायक पदार्थों का अधिक उपभोग हो। इसके पश्चात् कुछ थोड़े से आराम के पदार्थों का उपभोग हो सकता है।

फी-सदी केवल दस-बीस आदमियों के रहनसहन के दर्जे के ऊंचे होने से ही जनता के रहन-सहन का दर्जा उन्नत नहीं कहा जा सकता। देश के सब आदमियों का जीवन सुखमय होना चाहिए—ऐसे आदमी तो बिलकुल न रहें, जो अपने जीवन-रक्षक पदार्थों के लिए ही चिन्ता किया करें। तभी यथार्थ में, देश में रहनसहन के दर्जे का ऊँचा होना माना जा सकता है।

**रहनसहन का दर्जा ऊँचा करने के साधन**—रहनसहन का दर्जा ऊँचा करने के मुख्य चार साधन हैं—इन्द्रिय-निग्रह, शिक्षा, यात्रा तथा अनुकरण, और प्रवास। (१) इन्द्रिय-निग्रह जितना अधिक होता है, उतनी ही परिवार में जनसंख्या कम होती है, और फल-स्वरूप उपभोग के लिए पदार्थ अधिक परिमाण में मिलते हैं। (२) शिक्षित आदमी दूरदर्शी होते हैं, उनमें संतान-वृद्धि कम होती है। इसके अतिरिक्त उनके निपुण होने से उनकी आय अधिक होती है, इससे उनके रहनसहन का दर्जा ऊँचा होना स्वाभाविक है। आय में वृद्धि में न होने की दशा में भी उनका रहनसहन ऊँचे दर्जे का हो सकता है; कारण, वे पदार्थों का ऐसी विधि से उपभोग करते हैं, जो अधिक निपुणता और आराम देने वाली हो। (३) यात्रा से मनुष्य बाहर का अनुभव प्राप्त करते हैं और अच्छी चीज़ों का उपभोग करने लगते हैं। हम बहुधा अपने निकटवर्ती व्यक्तियों के रहनसहन को देखकर उनका अनुकरण करने लगते हैं; इससे धीरे-धीरे रहनसहन का दर्जा ऊँचा होता जाता है। भारत में यद्यपि रेलों तथा सड़कों की वृद्धि से यात्रा में पहले की अपेक्षा सुविधा हो गई है, तथापि इसकी और भी अधिक आवश्यकता है। (४) प्रवास का भी, रहनसहन के दर्जे पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि किसी जगह एक पेशे के आदमी अधिक हों, और उनकी आय कम हो, तो उनके वहाँ से बाहर, दूसरे अच्छे स्थान में, जाकर बसने से उनकी आय बढ़ेगी, और उससे रहनसहन का दर्जा ऊँचा होगा।

**युद्ध और रहनसहन का दर्जा**—रहनसहन का दर्जा बहुत कुछ लोगों की आय और पदार्थों की कीमत पर निर्भर है। युद्ध में कीमत प्रायः बढ़ती ही है, और उसका जुदा-जुदा श्रेणी के आदमियों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता है, यह आगे 'कीमत' के अध्याय में बताया जायगा। यहाँ संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पूँजीपति, बड़े व्यापारी, उच्च पदाधिकारी आदि जिन व्यक्तियों की आय बहुत अधिक होती है, और कुछ दशाओं में युद्ध-काल में और भी बढ़ जाती है, उन पर बढ़ी हुई कीमत का असर विशेष नहीं होता। उनका रहन-सहन बहुत-कुछ पहले जैसा बना रहता है। मध्यम श्रेणी के आदमियों—साधारण उत्पादकों, व्यापारियों या कर्मचारियों आदि—की आय कुछ बढ़ती है तो वह बहुधा ऐसे अनुपात में नहीं बढ़ती, जैसे अनुपात में पदार्थों की कीमत बढ़ जाती है। इसलिए इनके रहनसहन का दर्जा कुछ गिर ही जाता है। कम और निर्धारित आय वालों के रहनसहन का दर्जा तो और भी अधिक गिर जाता है। हाँ, जिन सैनिकों, श्रमजीवियों, या सरकारी कर्मचारियों की वेतन या भत्ता बहुत बढ़ जाता है, या जिन बेकारों को युद्ध सम्बन्धी कोई नया काम मिल जाता है, उनकी दशा अवश्य कुछ सुधर जाती है। पर इनकी कुल संख्या बहुत थोड़ी ही होती है। इस प्रकार युद्ध से अधिकांश जनता का रहन-सहन का दर्जा ऊँचा नहीं होता, गिरता ही है।

**मध्यम वर्ग की दुर्दशा**—आधुनिक समाज-व्यवस्था ऐसी होती जा रही है कि या तो उच्च धनी वर्ग ही सुख के विविध साधनों का उपभोग कर सकता है; या फिर निम्न श्रेणी के, मजदूरी करनेवाले कुछ मजे से रह पाते हैं। बीच का मध्यम वर्ग तो 'न घर का और न घाट का'। न इसे वह मान-प्रतिष्ठा ही मिलती है जो पैसे वालों को सुलभ है, और न यह शासन की वह सहायता या सहानुभूति ही पाता है, जो मजदूर वर्ग अपने संगठित आन्दोलन या हड़ताल आदि से पाता रहता है। वास्तव में मध्यम वर्ग समाज का मेरुदण्ड है। समाज में इस की स्थिति

वैसी ही है, जैसे मनुष्य के शरीर में रीढ़ की हड्डी की। जिस आदमी की रीढ़ की हड्डी कमजोर है, वह बल का अभिमान नहीं कर सकता। इसी प्रकार मध्यम वर्ग (जिसमें निश्चित और कम आमदनी वाले कर्मचारी, शिक्षक, मुनीम, गुमाश्ते और क्लर्क तथा पत्रकार आदि होते हैं) की हालत खराब होने की दशा में कोई समाज शक्तिशाली नहीं कहा जा सकता।

महायुद्ध के बाद इस वर्ग की दशा बहुत दयनीय हो गई है। मँहगाई के जमाने में, इसे अपना गुजारा करना बहुत मुश्किल हो गया है; कारण, वस्तुओं के दाम तिगुने-चौगुने हो गए और वेतन तथा महँगाई के भत्ते की रकम मामूली रही। इसे अपनी मान प्रतिष्ठा तथा सामाजिक मर्यादा बनाए रखने की चिन्ता सताती रहती है। विवाह-शादी या मृत्यु के अवसर पर यह सामाजिक रूढ़ियों को भरसक पालन करना चाहता है। अपनी भेष-भूषा भी यह ऐसी रखना चाहता है, जिससे समाज में अच्छा दीखे। इसे रहन-सहन की प्रत्येक बात में यह ख्याल रहता है कि दूसरों की नज़र में खराब न रहे। इसका परिणाम यह होता है कि यह अपनी हेसियत से अधिक खर्च करता और कर्जदार बना रहता है, और बहुधा भ्रष्टाचार या रिश्वतखोरी आदि की शरण लेता है। परन्तु इससे इसका रहन-सहन का दर्जा कुछ स्थायी रूप से ऊँचा नहीं होता। शासकों तथा समाज सूत्रधारों को इस वर्ग का यथेष्ट ध्यान रखना चाहिए। स्वतन्त्र भारत में इसकी बहुत आवश्यकता है।

**पारिवारिक आय-व्यय**—विशेषतया भारतवर्ष में समाज का इकाई परिवार ही है। अतः यहाँ मनुष्यों का रहनसहन जानने के लिए परिवारों के रहनसहन का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। इसके वास्ते पारिवारिक आय-व्यय का अध्ययन किया जाना चाहिए। इससे आदमियों की गरीबी-अमीरी का ठीक-ठीक पता लगता है। किसी परिवार की आमदनी और खर्च की भिन्न-भिन्न मदों के विवरण को उसका पारिवारिक बजट या आय-व्यय-पत्र कहते हैं। इस में यह विचार किया जाता है

कि परिवार में कितने आदमी हैं, कितने कमानेवाले, अथवा कमाने में सहायता करनेवाले हैं, और कितने उनके आश्रित हैं, वे कैसे मकान में रहते हैं, प्रत्येक की उम्र, योग्यता, शिक्षा, साधन आदि कितने हैं। परिवार की कुल आय कितनी है, और विविध पदार्थों के उपभोग में कुल खर्च कितना होता है। आय-व्यय का लेखा-जोखा ज्यों-का-त्यों बराबर रहता है, या कुछ बचत होती है, अथवा, कुछ ऋण लेकर काम चलाना होता है।

जिस आदमी की आमदनी कम है, या जिसके परिवार में अधिक व्यक्ति हैं, उसकी सारी आमदनी या उसका अधिकांश भाग जीवन-रक्षक पदार्थों में खर्च होजायगा। निपुणतादायक पदार्थों में अथवा ऐशोआराम की चीजों के लिए, उसके पास कुछ द्रव्य नहीं बचेगा। लेकिन आमदनी बढ़ने के साथ-साथ जीवन-रक्षक पदार्थों में कम अनुपात में खर्च होगा और आराम तथा विलासिता की वस्तुओं में अधिक अनुपात में खर्च होने लगेगा।

**भारतवर्ष में पारिवारिक आय-व्यय-साहित्य**—योरप अमरीका आदि में कितने ही विद्वानों ने अपने-अपने क्षेत्रों की दशा जाँच कर अनेक प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे हैं। भारतवर्ष में गत थोड़े से वर्षों से ही इस दिशा में कुछ प्रयत्न हुआ है। पंजाब की 'बोर्ड-आफ़-इकानामिक एँक्वायरी', और बम्बई तथा संयुक्तप्रान्त की सरकारों के मजदूर-विभाग आदि संस्थाओं ने, तथा जहाँ-तहाँ कुछ सज्जनों ने थोड़ा-बहुत कार्य किया है। विविध कालिजों के विद्यार्थी भी कुछ पारिवारिक आय-व्यय के नक्शे तैयार करते हैं। परन्तु देश के विशाल क्षेत्र और विविध प्रकार की आबादी की दृष्टि से कार्य बहुत कम हुआ है। उत्साही नवयुवकों को अधिक संख्या में यह कार्य करना चाहिए। इसके बिना देशवासियों की दशा का ठीक-ठीक प्रामाणिक परिचय नहीं मिलेगा, और उनकी आर्थिक स्थिति सुधारने में विशेष सफलता न होगी।

भारतवर्ष में इस साहित्य की रचना में एक विशेष बाधा यह कि इसकी सामग्री यहाँ सहज नहीं मिलती। एक तो यहाँ लिखे-पढ़े आदमी कम हैं। फिर, जो शिक्षित हैं, वे भी अपने आय-व्यय का हिसाब नियमित रूप से नहीं लिखते। बहुत से आदमी अपनी आय-व्यय के ठीक अंक दूसरों को बताना नहीं चाहते। तथापि उद्योग करने पर कुछ जानकारी प्राप्त हो ही सकती है।

**व्यय सम्बन्धी कुछ अनुभव**—योरप और अमरीका के बहुत से, भिन्न-भिन्न स्थिति के, गृहस्थों के आय-व्यय सम्बन्धी अध्ययन से निम्नलिखित सिद्धान्त निश्चित हुए हैं—(क) जिस अनुपात से एक कुटुम्ब की आय बढ़ती है, पुस्तकों और भोजन का व्यय उसी अनुपात में नहीं बढ़ता; कम बढ़ता है। (ख) वस्त्र और मकान-भाड़े का खर्च, आमदनी के अनुपात में बढ़ता है। (ग) शिक्षा, स्वास्थ्य और मनोरंजन की सामग्री के व्यय का अनुपात, आमदनी के अनुपात से अधिक बढ़ जाता है।

जर्मन लेखक डा० एँजिल ने जर्मनी के भिन्न-भिन्न श्रेणियों के हजारों परिवारों के आय-व्यय का अध्ययन करके निम्नलिखित सिद्धान्त निश्चय किए हैं—

(१) आय जितनी बढ़ती है, उतना ही उसमें निर्वाह के खर्च का अनुपात कम हो जाता है।

(२) वस्त्र पर खर्च का अनुपात स्थिर रहता है। अर्थात् यदि ५०) रु० आमदनी वाले का वस्त्र में ४) रु० खर्च होता है तो १००) आमदनी वाले का लगभग ८) रु०, और १०००) रु० आमदनी वाले का करीब ८०) रु०, खर्च होता है।

(३) यही हाल मकान के किराए, रोशनी आदि का होता है।

(४) आय जितनी बढ़ती है, उतना ही परिवार का सुख के साधनों में, खर्च बढ़ जाता है।

यदि किसी परिवार की मासिक आय ७५) हो, तो डाक्टर ऐँजिल के सिद्धान्तों के अनुसार उस परिवार, का व्यय इस प्रकार होगा—

| | | | |
|---|---|---|---|
| भोजन | ६२% | अर्थात् | ४६॥) |
| कपड़े | १६% | „ | १२) |
| मकान का किराया | १२% | „ | ९) |
| ईंधन और नाई-धोबी | ५% | „ | ३॥।) |
| सुख के साधन तथा दान आदि | ५% | „ | ३॥।) |

पाठकों को स्वयं भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के परिवारों में इस बात की जाँच करनी चाहिए कि भारतवर्ष में कहाँ तक डा० ऐँजिल के उपर्युक्त सिद्धान्तों के अनुसार खर्च होता है।

**जाँच के लिए नक्शे का नमूना**—पारिवारिक आय-व्यय की जाँच करने के लिए हम एक नक्शे का नमूना, पटना कालिज की चाणक्य-सोसाइटी की वार्षिक-रिपोर्ट के आधार पर, आगे देते हैं—

## पारिवारिक आय-व्यय

| | | | |
|---|---|---|---|
| नाम | ... | ... | ... |
| जाति | ... | ... | ... |
| पेशा | ... | ... | ... |
| गाँव | ... | ... | ... |
| ज़िला | ... | ... | ... |
| समय ( तारीख, महीना और सन् ) | | ... | ... |
| लेखा-परीक्षक | ... | ... | ... |

(क) परिवार
- १—आदमियों की संख्या... ...
  - (अ) काम करनेवाले... ...
  - (आ) काम न करनेवाले ...

(ख) जायदाद
- २—जमीन, बीघों में ... ...
- ३—जमीन का मूल्य ... ...
- ४—मकान का मूल्य ... ...
- ५—पशुओं का मूल्य ... ...
- ६—सब जायदाद का मूल्य ...

(ग) ऋण
- ७—कुल रकम ... ...

(घ) भोजन
- ८—दूध का उपभोग ... ...
- ९—मांस या मछली का उपभोग ...
- १०—घी का उपभोग ... ...
- ११—सब्जी का उपभोग ... ...
- १२—तेल का उपभोग ... ...
- १३—खाँड या गुड़ का उपभोग ...

| (च) वार्षिक आय | जिन्स में मिली | नकद मिली |
|---|---|---|
| १४-जमीन और बगीचे से कुल आय | | |
| १५-पशुओं से कुल आय | | |
| १६-वेतन और दस्तूर | | |
| १७-अन्य आय | | |
| १८-आय का जोड़ | | |
| १९-इस वर्ष ऋण लिया | | |
| २०-पूरी आय का योग | | |

| (छ) वार्षिक व्यय | जिन्स में दि | नकद दिया |
|---|---|---|
| २१-अन्न | | |
| २२-सब्जी | | |
| २३-नमक | | |
| २४-मसाले | | |
| २५-दूध | | |
| २६-खांड या गुड़ | | |
| २७-घी (खाने के लिए) | | |
| २८-तेल | | |
| २९-मांस-मछली | | |
| ३०-पान तम्बाकू आदि | | |
| ३१-मादक द्रव्य | | |
| ३२-तेल (रोशनी का) | | |
| ३३-ईंधन | | |
| ३४-बर्तन | | |
| ३५-दान | | |
| ३६-दवाई | | |
| ३७-अतिथि-सत्कार | | |
| ३८-विवाह या श्राद्धादि | | |
| ३९-पूजा आदि | | |
| ४०-तीर्थ-यात्रा और सफ़र | | |
| ४१-शिक्षा | | |
| ४२-ऋण पर सूद | | |
| ४३-मकान का किराया | | |
| ४४-मकान की मरम्मत | | |

| | | |
|---|---|---|
| ४५-कपड़ा | | |
| ४६-नाई | | |
| ४७-धोबी | | |
| ४८-पुजारी | | |
| ४६-घरू नौकर | | |
| ५०-लगान और मालगुजारी | | |
| ५१-बीज, औज़ार और बैल | | |
| ५२-लुहार | | |
| ५३-बढ़ई | | |
| ५४-खेती में काम करनेवाले | | |
| ५५-खेती-संबंधी अन्य कार्य | | |
| ५६-चौधरी टैक्स | | |
| ५७-पशुओं के लिए रसद | | |
| ५८-विविध (भेंट आदि सहित) | | |
| ५६-खर्च का जोड़ | | |
| ६०-इस वर्ष ऋण चुकाया | | |
| ६१-सारे खर्च का जोड़ | | |
| (ज) बचत या कमी | | |
| ६२-बचत | | |
| ६३-कमी | | |

**नक्शे का कुछ स्पष्टीकरण**—ऐसा नक्शा भरने के लिए कुछ बातों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। नक्शे के आरम्भ में संक्षिप्त प्रस्तावना देनी चाहिए, जिसमें यह भी बतलाना चाहिए कि उसकी सामग्री किस प्रकार एकत्र की गई है, और जिस श्रेणी के परिवार का वह आय-व्यय है, उसका नमूना होने का काम वह नक्शा कहाँ तक दे सकता है। इस सम्बन्ध में आगे लिखी बातें स्मरण रखना आवश्यक है।

(क) **परिवार**—परिवार के हर एक सदस्य का नाम, आयु, रिश्तेदारी, विवाह, स्वास्थ्य और पेशा लिखना चाहिए। कमानेवाले सदस्यों के बारे में लिखना चाहिए कि उन्होंने कितने हफ्ते, किस दर पर, काम किया। अंत में उसी गाँव के अन्य परिवारों से उस परिवार की तुलना होनी चाहिए। इनके सिवा जो अन्य बातें लिखने योग्य हों, उन्हें भी लिखना चाहिए।

(ख) **जायदाद**—जमीन किस प्रकार ली हुई है—मौरूसी, गैर-मोरूसी, या शिकमी-दर-शिकमी? मकान का ब्योरा तथा स्थिति; कमरों की संख्या और आकार; पशु, फलवाले पेड़, औजार, जेवर, कपड़े नकद रुपया, अनाज का भंडार।

(ग) **ऋण**—कब और कैसे हुआ? उसके चुकाए जाने की सम्भावना।

(घ) **भोजन**—किस किस्म के अन्न का उपभोग हुआ (रबी या खरीफ)? कितनी बार भोजन किया जाता है, और एक व्यक्ति लगभग कितना-कितना भोजन करता है? नक्शे के ८ से १३ तक की मदों की व्याख्या। किस पदार्थ का उपभोग प्रतिदिन होता है, और किसका कभी-कभी, या कभी नहीं।

(च) **आय**—बजट के हर एक मद्द की व्याख्या (यह बताते हुए कि ये अंक किस हिसाब से आए)।

(छ) **व्यय**—आय की भाँति, व्यय की मद्दों की व्याख्या (यह

बताते हुए कि कोई व्यय असाधारण तो नहीं है)। परिवार के हरेक आदमी और नौकरों के कपड़ों की विशेष बातें।

(ज) बचत या कमी—अगर साल में कुछ बचत हुई हो, तो उसका कैसे उपयोग किया गया? और अगर साल में कुछ कमी हुई हो, तो उसकी पूर्ति किस तरह की गई?

अर्थशास्त्र-प्रेमियों को चाहिए कि जुदा-जुदा श्रेणियों के परिवारों के आय-व्यय के नक्शे तैयार करें, और उन पर विचार करके तथा उनकी एक-दूसरे से तुलना करके उपभोग सम्बन्धी सिद्धान्त स्थिर करने का प्रयत्न करें। इससे उनके अनुभव और ज्ञान में वृद्धि होगी।



## पंद्रहवाँ अध्याय

# उपभोग का विवेचन



यह ठीक है कि सब धन उपभोग या खर्च किए जाने के लिए ही है। परन्तु उसका उचित समय में और उचित रीति से उपभोग किया जाता है, तभी वह यथेष्ट लाभ पहुँचा सकता है। उपभोग में केवल व्यक्तिगत दृष्टि न रखकर सामाजिक विचार भी करना चाहिए; कारण, प्रत्येक व्यक्ति समाज का अंग है। उपभोग के दो भेद हैं—सदुपभोग और दुरुपभोग।

**सदुपभोग**—सदुपभोग दो प्रकार का कहा जा सकता है:—साधारण, और आदर्श या ऊँचे दर्जे का। साधारण सदुपभोग वह है, जिसमें उपभोक्ता को भी लाभ हो, और समाज या देश को भी। उदाहरण के लिए यदि हम स्वदेशी वस्तुएँ मोल लें तो उसमें हमें तो लाभ होगा ही, साथ ही उससे हमारे देश के कारीगरों को लाभ पहुँचेगा; अर्थात् ऐसे लोगों का हित होगा, जो आलसी नहीं हैं, वरन् अपनी जीविका देशी-उद्योग तथा व्यापार की उन्नति के कार्य से प्राप्त करते

है। ऊँचे दर्जे का या आदर्श सदुपभोग वह है, जिसमें उपभोक्ता अपनी हानि सहते हुए भी समाज और देश की भलाई करे। देशोन्नति चाहनेवालों का कर्त्तव्य है कि जिस उपभोग से वे अपनी हानि की बात स्पष्ट जानते हैं, उसे भी, जब वह देश के लिए कल्याणकारी हो, यथा-संभव करते रहें। हमें चाहिए कि अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कृषि और उद्योग-धंधों आदि की, शिक्षा-संस्थाओं की सहायता करें, रात्रि-पाठशालाएँ स्थापित करें, सहकारी-समितियाँ संगठित करें। यहाँ साहित्य-वृद्धि की भी बड़ी आवश्यकता है। धनी-मानी सज्जनों को चाहिए कि योग्य लेखकों, संपादकों और कवियों के प्रति उदारता के भाव रखें। इसी तरह अनाथालय, स्कूल, वाचनालय, व्यायाम-शाला आदि में द्रव्य लगाना, देश-काल और पात्र का विचार करके दानधर्म करना धन का आदर्श सदुपभोग है।

दुरुपभोग—अब दुरुपभोग की बात लेते हैं। दुर्भाग्य से प्रत्येक देश में दुरुपभोग काफी होता है; भारतवर्ष में भी इसकी कमी नहीं। कुछ दुरुपभोग ऐसा होता है, उसमें उपभोक्ता की नीयत या उद्देश्य बुरा नहीं होता। वह अपने अज्ञान, अल्पज्ञता, अथवा लाचारी से अपनी तथा समाज की, दोनों की हानि करता है। इसके उदाहरण मादक पदार्थों का सेवन, बिना अच्छी तरह सोचे समझे किया हुआ दान-धर्म, कुरीतियों में होनेवाला फजूलखर्च, झूठी मुकदमेबाजी, संपत्ति को गाड़कर रखना, जेवर बनवाना आदि हैं। एक गरीब आदमी को कपड़े की सख्त जरूरत है, वह स्वदेशी कपड़े को, कुछ मँहगा होने की वजह से खरीदने में असमर्थ है, इसलिए वह सस्ता विदेशी वस्त्र मोल लेकर उसका उपभोग करता है, तो उसका यह कार्य दुरुपभोग ही समझा जायगा, यद्यपि वह इसे करने के लिए विवश है।

दूसरा दुरुपभोग वह है, जिसे उपभोक्ता अपने लाभ, सुविधा या शौकीनी के लिए करता है, किन्तु उससे समाज को हानि होती है।

उदाहरण के लिए एक आदमी समर्थ होते हुए भी विदेशी वस्त्र इसलिए खरीदता है कि वह वस्त्र स्वदेशी कपड़े की अपेक्षा कुछ सस्ता है। बहुत से शौकीन आदमी विलासिता की विदेशी वस्तुओं का सेवन करते हैं। कितने ही आदमी सड़क के बीच में कूड़ा या मैली वस्तुएँ फेंक देते हैं, नालियों में टट्टी फिरते हैं, नल से पानी लेकर उसे खुला ही छोड़ देते हैं, नदी या तालाब में स्नान करते हुए पानी का कुल्ला करते हैं, रेल के डिब्बे में यात्रा करते हुए वहाँ ही थूकते रहते हैं। ये लोग अपनी जरा सी सुविधा के लिए सड़क, नाली, नदी, तालाब या रेल के डिब्बे आदि का दुरुपभोग करते हैं, जिससे समाज को बहुत हानि पहुँचती है। कुछ आदमी अपने किसी मित्र से, या प्राइवेट पुस्तकालय से कोई पुस्तक यह कहकर माँग ले जाते हैं कि जरा सा काम है, जल्दी ही लौटा देंगे। यह पुस्तक उनके विश्वास पर दे दी जाती है, इसके सम्बन्ध में कोई लिखा-पढ़ी नहीं की जाती। पर पुस्तक बहुत समय तक लौटाई नहीं जाती, अंत में देनेवाले को उसकी याद नहीं रहती और वह सदैव के लिए उससे वंचित हो जाता है। कई बार ऐसी घटनाएँ सामने आई हैं कि किसी व्यक्ति ने किसी पुस्तक या पत्र-पत्रिका का कोई अंश या चित्र फाड़कर अपने पास रख लिया। इसका परिणाम यह होता है कि पुस्तकें आदि दिए जाने के नियम भविष्य में अधिक कठोर बनाए जाते हैं, और सबकी असुविधा बढ़ जाती है।

इन दोषों को निवारण करने के लिए नागरिक शिक्षा के प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है। यह बात हरेक आदमी के दिल में बैठाई जानी चाहिए कि उसका अन्य नागरिकों तथा समाज के प्रति क्या कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व है, और उसे किस प्रकार उसका पालन करना चाहिए। दुरुपभोग की कुछ बातों पर आगे विशेष विचार किया जाता है।

**मादक पदार्थों का उपभोग**—हमारे बहुत से आदमी तम्बाकू,

चाय, भाँग, गाँजा, शराब आदि नशीली चीजों का उपभोग करते हैं, इससे केवल ऐसे लोगों को लाभ होता है, जो उन हानिकारक वस्तुओं को पैदा करते हैं; और, हमारे अनेक आदमियों की कार्यक्षमता को धक्का पहुँचता है। इस प्रकार देश की द्रव्योत्पादक शक्ति का ह्रास होता है। इस सम्बन्ध में विशेष पहले लिखा जा चुका है। अब प्रांतीय सरकारें शराब आदि का प्रचार रोकने का विचार कर रही हैं, कुछ ने इस दिशा में क्रियात्मक कदम उठा लिया है।

**विदेशी वस्तुओं का उपभोग**—गत वर्षों में भारतवासी बहुत सी चीजें विदेशी वर्तने लगे हैं। यहाँ विदेशी वस्तुओं का प्रचार इतना हो गया है कि ऐसा घर कोई विरला ही मिलेगा, जहाँ इनका उपभोग न हो। अब भारतवर्ष स्वतंत्र हो गया है, और भारत सरकार ने विदेशी माल का आना कम कर दिया है, तथापि लोगों को यह ध्यान में रखना चाहिए कि विदेशी माल की खपत से विदेशी कारखानेवालों को ही लाभ होता है, उससे हमारे देश की उत्पादक शक्ति नहीं बढ़ती। इसलिए हमें यथा सम्भव विदेशी वस्तुओं के उपभोग की बात अपने मन से निकाल देनी चाहिए।

विदेशी वस्तुओं के व्यवहार की भांति विदेशी ढङ्ग का पहनावा भी देश के लिए बहुत अहितकर है। स्वदेशी पहनावे में थोड़े से ही वस्त्रों की जरूरत होती है। एक बार में एक कुर्ता, एक धोती, एक सादी टोपी या पगड़ी, और एक जूतों की जोड़ी से काम चल जाता है, परन्तु विदेशी पहनावे में पूरा 'सूट' चाहिए; कमीज, वास्कट, कोट, फेल्ट-कैप, बनियाइन, मोजे, पतलून तथा बूट आदि सभी चीजें चाहिएँ। यह फेशन, निर्धन भारत को अधिकाधिक दरिद्र और कष्ट-पीड़ित करने में कितना सहायक हो रहा है! स्वदेश-प्रेमी बन्धुओं को अपनी इस दशा का शीघ्र सुधार करना चाहिए। अब भारतवर्ष के स्वतन्त्र हो जाने से यह सुधार सुगम हो गया है।

**बिना सोचे-विचारे दान-धर्म**—हम हट्टे-कट्टे भिखारियों या

बनावटी साधुओं को जो दान-पुण्य करते हैं, उससे ऐसे मनुष्यों को लाभ पहुँचता है, जो देशी व्यापार तथा उद्योग धन्धों की कुछ सहायता नहीं करते, और जिनका जीवन देश के लिए उपयोगी नहीं कहा जा सकता। यदि हम उन्हें मुफ्त में भोजन-वस्त्र या पैसा न दें, तो वे अपनी गुजर करने के लिए कुछ उत्पादक कार्य अवश्य करें। हमें अपने दान आदि से उन्हें आलसी और निरुद्यमी न बनाना चाहिए। अनाथ या अपाहिजों को सहायता पहुँचाना मनुष्य-मात्र का कर्त्तव्य है। जो साधु-संन्यासी घूम-फिरकर देश में धर्म अर्थात् नीति की बातों का प्रचार करें, वे भी गृहस्थों की उदारता के अधिकारी हैं। परन्तु आलसी, निखट्टू आदमी केवल गेरुए कपड़े पहन लेने से, दान धर्म तथा प्रतिष्ठा के अधिकारी कदापि नहीं समझे जाने चाहिएँ।

देवालयों और मंदिरों में भी व्यर्थ का खर्च न होना चाहिए। अनेक स्थानों में प्रतिमा या मूर्ति के शृङ्गार और आभूषणों में सहस्रों रुपया लगा दिया गया है। बहुत से नगर—विशेषतया काशी, मथुरा, बृन्दाबन, हरिद्वार आदि तीर्थ-स्थान—ऐसे हैं, जहाँ एक-एक दो-दो मंदिरों से काम चल सकता था; पर धनी या भावुक लोगों ने अपने धर्म-प्रेम को दिखाने के लिए अलग-अलग मंदिर बनवा डाले। अब तो नए मंदिरों का बनना बन्द हो जाना चाहिए। फिर, यह कदापि उचित नहीं है कि शिवालयों या देव-मंदिरों के साथ कुपढ़ या दुराचारी लोगों को आश्रय दिया जाय, और देश की गाढ़ी कमाई का जो पैसा आरती या पुजापे (चढ़ावे) में आए, उससे मुफ़्तखोरों की संख्या बढ़ाई जाय। आवश्यकता है कि इस सम्पत्ति का अनाथालय, अस्पताल, विद्यालयों आदि की उन्नति और वृद्धि के लिए उपयोग किया जाय। भिन्न-भिन्न स्थानों के मठों ('अखाड़ों') की बेकार पड़ी हुई और निरन्तर बढ़ती हुई सम्पत्ति के विषय में भी यही कहना है।

**रीति-रस्म आदि में अपव्यय**—यहाँ अधिकांश जनता

सादगी-पसन्द और निर्धन है, तो भी कुछ बातों में वह फजूलखर्च भी करती है; उदाहरण के लिए शादी और गमी का खर्च, तथा आभूषण आदि। हमारे बन्धु बहुत सा धन केवल इसलिए खर्च कर डालते हैं कि उसका रिवाज है। वे खर्च की उपयोगिता अथवा अपनी स्थिति का विचार नहीं करते। आजकल समाज-सुधार का आन्दोलन प्रायः प्रत्येक जाति में हो रहा है, परन्तु पुराने विचारों के आदमी सुधारकों की बातें यथा-शक्ति चलने नहीं देते। घरों में बहुत-सा अपव्यय हमारी असावधानी से भी होता है। किसी समय दस मेहमान घर आनेवाले हुए तो उनके लिए भोजन तैयार करते समय परिमाण का ठीक ध्यान न रखा; इतना भोजन बना डाला जो पन्द्रह-बीस के लिए काफी हो। कहीं-कहीं भोजन इतना परोसा जाता है कि बहुत जूठन पड़ती है। इस प्रकार खाने का सामान खराब होता है। कुछ आदमी, खासकर नौकर, चीजों को इस तरह इस्तेमाल करते हैं कि जो चीज तीन-चार साल चलनेवाली हो, वह एक-दो साल में ही रद्दी हो जाती है। यह सब अपव्यय बन्द किए जाने की अत्यन्त आवश्यकता है।*

**मुकदमेबाजी**—भारतवर्ष में किसानों और जमींदारों की प्रायः जमीन के, और व्यापारी तथा व्यवसाइयों को रुपए सम्बन्धी, मुकदमे बहुत खराब करते हैं। दत्तक या गोद के मामलों में भी बहुत मुकदमे-बाजी होती है। गोद लेने में आदमियों का हेतु यह रहता है कि मरने के बाद भी उनके खानदान का नाम चले। वे भूल जाते हैं कि राम, कृष्ण, बुद्ध, दयानन्द आदि महापुरुषों के नाम, चिरकाल के पश्चात् भी हमारी ज़बान पर चढ़े हुए हैं; यह उनके पुत्र-पौत्रों के कारण नहीं, वरन् स्वयं उनके शुभ कार्यों एवं दया, धर्म, त्याग, वीरता और अन्य ऐसे ही सद्गुणों के कारण है। जिन आदमियों को बिना सन्तान मरने की आशंका हो, वे अपने परिवार के गुजारे

* धन को गाड़कर रखना भी एक प्रकार धन का अपव्यय अथवा दुरुपयोग है।

की व्यवस्था करके, अपनी शेष सम्पत्ति ऐसे राष्ट्रीय कार्यों में लगाने की वसीयत कर दें, जिनसे देश में शिक्षा तथा उद्योग-धंधों की उन्नति और वृद्धि हो, अनाथों की रक्षा हो, रोगियों का इलाज हो, इत्यादि। इस प्रकार ही उनकी कीर्ति अधिक स्थायी होगी, और मातृभूमि का भी कल्याण होगा।

भारतवर्ष के प्रान्तों में दीवानी मुकदमों की वार्षिक औसत २० लाख से ऊपर बैठती है। मुकदमेबाजी में कितना रुपया नष्ट होता है। 'व्यय' नाम की पुस्तक में बनारस के एक लक्खी-चबूतरे का उदाहरण दिया है। उस चबूतरे के नामकरण का कारण यह है कि उसके लिए दो आदमियों ने मुकदमेबाजी करके अदालती काम में एक-एक लाख रुपए के लगभग खर्च कर डाला। यह चबूतरा सिर्फ ५-६ गज लम्बा और एक गज चौड़ा है, और किसी अच्छे मौके पर भी नहीं है। मुकदमेबाजी में नष्ट होनेवाले अपार धन को राष्ट्रीय पंचायतों द्वारा बचाया जाना चाहिए। अब भारतीय संघ के प्रत्येक गाँव या गाँव-समूह में पंचायत स्थापित की जा रही है। संयुक्तप्रान्तीय सरकार ने पंचायत राज एक्ट बनाया है। अब गाँव वालों के बहुत से मुकदमे जहाँ के तहाँ निपट जाया करेंगे और उन्हें मुकदमेबाजी से बहुत छुटकारा मिल जायगा।

**दुरुपभोग और आदतें**—ऊपर दुरुपभोग के थोड़े से विषयों पर विचार किया गया है, दूसरी बातों का विचार पाठक स्वयं करलें। बहुत से दुरुपभोग का कारण, मनुष्यों की आदतें होती हैं। जब दूसरे की देखा-देखी, या गलती से एक बार आदमी दुरुपभोग करने लग जाता है, तो कुछ समय बाद उसकी आदत ही पड़ जाती है; फिर, ज्यों-ज्यों समय बीतता है, वह आदत पक्की हो जाती है, और उसका छूटना कठिन हो जाता है। हरेक आदमी को चाहिए कि बुरी आदतों का शिकार होने से बचे, आरम्भ से ही अच्छी संगति में रहे, और सात्विक साहित्य का अवलोकन करे।

ऋण लेने या चीज़ें उधार लेने की आदत दुरुपभोग में बहुत सहायक होती है। कितने ही आदमी, खर्च करते समय अपनी स्थिति या हैसियत का विचार नहीं करते; ज़रा सा कारण उपस्थित होने पर वे अपनी शक्ति से बाहर खर्च कर डालते हैं। इसके लिए उन्हें ऋण लेना होता है। और, ऋण जहाँ एक बार लिया, फिर उसे लेने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। बात-बात में ऋण लिया जाता है, उसकी रकम तथा ब्याज बढ़ता रहता है। हमारे किसानों और मजदूरों को अपनी आमदनी में से खासी रकम ब्याज-ही-ब्याज में चुका देनी होती है।

बहुत से बाबू लोग अच्छी आमदनीवाले होने पर भी ऋणी रहते हैं। वे भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं के बेचनेवालों से उधार का हिसाब रखते हैं; जब जिस चीज़ की ज़रूरत मालूम हुई, लेते रहते हैं। महीना समाप्त होने पर जब उन्हें तनख्वाह मिलती है, तो उसका बहुत सा हिस्सा विविध बिलों के चुकाने में झटपट ठिकाने लग जाता है, और, बाबू साहब पन्द्रह-बीस तारीख से ही अगले महीने की तनख्वाह की राह देखने लगते हैं। संकट-काल के लिए कुछ जमा रहने का फिर जिक्र ही क्या! हरेक गृहस्थ को ऐसी आदत डालनी चाहिए कि यथा-सम्भव कोई वस्तु उधार न ली जाय। इससे उसको अपनी आवश्यकता पर अच्छी तरह विचार करने का अवसर मिलेगा; सम्भव है, उसे कुछ आवश्यकताओं को नियन्त्रित करने में सफलता मिल जाय। ऐसा करने से बहुत सा अपव्यय एवं दुरुपभोग बच सकता है।

**आवश्यकताओं का नियन्त्रण**—भौतिक-सभ्यता-वादियों का विचार है कि हमारी विविध आवश्यकताओं की वृद्धि होती रहनी चाहिए; उनकी पूर्ति का प्रयत्न करने में ही आनन्द और सुख है। परन्तु ऐसा करने से मनुष्य कभी सन्तुष्ट या सुखी नहीं रह सकता। हर दम उसे अपनी नित्य बढ़नेवाली नई-नई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिकाधिक धन की जरूरत रहती है, उसकी असंतुष्टता बढ़ती जाती है, और वह दिन-रात धन की चिन्ता में रहा करता है। आज-दिन

अनेक आदमी लखपती होते हुए भी दुःख में डूबे रहते हैं। इसका उपाय यह है कि आर्थिक आवश्यकताओं का नियंत्रण किया जाय। पहले बताया जा चुका है कि उपभोग सिर्फ जीवन-रक्षक और निपुणता-दायक पदार्थों का, तथा कुछ अंश में आराम की चीजों का किया जाना चाहिए; कृत्रिम आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाली चीजों का उपभोग यथा-सम्भव कम करना चाहिए, और विलासिता की वस्तुओं के उपभोग को तो बन्द ही करना उचित है।

**उपभोग का आदर्श**—इस प्रकार कृत्रिम या विलासिता की आवश्यकताओं का नियंत्रण करने से मनुष्यों के पास अपनी आय में से कुछ बचत हो सकती है, और, उस बचत का उपभोग सेवा, परोपकार, और राष्ट्र-हित आदि में किया जा सकता है, जिसका उल्लेख पहले किया गया है। निस्संदेह आदमी को अपनी आवश्यकताओं के नियन्त्रण में पहले-पहल कुछ कष्ट मालूम होता है, परन्तु जब वह इस प्रकार बचाए हुए धन से सेवा या परोपकार करता है, तो उसे अनोखा आनन्द मिलता है। भोग-विलास का सुख तो निम्न कोटि का तथा क्षणिक है।

इस सम्बन्ध में भारतीय आदर्श का ध्यान रखना अत्युपयोगी है। हमारे शास्त्रकारों ने कल्पना-जगत् में रहते हुए यह आदेश नहीं कर डाला कि सभी आवश्यकताओं को रोको, खाना-पीना बन्द कर दो, और शरीर को सुखा डालो। न उन्होंने व्यक्तिगत सुखवाद वा स्वार्थ-वाद की ही पुष्टि की है, जिसका मूल मंत्र यह है कि खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ, अपने सुख से प्रयोजन है, दूसरों की चिन्ता न की जाय। समाज-हित का ध्यान रखता हुआ हरेक धर्म कहता है कि तुम अपनी जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक वस्तुओं का उपभोग करो, पर इसमें मर्यादा का ध्यान रखो, दूसरों के हित की अवहेलना न करो, समाज में सबको सुखी बनाने का प्रयत्न करते हुए तुम भी सुखी रहो। यही संक्षेप में उपभोग का आदर्श है।



## चौथा भाग
# मुद्रा और बैंक

## सोलहवाँ अध्याय
# मुद्रा; रुपया-पैसा

धन की उत्पत्ति और उपभोग का वर्णन किया जा चुका है। अब धन के विनिमय का वर्णन करना है। पहले मुद्रा और बैंकों के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है; क्योंकि आधुनिक संसार में पदार्थों का क्रय-विक्रय (खरीदना बेचना) या व्यापार आदि सब कार्य इन्हीं के द्वारा होते हैं।

**विनिमय का माध्यम**—पहले बताया जा चुका है कि पदार्थों का अदल-बदल किए बिना आदमियों का काम नहीं चल सकता। प्राचीन काल में दो पदार्थों के अदल-बदल के लिए कोई तीसरी वस्तु माध्यम नहीं होती थी। इससे बड़ी कठिनाई होती थी। जो वस्तु हमारे पास हमारी जरूरत से अधिक होती थी, उसके लेनेवाले, सब समय और सब जगह नहीं मिलते थे। फिर, जिन मनुष्यों को हमारी चीज की जरूरत होती थी, वे सभी हमें हमारी आवश्यकता की वस्तु नहीं दे सकते थे। अतएव हमें ऐसा आदमी ढूँढ़ना पड़ता था, जिसमें एक-साथ दो बातें हों—वह हमारी बनाई हुई वस्तु ले सके, और हमारी जरूरत की चीज, बदले में, दे भी सके। इस कठिनाई को दूर करने के लिए भिन्न-भिन्न देशों में अलग-अलग वस्तुएँ विनिमय का माध्यम बनाई गईं। भारतवर्ष के देहातों में, अब भी अन्न के बदले शाक-भाजी, लकड़ी, उपले आदि वस्तुएँ मिलती हैं। एक आदमी अपनी चीज

बेचकर बदले में अन्न लेता है, और फिर उस अन्न के बदले में, अपनी आवश्यकता की दूसरी वस्तुएँ लेता है। इस प्रकार अन्न, विनिमय के माध्यम का काम देता है। इसमें संदेह नहीं कि अन्न उपयोगी है, इसकी आवश्यकता सबको होती है; परन्तु माध्यम के लिए किसी वस्तु का उपयोगी होना ही काफी गुण नहीं है।

अन्न से विनिमय के माध्यम का कार्य छोटे क्षेत्रों में ही लेना आसान होता है। जब विनिमय करनेवाले व्यक्ति (या संस्थाएँ) भिन्न-भिन्न गाँवों के होंगे तो अवश्य ही अधिक कठिनाई उपस्थित होगी। विनिमय करनेवालों के स्थानों में जितना अधिक फासला होगा उतनी ही कठिनाई बढ़ती जायगी। यदि कशमीर का आदमी अपनी वस्तु का विनिमय हैदराबाद वाले से करना चाहे तो अन्न के माध्यम से काम कैसे चलेगा! फिर, यदि हम अपने देश के बाहर के आदमियों से पदार्थों का विनिमय करना चाहें तो अन्न के माध्यम द्वारा यह असम्भव ही समझना चाहिए। इस प्रकार अन्न आदि से माध्यम का काम हम तभी ले सकते हैं, जब न केवल हमारा देश स्वावलम्बी हो, वरन् हम अपनी जरूरत यथा-सम्भव अपने गाँव या नगर के पदार्थों से ही पूरी करें।

अन्न से, छोटी-छोटी मात्रा के विनिमय का कार्य अवश्य चल सकता है, परन्तु बड़ी मात्रा के विनिमय से इससे बड़ी-असुविधा होती है। मान लीजिए, यदि सौ मन रुई बेचना है, और उसके बदले में पाँच सौ मन गेहूँ मिलता है, तो इतने भारी वजन के पदार्थों को लाने-लेजाने में कितनी कठिनाई पड़ेगी! फिर अन्न ऐसा पदार्थ है, जो बहुत समय तक अच्छी दशा में नहीं रहता; उसके खराब हो जाने अथवा चूहे या कीड़ों के द्वारा खाए जाने की आशंका रहती है। ज्यों-ज्यों मनुष्यों में सभ्यता बढ़ती गई, यह विचार पैदा होता गया कि विनिमय का कोई इससे अच्छा माध्यम निश्चित किया जाय।

**माध्यम के जरूरी गुण**—माध्यम का कार्य वही चीज भली-भाँति

कर सकती है, जिसमें ये गुण हों—(१) उपयोगिता, (२) चलन अर्थात् लेजाने का सुभीता, (३) अक्षयशीलता, अर्थात् जल्दी खराब या नाश न होना, (४) विभाजकता या टुकड़े हो सकना; (पशु आदि के भाग नहीं हो सकते) (५) मूल्य में स्थायित्व होना, अर्थात् शीघ्र परिवर्तन न होना। (६) पहचान (इसमें उस चीज को चिह्न या अक्षर धारण करने की, शक्ति भी सम्मिलित है)।

**सिक्का**—यथेष्ट अनुभव और प्रयोगों के पश्चात् लोगों को धातुओं से माध्यम का काम लेने की सूझी। यदि किसी को रुई के बदले में अन्न लेना हो, तो वह पहले रुई के बदले में धातु लेले, और फिर उस धातु के बदले में अन्न। इसमें विनिमय दो बार करना पड़ता है; तो भी, यह रीति सरल है। अतः माध्यम के लिए धीरे-धीरे धातुओं का, और उनमें भी खासकर सोने-चाँदी का चलन बढ़ गया। क्रमशः धातुओं के सिक्के बनने लगे। सिक्के या मुद्रा में कई गुण होते हैं; यह विनिमय का माध्यम, और भिन्न-भिन्न वस्तुओं के मूल्य का मापक है। इसके अतिरिक्त इसका संग्रह अन्य वस्तुओं की अपेक्षा सुविधा-जनक है। याद रहे कि मुद्रा अन्य वस्तुओं की तरह एक वस्तु है, और उसके अधिक या कम होने पर उसका मूल्य भी घट-बढ़ सकता है।

सब से अच्छा सिक्का वह है, (१) जिसकी नकल न की जा सके, (२) जिससे यदि कुछ धातु, निकाल ली जाय, तो फौरन पता लग जाय, और (३) जिससे धातु, रगड़ के कारण घिस जाने पर कम न हो जाय, और (४) जो अपने समय की कला का एक खास नमूना हो।

[म० गांधी का कथन है कि धातु के सिक्के या कागज के नोट मूल्य का सच्चा माप नहीं हैं, क्योंकि उनकी कीमत कृत्रिम है। फिर भी बड़े पैमाने पर व्यापार करने के लिए यह माप आवश्यक है। ग्रामोद्योग के पीछे उलटी कल्पना है। हम बड़े पैमाने पर व्यापार नहीं चाहते;

हम देहात की स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन चाहते हैं। देहातों में पारस्परिक व्यवहार के लिए कोई ऐसी देहाती चीज होनी चाहिए, जिसे हर कोई बना सकता है, जिसका आसानी से संग्रह हो सकता है, और जिसका दाम हर रोज बदलता नहीं है। ऐसी वस्तु सूत है। अगर सूत-माप हम देहातों में दाखिल कर सकें तो देहातों की बहुत उन्नति कर सकेंगे और शीघ्रता से स्वावलम्बी बन सकेंगे।]

**माध्यम का चलन या करेंसी**—भिन्न-भिन्न देशों में, समय-समय पर, तरह-तरह के सिक्के रह चुके हैं। सिक्कों के चलन के सम्बन्ध में मनुष्य-समाज को विविध प्रकार का अनुभव धीरे-धीरे और इस प्रकार हुआ—

(क) जब विनिमय का माध्यम धातु मानी जाने लगी, और यह निश्चित हुआ कि इतनी अमुक वस्तु के लिए अमुक धातु इतनी मात्रा में दी जाय, तो मनुष्य भिन्न-भिन्न वस्तुओं के बदले में यथेष्ट धातु तोलकर देने लगे, और इस प्रकार चलन ('करेंसी') का प्रारम्भिक रूप स्थिर हुआ। यह है माध्यम का चलन, तौल द्वारा।

(ख) धीरे-धीरे धातु के तुले-तुलाए टुकड़े गिनकर चलाए जाने लगे। यह है माध्यम का चलन, गिनती द्वारा।

(ग) धातु की शुद्धता तथा तौल में शंका न हो, इसलिए इन टुकड़ों पर किसी प्रसिद्ध संस्था या सरकार का निशान बनाया जाने लगा, और मुद्रा या सिक्का प्रारम्भ हुआ। यह है माध्यम का चलन, सिक्के द्वारा।

(घ) बहुमूल्य और अल्प-मूल्य पदार्थों के लिए जुदा-जुदा धातुओं के कई सिक्कों का चलन आवश्यक हो गया, और उनकी पारस्परिक परिवर्तन की दर निश्चित कर दी गई। यह है माध्यम का चलन, दो या अधिक धातुओं के सिक्कों द्वारा।

(च) पीछे एक या अधिक सिक्के अपरिमित संख्या तक, और शेष सिक्के परिमित संख्या तक, कानून-ग्राह्य ठहराए गए। यह है

माध्यम का सम्मिलित चलन सिक्कों द्वारा। भारत में पौंड और रुपये तो अपरिमित कानून-ग्राह्य हैं, परन्तु अन्य सिक्के परिमित। इस प्रकार अगर हमें किसी के सौ रुपए देने हैं, तो हम यह रकम पौंड या रुपए में ही चुका सकते हैं, हम किसी को इतनी रकम की इकन्नी या पैसे आदि लेने के लिए मजबूर नहीं कर सकते।

**प्रामाणिक और सांकेतिक सिक्का**—सिक्के, उनमें लगी हुई धातु के मूल्य के विचार से दो प्रकार के होते हैं—प्रामाणिक और सांकेतिक। प्रामाणिक ('स्टैंडर्ड') सिक्का उस सिक्के को कहते हैं, जिसकी बाजारू कीमत उस सिक्के में लगी हुई धातु की कीमत के लगभग हो। जिस देश में इस सिक्के का चलन होता है, उसके आदमी अपनी आवश्यकता के समय धातु या ढलाई-खर्च आदि की साधारण फीस या शुल्क देकर नए सिक्के ढलवा सकते हैं, अथवा मोल ले सकते हैं। भारतवर्ष में सन् १९३८ ई० तक ऐसी ही व्यवस्था थी। ऐसे सिक्कों को गलाने में विशेष हानि नहीं होती।

'सांकेतिक' सिक्का उस सिक्के को कहते हैं जिसकी बाजारू कीमत सिक्के में लगी हुई कीमत से बहुत अधिक होती है। उदाहरण के लिए भारतवर्ष में रुपया सांकेतिक मुद्रा है; इसमें जितनी चाँदी होती है, उसकी कीमत बाजार में पहले प्रायः सात आने से नौ आने तक रही है, और इस समय तो चार-पाँच आने ही है, यद्यपि चाँदी का भाव पहले से तेज है। सरकार ने रुपए की कीमत सोलह आने ठहरा रखी है। इन सिक्कों के प्रचलित मूल्य का आधार सरकारी कानून तथा सरकार की साख है। विदेशों में ऐसे सिक्कों का मूल्य बहुत कम—उनमें लगी हुई धातु की कीमत के लगभग—होता है। जब सरकार की साख जाती रहती है, अथवा सरकार बदल जाती है, तो स्वदेश में भी इन सिक्कों की कीमत बहुत गिर जाती है।

सांकेतिक रुपयों के चलन से, जनसाधारण की प्रवृत्ति, चाँदी के सस्ते होने की हालत में, नकली रुपए बनाने की ओर होती है; और

चाँदी के मँहगे होने की हालत में, रुपए गलाने की ओर होती है। इस प्रकार सांकेतिक मुद्रा-प्रणाली से दोनों हालतों में असुविधा होती है। इस असुविधा को दूर करने का यही उपाय है कि लोगों के लिए टकसाल खुली रहे जिसमें वे अपनी-अपनी धातु के सिक्के ढलवा सकें।

भारतवर्ष में मुख्य सिक्का रुपया है। पैसा, अधन्ना, इकन्नी, दुअन्नी और अठन्नी सहायक सिक्के हैं। ये सिक्के मनमानी संख्या में नहीं चल सकते, क्योंकि ये परिमित संख्या से अधिक कानून-ग्राह्य नहीं हैं। इन सिक्कों को भारी ऋण में लेने के लिए कोई बाध्य नहीं किया जा सकता।

सिक्के ढालने का अधिकार (१) जन-साधारण को, (२) सरकार को, अथवा (३) सरकार द्वारा नियुक्त की गई किसी बैंक आदि संस्था को हो सकता है। सिक्कों के चलन के खर्च में निम्नलिखित व्यय सम्मिलित है—(क) जो पूँजी सिक्कों में लग जाती है, उस पर व्याज; (ख) सिक्कों के घिसने का नुकसान; और (ग) टकसाल का खर्च।

कुछ देशों में सरकार जनता से बिना कुछ शुल्क लिए ही उसके वास्ते सिक्के ढाल देती है। यह मुद्रा-ढलाई स्वतन्त्र और निश्शुल्क कहलाती है। कुछ देशों में सरकार मुद्रा-ढलाई, नामक शुल्क लेती है। वह शुल्क इतना ही होता है, जितना सरकार को खर्च पड़ता है, उससे अधिक नहीं। यदि सरकार सिक्का ढलवाने वालों से इससे अधिक शुल्क लेती है तो यह 'मुद्रा-ढलाई-लाभ'-कहा जाता है। यह प्रायः इसलिए ली जाती है कि जनता को टकसाल से धातु लाकर सिक्के ढलवाने का उत्साह न हो। सरकार को सांकेतिक मुद्रा को चलाने में बहुत लाभ होता है। कभी-कभी इस लाभ का लालच यहाँ तक बढ़ जाता है कि उन सिक्कों की संख्या आवश्यकता से अधिक बढ़ा दी जाती है। इससे देश को बहुत हानि पहुँचती है। इस प्रश्न पर आगे विचार किया जायगा।

**भारतवर्ष में प्रामाणिक सिक्के**—सिक्कों के सम्बन्ध में साधारण सिद्धान्त की बात बतलाकर हम अब भारतवर्ष के सिक्कों का वर्णन

करते हैं। पहले उनका संक्षिप्त इतिहास जान लेना आवश्यक है। भारतवर्ष में सिक्के का चलन बहुत प्राचीन समय से रहा है। ऋग्वेद में 'निष्क' नामक सोने के सिक्के का उल्लेख मिलता है। रामायण तथा महाभारत काल में उसके साथ 'सुवर्ण' नाम के एक अन्य सोने के सिक्के का प्रमाण मिलता है। उस समय यहाँ सोने की बहुतायत थी, और चाँदी हीन दृष्टि से देखी जाती थी। ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व यहाँ चाँदी के भी सिक्के बनने लगे। पाणिनी ने चाँदी के सिक्के 'रौप्य' का उल्लेख किया है। सम्भव है, इसी 'रौप्य' का अपभ्रंश आधुनिक रुपया हो। कौटिल्य के समय में सोने, चांदी तथा ताम्बे के सिक्के प्रचलित थे, यह हमने विस्तारपूर्वक अपनी 'कौटिल्य के आर्थिक विचार' पुस्तक में बताया है।

अस्तु, मुसलमानों के आने से पहले तथा कुछ समय पीछे तक भारतवर्ष में मुख्य रूप से मोहर आदि सोने के सिक्कों का प्रचार रहा। चाँदी, ताम्बे और लोहे के सिक्के भी बनते थे; परन्तु उनका प्रचार कम था। बहुत कम कीमत की चीजों के लेन-देन में कौड़ियों का व्यवहार होता था। दिल्ली के सुलतान अल्तमश ने, सन् १२३३ ई० में, १६५ ग्रेन तोल का टंक नामक सिक्का जारी किया। सन् १५४२ ई० में बादशाह शेरशाह ने 'टंक' के बदले लगभग १८० ग्रेन तौल का 'रुपया' नाम का सिक्का प्रचलित किया। उत्तरी भारत में चाँदी का सिक्का क्रमशः प्रामाणिक सिक्का हो गया।

सन् १७६६ में ईस्ट-इण्डिया कम्पनी ने दो धातुओं के सिक्कों का चलन स्थापित करने की—अर्थात् सोने और चाँदी के सिक्कों के मूल्य में कानूनी अनुपात निश्चय करने की—कोशिश की। उसकी सोने की मोहरों की कीमत पहले १६ 'सिक्के रुपए' लगाई गई; सन् १७६९ में नई मोहरें १६ सिक्के रुपये की ठहराई गई। अठारहवीं सदी के अन्त में यहाँ अनेक प्रकार के सिक्के काम में आते थे। इससे व्यापार आदि में बड़ी असुविधा होती थी। इसे हटाने के लिए कम्पनी ने अपने

अधिकार-क्षेत्र में उस 'सिक्के रुपए' को प्रामाणिक सिक्का स्वीकार किया, जिसे वह कलकत्ते में ढालती थी। सन् १८३५ में चाँदी के रुपए को भारत-भर का एकमात्र कानून-ग्राह्य सिक्का कर दिया गया। सन् १८५३ ई० में लार्ड डलहौजी ने यह आज्ञा निकाली कि सरकारी खजाने से मोहरें न भुनने पावें। इससे भारतवर्ष से सोने के सिक्के का प्रचार उठ गया।

**भारतवर्ष में सांकेतिक मुद्रा**—मुद्रा के प्रश्न पर विचार करने के लिए, यहाँ सन् १८६२ में, लार्ड हरसेल की अध्यक्षता में, एक कमेटी नियुक्त की गई। इसकी सिफारिश से सन् १८६३ ई० में, करेंसी-कानून पास हुआ। इससे (१) जन-साधारण को यह अधिकार न रहा कि वह अपनी चाँदी टकसाल में ले जाकर उसके रुपए ढला सके; सिर्फ सरकार को ही रुपए ढालने का अधिकार रहा। (२) सावरेन का मूल्य १५) रखा गया।

टकसाल बन्द कर देने तथा उपर्युक्त व्यवस्था करने से सांकेतिक मुद्रा-प्रणाली प्रचलित हो गई। सरकार को रुपए के विदेश-सम्बन्धी विनिमय में तो सुभीता हो गया, परन्तु देश को बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़ा। लेखनी की एक चोट से देश भर की समस्त चाँदी की कीमत में लगभग ३५ फी-सदी की कमी हो गई। पहले, टकसाल में सौ तोले चाँदी देने से लगभग १०६ रुपए बन सकते थे, किन्तु अब उसकी कीमत केवल ७० रु० के लगभग रह गई। सन् १८७७ ई० के दुष्काल में करोड़ों रुपए के आभूषण टकसाल में रुपए ढालने के लिए भेजे गए थे। परन्तु अब इस नई व्यवस्था के कारण गहनों के बदले बराबर की तौल के रुपए नहीं मिल सकते थे, और कम रुपए मिलने से बाजार में माल भी कम मिलता था। अतएव इस व्यवस्था ने सन् १८९७-९८ ई० के भयंकर अकाल में मरते हुओं को और मारा; और देश के शिल्प, व्यवसाय और वाणिज्य को भी भारी धक्का पहुँचाया।

**भारतवर्ष के वर्त्तमान सिक्के**—किसी-किसी देशी राज्य को अपने अलग सिक्के ढालने का अधिकार है; उन सिक्कों का व्यवहार उस राज्य में ही परिमित रहता है, जो उन्हें जारी करता है। सब देशी राज्यों को अपने यहाँ भारतीय रुपए को वही स्थान देना होता है, जो इसे भारतीय संघ में प्राप्त है। यहाँ रुपया चाँदी का है, इसका वजन १८० ग्रेन है। यहाँ चाँदी के अन्य सिक्कों अर्थात् अठन्नी, चवन्नी और दुअन्नी का वजन उत्तरोत्तर आधा है—क्रमशः ९०, ४५ और साढ़े बाईस ग्रेन। सन् १९३९ तक ढले हुए रुपयों तथा उपर्युक्त अन्य सिक्कों में, वजन के हिसाब से १२ में से ११ हिस्से चाँदी होती थी, और १ हिस्सा मिलावट। तांबे के सिक्के बङ्गाल अहाते में सन् १८३५ के कानून से, और बम्बई तथा मदरास अहातों में १८४४ के कानून से जारी किए गए थे। ये सिक्के अधन्ना, पैसा, धेला ( आधा पैसा), पाई (एक-तिहाई पैसा) हैं। सन् १९०६ के कानून से निकल की इकन्नी जारी करने की व्यवस्था हुई।

ऊपर बताया जा चुका है कि भारतवर्ष में जो रुपया प्रचलित है, उसमें लगी हुई धातु का मूल्य रुपए के सांकेतिक मूल्य से बहुत कम है। सरकार को उसे ढालने में बहुत लाभ रहता है। इस लाभ की रकम पहले एक कोष में जमा रहती थी उसे मुद्रा-ढलाई-लाभ-कोष (गोल्ड स्टेंडर्ड रिजर्व) कहते हैं। अब लाभ की रकम सरकारी आमदनी में जमा करली जाती है।

**युद्ध का प्रभाव**—पहले योरपीय महायुद्ध (सन् १९१४-१८) के समय, रुपए से कम कीमत वाले चाँदी के सिक्कों को घटिया धातु में रखने और इस प्रकार चाँदी को बचाने का निश्चय किया गया। इसके फल-स्वरूप निकल की दुअन्नी सन् १९१७-१८ में, और निकल की चवन्नी तथा अठन्नी १९१९ में जारी की गई। इनमें से निकल की अठन्नी का चलन पीछे बन्द कर दिया गया।

दूसरे महायुद्ध के समय, सिक्कों में लगी हुई चाँदी आदि की ओर

अधिक बचत करने का विचार हुआ। सन् १६३६ के बाद दुअन्नी तो चाँदी की ढाली ही नहीं गई। सन् १६४० से चवन्नी, अठन्नी और रुपए में आधी चाँदी और आधी मिलावट रखने का नियम किया गया। इस प्रकार, जहाँ पहले इनके १२ हिस्से वज़न में चाँदी ११ हिस्से रहती थी, अब वह केवल ६ हिस्से ही रखी जाने लगी। कुछ समय बाद अधिक चाँदी वाले पहले सिक्के कानून-ग्राह्य न रहे। सन् १६४२ ई० से निकल की इकन्नी और दुअन्नी में मिलावट बढ़ाई गई; और, नई अधन्नी जारी की गई जिसमें निकल के साथ काफी मिलावट है। सन् १६४३ में नए ढंग का पैसा चलाया गया, जो पहले के पैसे से आकार में छोटा, और वजन में ७५ ग्रेन की जगह ३५ ग्रेन है, और जिसके बीच में गोल सुराख है। इन परिवर्तनों के साथ धेले और पाई का ढालना बन्द कर दिया गया।

**भारतवर्ष के लिये सोने का सिक्का**—सन् १८६८ ई० में भारतवर्ष की मुद्रा-व्यवस्था पर विचार करने के लिये सर हेनरी फाउलर की अध्यक्षता में एक कमेटी बैठी। उसके प्रस्ताव के अनुसार सन् १८६६ ई० में सावरेन भारत का प्रचलित सिक्का बना दिया गया। उसी वर्ष भारत के अर्थ-मंत्री ने यह घोषित किया था कि कुछ ही सप्ताहों में, बम्बई में सोने की टकसाल खोल दी जायगी; परन्तु विलायत के कोषाधिकारियों के विरोध के कारण यह प्रस्ताव सन् १६०३ ई० में बिलकुल रद्द कर दिया गया।

सन् १६१० में सर जेम्स मेस्टन ने साफ़-साफ़ शब्दों में स्वीकार किया कि वर्त्तमान मुद्रा-प्रणाली के दोष सोने की मुद्राएँ चलाने पर ही दूर हो सकते हैं। सन् १६१२ ई० में सर विट्ठलदास थेकरसी ने भारतीय व्यवस्थापक सभा में प्रस्ताव किया कि बिना टकसाली खर्च लिए जनसाधारण के सोने के सिक्के ढाले जायँ। सब भारतीय सदस्यों ने इसका समर्थन किया। यद्यपि यह पास न हुआ, तो भी भारत-सरकार ने भारत-मंत्री से, भारत में सावरेन ढालने की एक टकसाल खोलने का

अनुरोध किया। किन्तु भारत-मंत्री ने दस रुपए का सोने का नया सिक्का चलाने का प्रस्ताव किया, इसे भारत-सरकार ने स्वीकार कर लिया। १९१३ ई० में भारत-सरकार के, मांटेग्यू-कम्पनी द्वारा, गुप्त रूप से चाँदी खरीदने पर पार्लिमेंट में एक जोशीली बहस हुई। परिणाम-स्वरूप चेंबरलेन-कमीशन की नियुक्ति हुई। इसने फाउलर-कमेटी के कुछ प्रस्तावों को रद्द कर दिया, और वर्त्तमान व्यवस्था को स्थिर रखने का अनुरोध किया। युद्ध-काल में मुद्रा-सम्बन्धी आवश्यकताओं से विवश होकर सरकार ने स्वयं उपर्युक्त सब आपत्तियों की अवहेलना की, और अगस्त सन् १९१८ ई० में, बम्बई में सोने की टकसाल खोल दी, जो लन्दन की टकसाल की शाखा समझी गई। पर अप्रेल सन् १९१९ ई० में वह बंद कर दी गई।

भारतवर्ष में इस टकसाल के फिर खोलने तथा जारी रखने की अत्यन्त आवश्यकता है। लोगों को अपने सोने के सिक्के ढलवाने का अधिकार होना चाहिए। इससे एक लाभ तो यह होगा कि भारतवर्ष को अन्य देशों के व्यापार की बाकी चुकाने की सुविधा होगी; यहाँ विनिमय की दर स्थिर होगी, जिसके सम्बन्ध में विशेष, आगे लिखा जायगा। दूसरे, इस टकसाल के खुलने और सोने के सिक्के जारी हो जाने पर लोगों की, अपना सोना गाड़ कर रखने की, प्रवृत्ति कम हो जायगी और उनके द्रव्य का, धनोत्पादन-कार्य में, अधिक उपयोग होगा।

**दशमिक पद्धति का विचार**—कुछ समय हुआ भारत-सरकार ने सिक्कों की वर्तमान पद्धति को बदलने और देश में दशमिक या दशमलव पद्धति जारी करने का विचार जाहिर किया था, जिसके अनुसार रुपया सोलह आने के बजाय सौ सेंट का हो। सेंट शब्द अंगरेजी भाषा का है, और इस नाम के सिक्के का चलन अमरीका में है। भारतीय सिक्के का नाम, स्वरूप और उसपर जिस लिपि में लिखा जाय, सब ऐसी होनी चाहिएँ; जिसे अधिकांश भारतीय जनता समझे और पसन्द करे।

वर्तमान दशा में रुपए का आधा अठन्नी, अठन्नी का आधा चवन्नी, चवन्नी का आधा दुअन्नी, दुअन्नी का आधा इकन्नी, इकन्नी का आधा अधन्नी, अधन्नी का आधा पैसा होता है। व्यवहार में चीजों का आधा हिस्सा करने की ही जरूरत बहुत रहती है। इसलिए गज में सोलह गिरह, और सेर में सोलह छटाँक रखी गई हैं। फिर, एक पैसे की तीन पाई होने से, वर्तमान पद्धति में रुपए की तिहाई चीज का भी हिसाब आसानी से लग सकता है। सौ सेंट का रुपया होने पर यह सुविधा न रहेगी, उसमें आधे, चौथाई और पाँचवें हिस्से का ही हिसाब आसानी से लगेगा, इसमें से भी पाँचवें हिस्से की प्रायः आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार नए सिक्के से कठिनाई बढ़ेगी ही, इसलिए उसकी कोई उपयोगिता नहीं मालूम होती।

**स्वतंत्र-भारत का सिक्का**—पहले कहा गया है कि सिक्का विनिमय का माध्यम है। परन्तु इसके अतिरिक्त वह अपने समय में अपने देश की सभ्यता, संस्कृति, कला और भाषा आदि का भी प्रतिनिधित्व करता है। ऐतिहासिक अन्वेषणों में सिक्के को महत्वपूर्ण साक्षी माना जाता है। भारतवर्ष का वर्तमान मुख्य सिक्का (रुपया) हमारी पराधीनता का ही सूचक है। अब देश स्वतंत्र हो गया है, और नया सिक्का ढाला ही जायगा। वह सिक्का हमारी सभ्यता और गौरव का सूचक होना चाहिए। उस पर देवनागरी में 'एक रुपया', 'भारतवर्ष' तथा विक्रमीय संवत तो अंकित हो ही, इसके अलावा उसपर म० गांधी का या गाय आदि का लोकप्रिय चित्र भी होना चाहिए, जिससे सिक्का हमारी अधिक-से-अधिक जनता की भावना और आदर्श का प्रतीक हो; इसके अतिरिक्त समय-समय पर भारतवर्ष के राष्ट्र-पति के बदलने के साथ उसमें परिवर्तन भी न करना पड़े।

———

## सतरहवाँ अध्याय

# कागजी मुद्रा; नोट आदि

---

बड़े व्यापार में सोने चाँदी के भारी सिक्कों को एक जगह से दूसरी जगह लाने-लेजाने में बड़ी असुविधा होती है। इस असुविधा को दूर करने के लिए धातु का आधार छोड़कर लोग कागजी रुपयों से ही अपना काम निकाल लेना चाहते हैं। नोट या कागजी मुद्रा वास्तविक सिक्के नहीं, ये केवल एवजी सिक्के ही हैं, जो चलानेवाले के विश्वास या साख पर चलते हैं। ये अपने ही देश (या प्रान्त) में भुनाए जा सकते हैं; विदेशों में इनका कोई मूल्य नहीं होता। आवश्यकता से अधिक होने पर तो ये स्वदेश के लिए भी बहुत हानिकर होते हैं।

**भारतवर्ष में नोटों का प्रचार**—यहाँ के व्यापारियों में हुँडी-पुर्जे का प्रचार चिरकाल से रहा है। परन्तु वर्त्तमान नोटों का चलन अंगरेज़ी शासन में ही हुआ। नोटों का प्रचार यहाँ पहले-पहल सन् १८३६ ई० में हुआ, जबकि बंगाल-बैंक को नोट निकालने की अनुमति मिली। सन् १८४० ई० में बम्बई के, और सन् १८४३ ई० में मदरास के प्रेसिडेंसी-बैंक को नोट निकालने का अधिकार मिल गया। इन नोटों का प्रचार पहले अधिकतर उक्त नगरों में ही हुआ। मदरास-बैंक को एक करोड़ और अन्य दोनों बैंकों को दो-दो करोड़ तक के नोट निकालने का अधिकार दिया गया था।

सन् १८६१ ई० से इन बैंकों का यह अधिकार छिन गया, और भारत-सरकार ने नोट निकालने का काम अपने हाथ में लेकर इसके लिए एक पृथक् विभाग खोला, और नोट जारी करने के ६ केन्द्र स्थापित किए। इन केन्द्रों से ५), १०), ५०), १००), ५००),

१०००) और १०,०००) के नोट जारी किए गए। उस समय, जो नोट जिस केन्द्र से जारी किए हुए होते थे, वे केवल उसी केन्द्र से अधिकार-पूर्वक भुनाए जा सकते थे।

सन् १९०३ ई० तक नोटों का प्रचार बहुत शीघ्रता से नहीं बढ़ा। इस वर्ष से ५) रुपए के, सभी केन्द्रों से निकले नोट सभी सरकारी खज़ानों में भुनाए जाने लगे; अर्थात् उस समय से ५) के नोट सार्व-देशिक हो गए। सन् १९११ ई० में १००) के नोट का प्रचार भी सार्वदेशिक हो गया। सन् १९१३ ई० के कमीशन ने यह सम्मति दी कि सब नोट भुनाए जाने के लिए अधिक सुविधा कर दी जाय। ऐसा हो जाने पर लोग नोटों को अधिकाधिक पसन्द करने लगे, और उनका प्रचार बढ़ता गया। सन् १९१७ ई० में १) और २॥) के नोट भी चला दिए गए। इनके चलाने का विशेष कारण यह था कि युद्ध-काल में, देश में रुपयों की माँग बहुत बढ़ गई थी, किन्तु चाँदी मँहगी हो जाने से, रुपए अधिक परिमाण में नहीं ढाले जा सकते थे। अतः भारत-सरकार ने युद्ध के अन्त तक, युद्ध से पहले की अपेक्षा, दुगने से भी अधिक मूल्य के नोट प्रचलित किए। पीछे १) और २॥) के नोटों का चलन बन्द कर दिया गया। सन् १९३५ में १) के नोट पुनः प्रकाशित किए गए; ये १९३९ से जारी किए गए।

**कागजी-मुद्रा-कानून**—सन् १८६१ ई० में यहाँ नोट निकालने की नीति में सुधार करने के लिए कानून बनाया गया था। उस वर्ष से भारत-सरकार उस कानून के अनुसार नोट निकालने लगी। उस कानून का मुख्य सिद्धान्त यह है कि जितने रुपयों के नोट निकाले जायँ, उतने ही रुपए का एक कोष अलग रखा जाय। इस कोष को कागजी-मुद्रा-कोष ('पेपर-करेंसी-रिज़र्व') कहते हैं। इसका कुछ भाग सोने-चाँदी तथा इन्हीं धातुओं के सिक्कों में, और शेष भाग सरकारी सिक्यूरिटियों (ऋण-पत्रों) में, रखा जाता है। सिक्यूरिटियों की मात्रा के सम्बन्ध में समय-समय पर कानून द्वारा परिवर्तन किया गया है। पहले यह

नियम बनाया गया कि ब्रिटिश संयुक्त-राज्य की सिक्यूरिटियाँ, जो दो करोड़ से अधिक न हो, इसमें सम्मिलित कर ली जायँ। सन् १९११ ई० में इन सिक्यूरिटियों की सीमा ४ करोड़ कर दी गई। युद्ध-काल में इस सीमा की बहुत ही अधिक वृद्धि हुई। सन् १९१८ ई० के एक्ट से ब्रिटिश ट्रेजरी-बिलों * की जमानत पर निकले हुए नोटों की सीमा ८६ करोड़ निश्चित कर दी गई। पीछे, सन् १९१९ ई० में यह सीमा १०० करोड़ तक पहुँच गई। युद्ध के बाद ये सिक्यूरिटियाँ धीरे-धीरे घटाई गई।

सन् १९३४ में, यहाँ रिजर्व बैङ्क स्थापित हुआ, उससे पूर्व नोट निकालने का अधिकार भारत-सरकार को था। बैङ्क की स्थापना के बाद से यह अधिकार एकमात्र इस बैंक को है। इस विषय के मुख्य नियम ये रखे गए—

१—नोट पाँच, दस, पचास, सौ, पाँच सौ, एक हजार, और दस हजार रुपए के निकाले जायँगे। † कौंसिल-युक्त गवर्नर-जनरल का आदेश होने पर अन्य रकमों के नोट जारी किए जा सकते हैं, और किसी नोट का चलन बन्द भी किया जा सकता है।

२—जितने रुपए के नोट निकाले जायँ, उतने रुपए का सोना, स्वर्ण-मुद्रा, ब्रिटिश सरकार की सिक्यूरिटियाँ, रुपया, या भारत-सरकार की सिक्यूरिटियाँ कागजी-मुद्रा-कोष में जमा रहनी चाहिएँ। यह कोष रिजर्व बैंक के अधीन रहता है।

३—नोट ब्रिटिश भारत के प्रत्येक स्थान में कानून-ग्राह्य होंगे। भारत-सरकार इन्हें भुनाने के लिए जिम्मेवार होगी।

---

* ३, ६ या १२ महीने के लिए ब्रिटिश सरकार द्वारा जो ऋण लिया जाता है, उसका ऋण-पत्र 'ट्रेजरी बिल' कहलाता है।

† एक रुपए का जो नोट इस समय प्रचलित है, यह रिजर्व बैंक का जारी किया हुआ नहीं है, इसे भारत-सरकार ने जारी कर रखा है। यह अपरिमित परिमाण में कानून-ग्राह्य है, परन्तु अविनिमयसाध्य ('इनकनवर्टिबल') है, अर्थात् सरकार इसे धातु-मुद्रा में बदलने या भुनाने का आश्वासन नहीं देती।

४—प्रत्येक नोट का चलन, उसके जारी किए जाने के समय से चालीस वर्ष तक रहेगा।

५—संपूर्ण कागजी-मुद्रा-कोष का ४० फी सैकड़ा भाग स्वर्ण-मुद्रा, सोने या ब्रिटिश-सरकार की सिक्यूरिटियों में होना चाहिए, जिसमें कम-से-कम ४० करोड़ रुपया स्वर्ण-मुद्रा या स्वर्ण में हो, और इसका ८५ फी-सैकड़ा भाग भारतवर्ष में रहे।

विशेष दशाओं में कौंसिल-युक्त गवर्नर-जनरल की स्वीकृति से कोष का यह अंश ४० फी सैकड़ा से कम भी रह सकता है। उस अवस्था में बैंक को निर्धारित सूद देना पड़ता है।

६—कोष का शेष भाग रुपए, भारत-सरकार की सिक्यूरिटियों और स्वीकृत हुँडियों में होना चाहिए, परन्तु भारत-सरकार की सिक्यूरिटियाँ संपूर्ण कोष के चौथाई हिस्से से, या पचास करोड़ रुपए से अधिक की न होनी चाहिए। गवर्नर-जनरल की पूर्व स्वीकृति से दस करोड़ रुपया, भारत-सरकार की सिक्यूरिटियों में और रखा जा सकता है।

७—बैंक पर भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्रा जारी करने का दायित्व है। इस प्रकार माँग होने पर नोटों के बदले रुपए का सिक्का, और सिक्के के बदले नोट जारी करना इसका कर्तव्य है। ज़रूरत होने पर इसे पाँच या अधिक रुपए के नोट के बदले कम मूल्य वाले या कानून-ग्राह्य सिक्के जारी करना चाहिए।

बैंक के माँगने पर उसे आवश्यक सिक्के कौंसिल-युक्त गवर्नर-जनरल द्वारा दिए जायँगे।

**नोटों की अधिकता से बट्टा और महँगी**—प्रत्येक देश को अपने व्यापार व्यवसाय या लेन-देन आदि के अनुसार किसी खास समय में मुद्रा की, एक निर्धारित परिमाण में आवश्यकता होती है। अगर मुद्रा उससे अधिक परिमाण में हो तो उसका मूल्य (चीजों में) गिर जाता है। यह बात विशेषतया कागजी मुद्रा के सम्बन्ध में

चरितार्थ होती है—सरकार को इसी मुद्रा के बढ़ाने की प्रवृति अधिक होती है।

उदाहरण के लिए पिछले योरपीय महायुद्ध (१६१४-१८) के समय यहाँ सरकार ने नोट अधिक परिमाण में जारी कर दिए। इससे बाजार में नोटों की उन पर लिखी, पूरी कीमत मिलनी कठिन क्या असम्भव हो गई थी। यद्यपि नोटों पर बट्टा लेना सरकारी क़ानून से जुर्म है, तथापि बाजार में वह बराबर लिया और दिया जाता था। इससे नोट वालों को बहुत हानि उठानी पड़ी, और सरकार की साख को भी कुछ समय तक भारी आघात पहुँचा; जहाँ-तहाँ लोगों में यह बात फैल गई कि सरकार के खजाने में सोना-चाँदी नहीं रहा, वह कागज के टुकड़ों से काम चलाती है।

**युद्ध-काल में अत्यधिक मुद्रा**—जब नोटों की वृद्धि, लेन-देन या बाजार की आवश्यकताओं की अपेक्षा बहुत अधिक हो जाती है तो उनका मूल्य गिर जाता है; चीजों का दाम बढ़ जाता है, वे महँगी हो जाती हैं। इसका ज्वलन्त उदाहरण दूसरे योरपीय महायुद्ध के समय सामने आया। खासकर सैनिकों को वेतन देने तथा युद्ध-सामग्री खरीदने आदि के लिए सरकार ने नोटों को कितना बढ़ाया, यह इससे जाहिर हो जाता है, कि जबकि सन् १६३६ के अन्त में ढाई सौ करोड़ रुपए से कम के नोट थे, जून १६४३ में ये ७४६ करोड़ के थे, और महायुद्ध की समाप्ति के समय सन् १६४५ के अन्त में तो बारह सौ करोड़ रुपए से भी अधिक के नोट होने का अनुमान था। (सितम्बर १६४८ में निकाले हुए नोट १२५२ करोड़ रु० के थे।)*

मुद्रा-प्रसार का एक नतीजा यह होता है कि लोगों में चीज़ें संग्रह करने या जोड़कर रखने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। जब व्यापारी यह देखते हैं कि चीज़ों के दाम स्थिर नहीं है और बेहिसाब बढ़ते जाते हैं तो वे प्रायः अपना माल बेचते नहीं, उसे रोके रखते हैं, उन्हें यह आशा

* इस हिसाब में एक-एक रुपए के नोट शामिल नहीं हैं।

रहती है कि पीछे हमें और ऊँचे दाम मिलेंगे, और अधिक मुनाफा होगा। इसके अलावा, कुछ आदमी अपनी ज़रूरत की चीज़ें पहले से ही इकट्ठी या बड़े परिमाण में खरीद लेते हैं। उन्हें आशंका रहती है कि शायद पीछे ये चीज़ें न मिलें, या अगर मिलें भी तो न-मालूम कितने अधिक दाम देने पड़ें। इन बातों का परिणाम यह होता है कि देश में पदार्थों की कृत्रिम कमी का वातावरण बन जाता है; अर्थात् कितनी ही चीज़ें बिक्री के लिए मौजूद होते हुए भी साधारण आदमियों को बाजार में मामूली दर से नहीं मिलतीं। जो आदमी बहुत ऊँचे दाम से खरीद सकते हैं, वे मजबूर होकर, उन्हें लुक-छिपकर, चोर बाजार में खरीदते हैं। सरकार इसे नियंत्रण करने में यथेष्ट सफल नहीं होती। बेचारे गरीब बुरी तरह मारे जाते हैं।

**इसके दुष्परिणामों से बचने के उपाय**—यहाँ युद्ध-काल में पदार्थों की जो मूल्य-वृद्धि हुई, उसका कारण कुछ अंश में यह भी था कि पदार्थों का उत्पादन जनता की आवश्यकताओं के अनुसार नहीं बढ़ाया जा सका; तथापि उसमें मुद्रा-प्रसार का बहुत भाग था। निदान, यहाँ बहुत सी चीज़ों के दाम तिगुने-चौगुने ही नहीं, इससे भी ज्यादा हो गए। जनता में अशान्ति और अस्थिरता का भाव बढ़ता गया। इस पर सरकार ने निम्नलिखित उपायों से काम लिया—(क) इनकम टैक्स, सुपर टैक्स, कारपोरेशन टैक्स आदि की वृद्धि। (ख) अतिरिक्त मुनाफा कर। युद्ध से पहले जितना मुनाफा होता था, उससे जितना अधिक मुनाफा हुआ, उसमें से सरकार ने पहले दो-तिहाई तक लिया, पीछे अपना हिस्सा बढ़ाकर अस्सी फी सदी से भी अधिक कर दिया। (ग) डाक, तार टेलीफोन आदि की दरों में वृद्धि। रेल-किराया बढ़ाने का भी प्रस्ताव, अर्थ-सदस्य ने बजट में रखा था, पर भारतीय व्यवस्थापक सभा के भारी विरोध के कारण वह प्रस्ताव वापिस ले लिया गया। (घ) बचत के लिए प्रचार करना। लोगों को युद्ध-ऋण देने के लिए प्रोत्साहित किया गया। कई जगह तो अधिकारियों ने अपने प्रभाव का

अनुचित और गैरकानूनी प्रयोग भी किया। (च) आयात को प्रोत्साहन। विदेशी वस्तुओं की आयात बढ़ने से यदि मुद्रा-संकोच में, अर्थात् मुद्रा का परिमाण कम होने में, कुछ सहायता मिली तो स्वदेशी कारोबार को हानि भी पहुँची।

**भारत-सरकार के नोट-आर्डिनेन्स**—जनवरी १९४६ में भारत-सरकार ने दो नोट-आर्डिनेन्स जारी किए। पहले आर्डिनेन्स से सरकार ने देश भर के सब बैंकों और खजानों से १०० रु० से ऊपर वाले नोटों का कुल हिसाब मांगा। दूसरे आर्डिनेन्स से पांच सौ, एक हजार, और दस हजार रु० के नोटों का चलन गैर-कानूनी ठहराया गया, और उन्हें खजानों और बैंकों में जमा करके १०० रु० के नोटों में बदलवाने का आदेश जारी किया गया, जिस में कहा गया कि दस दिन के भीतर इन नोटों के साथ यह सूचना देनी चाहिए कि नोट कहाँ से, कब, और किस तरह से मिले; यदि नोट किसी व्यापार से हुए लाभ के रूप में हैं, तो उसका व्योरा देना चाहिए। यदि पूछी हुई सब बातों का उत्तर संतोषप्रद होगा तो सरकार बड़े नोटों के बदले में छोटे नोट जो १००) रु० तक के होंगे, देदेगी; अन्यथा नहीं देगी। गलत हिसाब का व्योरा देने वाले को दंड दिया जायगा। सरकार ने घोषणा की कि इन आर्डिनेन्सों का उद्देश्य चोर बाजार द्वारा पैदा की हुई बड़ी-बड़ी रकमों को, जो इन बड़े नोटों के रूप में बड़े-बड़े आदमियों के पास हैं, सरकार और इनकमटैक्स विभाग के सामने पेश करने के लिए मजबूर करना है।

इन आर्डिनेन्सों से देश की आर्थिक अवस्था में बहुत खलबली मची। कई स्थानों पर लोगों ने एक हजार के नोट के बदले छः सौ से सात सौ रुपए तक ही लेकर संतोष किया। कितने ही आदमियों की यह धारणा हो गई कि सरकार दिवालिया हो गई है, इसलिए उसने ये आर्डिनेन्स जारी किए हैं। अस्तु, इन आर्डिनेन्सों से थोड़ी ही सफलता मिली।

**वर्तमान मुद्रा-प्रसार और सरकारी नीति**—महायुद्ध को बन्द हुए तीन साल हो गए तथापि मुद्रा-प्रसार से होनेवाली मंहगाई बनी हुई है। कहीं-कहीं तो चावल सो रुपए मन, और गेहूँ पैंतीस रुपए मन तक बिक रहा है। इससे परिस्थिति का अनुमान किया जा सकता है। बात यह है कि जब एक बार मुद्रा वृद्धि हो जाती है तो जल्दी ही उसका निवारण नहीं होता। अस्तु, स्वतंत्र भारत की सरकार को मुद्रा के नियंत्रण की आवश्यकता का अनुभव हुआ। उसने अर्थशास्त्रियों, उद्योगपतियों, मजदूर-प्रतिनिधियों आदि से इस विषय में राय मांगी। उनकी सिफारिशों से मालूम होता है कि यद्यपि कुछ बुनियादी बातों में सब सहमत हैं, तथापि उन्होंने जो उपाय सुझाए हैं, उनमें हर एक ने अपने फायदे का विशेष ध्यान रखा है। सब की दृष्टि में बड़े पैमाने का उत्पादन और उससे सम्बन्धित उद्योग प्रधान रहे हैं, खेती या ग्रामीण उद्योगों का तो जिक्र ही नहीं है।

आखिर, सरकार ने उपर्युक्त सिफारिशों का विचार करके अक्तूबर १६४८ में अपनी नीति की घोषणा की; उसकी मुख्य बातें संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

(१) अन्न, वस्त्र तथा अन्य चीजों पर नियन्त्रण किया जाय ताकि कीमतें कम हो सकें।

(२) कम्पनियों के मुनाफे की दर ६% से अधिक न हो।

(३) नई मिलों व उद्योगों को प्रोत्साहन। प्रारम्भ में ऐसे उद्योगों पर से आय-कर की छूट।

(४) टूट-फूट व घसारे की छूट में वृद्धि व विदेशी मशीनें आदि मँगाने पर कर की छूट।

(५) छोटी बचत को प्रोत्साहन।

(६) औद्योगिक झगड़ों को निपटाने के लिए सर्वत्र एक से कानूनों का निर्माण।

(७) केन्द्रीय व प्रान्तीय बजट का सन्तुलन।

(८) शराबबन्दी, व जमींदारी खत्म करने के कार्यक्रम में केन्द्र की ओर से प्रान्तों को सहायता नहीं दी जा सकेगी—यह घोषणा।

(९) प्रान्तीय आय बढ़ाने के लिए कृषि-आय पर कर लगाने व जायदाद-कर बिल को शीघ्र पास करने का विचार।

(१०) बैंकों द्वारा सट्टे के लिए रकम न दी जावें।

भारत सरकार ने एक समिति बनाई है, जो केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों की सब उन्नतिकारक योजनाओं पर विचार करके यह निश्चय करेगी कि पहले किस योजना को अमल में लाया जाय। जो योजनाएँ अधिक लाभदायक प्रतीत होंगी, उन्हें प्राथमिकता दी जायगी।

नवम्बर १९४८ में, मुद्रा-संकुचन की दिशा में कदम बढ़ाते हुए भारत-सरकार ने रेशम, रेशमीवस्त्र, शराब, तम्बाकू, सिगरेट, खिलौने, खेल के सामान, सोने-चाँदी के मुलम्मे के बर्तन आदि विलासिता या आमोद-प्रमोद की वस्तुओं पर आयात-कर बढ़ा दिया है, सूती वस्त्रों के निर्यात पर लगनेवाला कर, मूल्य के अनुसार २५ प्रतिशत से घटाकर १० प्रतिशत कर दिया है और रेड़ी तथा रेड़ी के तेल के निर्यात पर लगनेवाला कर रद्द कर दिया है।

**सरकारी नीति पर विचार**—सरकार जो फिर कंट्रोल जारी करने की नीति ग्रहण कर रही है, उसके विषय में पहले लिखा जा चुका है। पैदावार बढ़ाने के लिए सरकार ने उद्योगपतियों को आय-कर की छूट तथा अन्य प्रोत्साहन देने की घोषणा की है। आय-कर की छूट की अपेक्षा नए उद्योग को कच्चेमाल तथा यातायात आदि की सुविधाएँ देना अधिक लाभदायक है, और प्रोत्साहन केवल उद्योगपतियों को न मिलकर श्रमजीवियों को भी काफी मिले, ऐसी योजना होनी चाहिए। सरकारी नीति में बड़े-बड़े उद्योगों को ही ध्यान में रखा गया है। छोटे-छोटे कारखानों, ग्रामोद्योगों या गृहोद्योगों की उपेक्षा करना ठीक नहीं है। कपड़े आदि के लिए ग्रामोद्योगों की उन्नति और वृद्धि की कितनी

आवश्यकता है, यह पहले बताया जा चुका है। सरकार चाहती है कि सर्वसाधारण छोटी-छोटी बचत-योजनाओं को अपनायें, और नोटों को डाकखानों या बैंकों में जमा किया करें। यदि सरकार ब्याज की दर कुछ बढ़ा दे तो यह योजना अधिक आकर्षित हो सकती है। थोड़ा-थोड़ा करके भी काफी नोट बचत-योजनाओं में आ सकते हैं, और चीजों की कीमत घटने में मदद मिल सकती है।

केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के बजट संतुलित रखने की बात ठीक है; राजदूतों, गवर्नर-जनरल और राजप्रमुखों से लेकर नीचे तक के अधिकारियों के वेतन आदि की जांच होकर यथा-शक्ति किफायत से काम होना चाहिए, तथा अनावश्यक विभागों तथा कर्मचारियों पर होनेवाली फजूलखर्ची बन्द की जानी चाहिए। जमींदारी का अन्त करने और शराबबन्दी को अमल में लाने की सामाजिक उपयोगिता इतनी अधिक है कि इनमें बाधा उपस्थित करना ठीक नहीं है; इनके लिए आवश्यक हो तो मृत्यु-कर जैसे कुछ नए कर लगाने का विचार होना चाहिए। कृषि-आय-कर और जायदाद-कर तो लग ही जाने चाहिएँ। नए कर लोगों को अखरा करते हैं, पर राष्ट्रीय सरकार लोक-हित के लिए इन्हें बिना विशेष विरोध के लगा सकती है। फिर, जिन लोगों ने मुनाफेखोरी, रिश्वतखोरी या चोरबाजारी से खूब धन जमा किया है, उनके बारे में अच्छी तरह छानबीन करके ऐसे धन को, अधिक-से-अधिक परिमाण में, सरकारी खजाने में लाने का प्रयत्न किया जाना चहिए।

सरकार ने बैंकों को कहा है कि वे सट्टे के लिए लोगों को रुपया उधार न दिया करें। परन्तु बहुधा यह ठीक-ठीक मालूम नहीं होता कि कोई आदमी रुपया किस काम के लिए उधार ले रहा है। इसलिए सट्टे को कानून द्वारा बन्द कर दिया जाना चाहिए। रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया जाना चाहिए कि यदि किसी स्थान या क्षेत्र में साख द्वारा अनावश्यक क्रय-शक्ति उत्पन्न हो गई है तो वह उसपर

प्रतिबन्ध लगा सके। इस प्रकार के आयोजन से बम्बई, कलकत्ता जैसे स्थानों में सट्टे की प्रवृत्ति रोकी जानी चाहिए।

संक्षेप में वर्तमान आर्थिक संकट के तीन उपाय हैं—मुद्रा-संकुचन, राजस्व-नियन्त्रण और उत्पादन-वृद्धि। सरकार को कागजी मुद्रा का परिमाण निश्चित कर देना चाहिए; जितनी कागजी मुद्रा इस समय है, उससे ही काम चलाना चाहिए; रिजर्व बैङ्क को आदेश दिया जाना चाहिए कि इससे अधिक कागजी मुद्रा न निकाले। इसी प्रकार राजस्व-नियन्त्रण और उत्पादन-वृद्धि के विविध उपाय काम में लाए जाने की आवश्यकता है। स्मरण रहे कि मुद्रा-संकुचन का प्रायः कोई भी कार्य खतरे से खाली नहीं है। इसलिए इस विषय में बहुत सावधानी रखने की ज़रूरत होती है। अच्छा तो यह है कि मुद्रा प्रसार बहुत अधिक होने ही न पाए। जब एक बार अंधाधुन्ध कागजी मुद्रा छाप कर उसका प्रचार होने दिया जाता है तो पीछे उसका दुष्परिणाम रोकना बहुत कठिन है। तथापि सरकार और लोकसेवी कार्यकर्ताओं के सम्मिलित उद्योग से बहुत-कुछ सफलता मिल सकती है।

**कागजी-मुद्रा-कोष का रूप और स्थान**—इस अध्याय में इस कोष का जिक्र आया है। पहले इसे अधिकतर रुपयों में, और भारतवर्ष में ही रखा जाता था। सन् १८९८ ई० से कोष के रूप और स्थान के सम्बन्ध में परिवर्तन होने लगा। इसकी वर्तमान स्थिति जानने के लिए रिजर्व बैङ्क के नोट-विभाग का हिसाब देखना चाहिए। ३ सितम्बर १९४८ को यह हिसाब इस प्रकार था—

| | |
|---|---|
| बैंक विभाग में नोट | ३५,६०,१२,०००) |
| चलते नोट | १२,१७,२३,६१,०००) |
| निकाले हुए कुल नोट | १२,५२,८४,०३,०००) |

इस प्रकार इस बैंक का कुल देना १२,५२,८४,०३,०००) था। इसके बदले इसका पावना इस प्रकार था—

| | |
|---|---|
| (अ) सोना और सोने के सिक्के | |
| (१) भारत में | ४२,७१,६१,०००) |
| (२) भारत के बाहर | |
| पौंड स्टर्लिंग में | ७,६६,६४,२८,०००) |
| (आ) रुपए (सिक्के) नकद | ४५,१६,८५,०००) |
| भारत सरकार के रुपए की सिक्यूरिटियाँ (ऋण-पत्र) | ३,६८,३०,६६,०००) |
| योग | १२,५२,८४,०३,०००) |

[ जून १६४८ में पाकिस्तान का स्वतन्त्र स्टेट-बैंक बनने के समय रिजर्व बैंक की ओर से पाकिस्तान के लिए ३८,२७,००,००० रु० के नोट निकाले हुए थे। पाकिस्तान के नकद रुपए (सिक्के) उस समय ३,५१,००,००० थे।]

उपर्युक्त हिसाब से स्पष्ट है कि यद्यपि भारतवर्ष स्वतन्त्र हो गया है, इस समय भी हमारा लगभग आठ सौ करोड़ रुपया भारत से बाहर इंगलैंड में जमा है। इस प्रकार यह देश अपनी इतनी रकम के उपयोग से वंचित है। यह कोष नोटों के बदले में रखा जाता है। और नोट भारत में चलते हैं; अतएव यह कोष भी यहीं रखा जाना चाहिए, जिससे आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त काम आ सके। नोट भुनाने के अतिरिक्त, यदि उसे और भी किसी काम में लाना अभीष्ट हो तो इसका भी लाभ भारत को ही होना चाहिए। ब्रिटिश सरकार गरीब भारत के रुपए को कम या नाम-मात्र के सूद पर लेकर अनुचित लाभ उठाती है। इधर भारत के उद्योग-धन्धों के लिए पूँजी की अत्यन्त आवश्यकता है; वे इसकी कमी के कारण पनपने ही नहीं पाते। अस्तु, कागजी-मुद्रा-कोष की सब रकम भारत में ही रखी जानी चाहिए। एक बार पिछला हिसाब निपट जाने पर, भारत-सरकार ऐसी ही व्यवस्था करेगी; यह आशा है।

## अठारहवाँ अध्याय

# साख और बैंक

पिछले अध्याय में, कागजी मुद्रा के प्रसंग में कहा गया था कि नोट आदि वास्तविक सिक्के नहीं होते, वरन् अपने चलानेवालों की साख की बदौलत ही सिक्कों की जगह काम आते हैं। इस अध्याय में हम साख-पत्रों का कुछ विशेष विचार करेंगे, और पीछे बैंकों के विषय में लिखेंगे।

**साख का महत्व**—साख (विश्वास) का मतलब उधार लेने की योग्यता या सामर्थ्य से है। जिस आदमी की साख अच्छी है, अर्थात् रुपया वादे पर दे देने का, जिसका विश्वास किया जाता है, उसी को ऋण आसानी से और कम सूद पर मिल सकता है। इसके विपरीत, जिसकी साख नहीं है, या कम है, उसे ऋण नहीं मिलता, या बहुत ब्याज पर मिलता है; क्योंकि ऋण देनेवालों को, रुपया वापिस मिलने का भरोसा नहीं होता। कभी ऋण लेनेवाला अपने किसी मिलनेवाले विश्वासी आदमी की जमानत देता है, और कभी वह जमीन, मकान, जेवर आदि चीजें गिरवी रखता है।

कहावत प्रसिद्ध है कि 'जाय लाख, रहे साख।' व्यवसाय में साख निस्संदेह एक बड़ी पूँजी का काम देती है। व्यवसायी अपनी साख के बल पर बहुत-सा माल खरीदकर, उस पर उतना ही स्वत्व या अधिकार प्राप्त कर लेता है, जितना नकद रुपया देकर खरीदने से प्राप्त करता। साख के प्रभाव से सोने-चाँदी के सिक्कों की जरूरत कम हो जाती है; उनका बहुत सा काम नोट और हुँडी आदि से निकल जाता है।

देश में बहुत से आदमी ऐसे होते हैं, जिनके पास भिन्न-भिन्न परिमाण में थोड़ा-थोड़ा रुपया होता है। उससे वे कोई उद्योग-धंधा नहीं कर सकते। उनका यह रुपया बेकार रहता है। परन्तु जब वे किसी बैंक के संचालकों का विश्वास करके अपनी-अपनी रकम उस बैंक में जमा कर देते हैं तो उन्हें कुछ व्याज मिलने लग जाता है। उधर बैंक उस एकत्रित द्रव्य को किसी बड़े उत्पादक कार्य में लगादेता है, अथवा किसी उद्योग-धंधे के काम के लिए दूसरे साख वाले अर्थात् विश्वसनीय साहसियों को उधार दे देता है। इस प्रकार साख से बैंकों का काम चलता है, और देश के उत्पादन-कार्य में सहायता मिलती है।

आदमियों की तरह देशों की भी साख की बात है। जिस देश की साख अच्छी होती है, उसे आवश्यक पूँजी आसानी से और कम सूद पर मिल जाती है, और वह अपने यहाँ खेती तथा उद्योग-धंधों की उन्नति अच्छी तरह कर सकता है। इसके विपरीत, जिस देश की साख अच्छी नहीं होती, उसे यथेष्ट रुपया उधार मिलने तथा अपनी आर्थिक उन्नति करने की ऐसी सुविधा नहीं मिलती।

**साख-पत्र**—यदि दो आदमी आपस में क्रय-विक्रय का नकद व्यवहार करते हैं तो उन्हें एक-दूसरे की साख की आवश्यकता नहीं होती। राम ने गोविन्द से कोई चीज़ ली और उसके दाम चुका दिए तो उनका यह विनिमय-कार्य समाप्त हो जाता है। पर यदि राम उस चीज की कीमत उसी समय न देकर पीछे चुकाना चाहता है तो गोविन्द के लिए यह जानना आवश्यक है कि राम की साख कैसी है, क्या वह विश्वसनीय है। यदि गोविन्द की दृष्टि में राम विश्वसनीय है तो वह राम को चीज उधार देदेगा। ऐसी दशा में राम गोविन्द को, निर्धारित समय पर रुपया चुकाने के सम्बन्ध में, लिखित प्रतिज्ञा-पत्र देदेता है। ऐसे प्रतिज्ञा-पत्र साख-पत्र कहलाते हैं।

साख-पत्रों के मुख्य भेद ये हैं :—

१—प्रामिसरी नोट

२—हुंडी

३—चेक

४—(करेन्सी) नोट

**प्रामिसरी नोट**—प्रामिसरी नोट वह होता है, जिसे लिखकर कोई व्यक्ति दूसरे आदमी को निर्धारित समय पर कोई रकम देने का वायदा करता है। यदि रुपए का कुछ सूद देने की बात ठहरी होती है तो उसका इसमें उल्लेख कर दिया जाता है। इस पर एक आने का रसीदी टिकट लगाया जाता है; उस टिकट पर ही प्रामिसरी नोट लिखने-वाला हस्ताक्षर करता है।

**हुंडी**—हुंडी उस पत्र को कहते हैं, जिसका लिखनेवाला किसी आदमी को यह आदेश करता है कि वह किसी व्यक्ति को या उस व्यक्ति द्वारा निर्दिष्ट किसी अन्य व्यक्ति को, अथवा जिसके पास वह हुंडी हो, उसे निर्धारित रकम देदे। भारतवर्ष में आन्तरिक व्यवहार के लिए हुंडी का उपयोग चिरकाल से होता रहा है। यह प्रायः महाजनी या सर्राफी नामक एक विशेष लिपि में लिखी जाती है, जिसके भिन्न भिन्न प्रान्तों में कुछ अलग-अलग रूप हैं। हुंडी दो तरह की होती है—दर्शनी और मुद्दती। दर्शनी हुंडी का भुगतान उसी समय करना होता है; मुद्दती हुंडी का तुरन्त नहीं करना होता, निर्धारित समय बाद करना होता है।

**चेक**—यह किसी बैंक के नाम होता है, और इसका भुगतान उसी समय करना होता है, जब वह व्यक्ति जिसके नाम यह चेक होता है, इसका रुपया माँगता है। बैंकों का काम अभी अधिकतर अंगरेजी में होता है। चेक-बुक छपी हुई रहती है। जिसके नाम का चेक होता है, उसके हस्ताक्षर करने पर बैंक उसे रुपया देदेता है। यदि चेक में 'बेयरर' शब्द हो, अर्थात् उसके ऊपर 'आर्डर' न लिखा हो तो चेक

का रुपया, चेक को बैंक में लेजानेवाले को, देदिया जायगा। परन्तु यदि चेक पर 'आर्डर' शब्द ही हो, तो जिस व्यक्ति के नाम का चेक है, वह जिसे आदेश करे, उसे ही रुपया मिल सकता है। यदि चेक के बाएँ कोने पर दो तिरछी रेखाएँ खींच दी जायँ तो उसे 'क्रास-चेक' कहते हैं। इसका रुपया चेक वाले को नकद नहीं दिया जाता, बैंक उसके हिसाब में जमा कर देता है; और यदि उसका बैंक में हिसाब न हो तो वह उस चेक को किसी अन्य ऐसे व्यक्ति को बेच देता है, जिसका बैंक में हिसाब हो।

**(करेन्सी) नोट**—इन नोटों के विषय में पहले लिखा जा चुका है। ये सरकार की साख पर चलते हैं।

प्रामिसरी नोट, हुँडी और चेक आदि का जनता के कारोबार पर वैसा ही प्रभाव पड़ता है, जैसा नोटों का। यदि साख-पत्रों का व्यवहार न हो तो मानों इतने सिक्कों की कमी होजाय, उनका मूल्य बढ़ जाय, अर्थात् पदार्थों की कीमत बहुत कम हो जाय, लोगों के कारोबार में कमी होजाय, और इसे रोकने के लिए सोने-चाँदी के सिक्के अधिक बनाने पड़ें। इससे साख-पत्रों की उपयोगिता स्पष्ट है।

अब हमें बैङ्कों के सम्बन्ध में विचार करना है। पर उससे पहले महाजनी और सर्राफी के विषय में आवश्यक बातें जान लेनी चाहिएँ।

**महाजनी**—जिसे वास्तव में बैंक का कार्य (बैंकिङ्ग) कहा जाता है, वह आधुनिक काल की ही चीज़ है। पहले यहाँ विशेषतया महाजनी का चलन था। महाजनी को देशी ('इण्डीजीनस') बैंकिंग कहा जाता है। बैंकिंग और महाजनी में अन्तर केवल यही है कि बैंक औरों से सूद पर रुपया कर्ज लेकर भी सूद पर उठाता है; पर महाजन पहले कर्ज नहीं लेते थे, वे अपने ही अथवा दूसरों के (बिना व्याज के रखे हुए) रुपए को सूद पर उठाते थे। इस प्रकार महाजन सूद लेते थे, पर देते नहीं थे; अब तो सूद देने भी लगे हैं। यहाँ भिन्न-भिन्न जातियों के आदमी—विशेषतया मारवाड़ी, भाटिए,

पारसी या दक्षिण भारत के चेटी—लेन-देन करते हैं। महाजन लोग दूसरों का रुपया जमा करते हैं, हुंडी-पुर्जे का व्यवहार करते हैं, जेवर गिरवी रखकर रुपया उधार देते हैं, और सोना चाँदी, या इन धातुओं की चीजें खरीदते हैं। शहरों में बैंकों के कारण महाजनी का काम कम हो गया है, किन्तु छोटे कस्बों और देहातों में अब भी बहुत होता है। छोटे व्यापारियों या कृषकों की पहुँच बड़े-बड़े बैंकों तक नहीं होती, उन्हें महाजनों द्वारा देश के भीतरी कारोबार में अच्छी सहायता मिलती है।

महाजन की सूद की दर अधिक होती है और कुछ दशाओं में तो बहुत ही ऊँची होती है। उसकी सूदखोरी की ही नहीं, बेईमानी करने या हिसाब ठीक न रखने की शिकायत भी बहुधा प्रकाश में आती है। कई प्रान्तों में उस पर प्रतिबन्ध लगाए गए हैं। परन्तु इससे समस्या हल नहीं होती। जब तक किसान की आर्थिक उन्नति तथा साख की उचित व्यवस्था नहीं होती, वह महाजन के आसरे रहेगा ही।

महाजन लेन-देन के अलावा व्यापार का कार्य भी करता है। केन्द्रीय बैंकिङ्ग कमेटी ने सिफारिश की थी कि महाजन केवल बैंकिङ्ग का ही धन्धा करें, हिसाब ठीक-ठीक रखें, और रिजर्व बैङ्क उनके साथ ऐसा ही व्यवहार करे, जैसा अन्य मिश्रित पूँजी के बैङ्कों से करता है, अर्थात् उन्हें अपने विश्वास के बैङ्कों की सूची में सम्मिलित करे, और उनकी सही की हुई हुंडियों को भुनाए तथा अन्य सुविधाएँ दे। ये बातें कार्य में परिणत नहीं हुई। महाजन के सम्बन्ध में कुछ और चर्चा आगे सूद के अध्याय में की जायगी।

**सर्राफी**—भारतवर्ष के कस्बों में, लोगों के लेनदेन के व्यवहार में, सर्राफ बहुत सहायक होता है। इसे दक्षिण में 'चेटी' कहते हैं। कस्बों के आदमी प्रायः बैङ्कों के सम्पर्क में नहीं आते। सर्राफ उनके और बैङ्कों के बीच में मध्यस्थ होते हैं। उनका मुख्य कार्य यह होता है कि व्यापारियों से हुंडी खरीद लेते हैं और उनका रुपया जब स्वयं नहीं चुका सकते तो बैङ्कों से दिलवा देते हैं। इसमें सर्राफ ( जो-कुछ बैङ्कों

को देना होता है, उसके अतिरिक्त ) हुंडीवालों से डेढ़-दो फी सदी अपने लिए वसूल करते हैं। जब तक मिश्रित पूँजी के बैङ्कों का यथेष्ट विस्तार और प्रचार नहीं होता, सर्राफों के इस कार्य का महत्व स्पष्ट है।

सर्राफ इस कार्य के अतिरिक्त नोट, सोने-चाँदी के सिक्के, रेजगारी और जेवर तैयार रखते हैं। सर्राफ जेवर तथा सोनें-चाँदी के बर्तन लोगों की आवश्यकतानुसार तैयार भी करा देते हैं। इसमें ये कभी-कभी बेढब लाभ उठाते हैं। लोगों को समय-समय पर नोटों के बदले रुपयों की, रुपयों के बदले नोटों की, अथवा रेजगारी आदि की आवश्यकता होती है; सर्राफ उसकी पूर्ति करते हैं। सर्राफों को इसमें 'बट्टे' की आमदनी होती है।

बैंक—बैंकों का काम रुपया जमा करना, ब्याज पर उधार लेना और देना, तथा हुंडी-पुर्जे, चेक या नोट आदि खरीदना और बेचना है। जो लोग अपनी बचत का कोई अन्य उपयोग नहीं कर सकते, या नहीं करना चाहते, उनसे बैंक कुछ कम सूद पर रुपया उधार ले लेते हैं, और ऐसे आदमियों को कुछ अधिक सूद पर उधार दे देते हैं, जो उस धन से कोई लाभदायक व्यवसाय चलाना चाहते हों। बैङ्क में जितने अधिक समय के लिए रुपया जमा किया जाता है, सूद उतना ही अधिक मिलता है; क्योंकि बैङ्कवाले उस रुपए से उतना ही अधिक लाभ उठा सकते हैं। जमा करनेवाले सब लोग अपना रुपया प्रायः एक ही साथ वापिस नहीं लेते; कुछ आदमी वापिस लेते हैं तो दूसरे जमा भी करते हैं। बैङ्कवाले अपने अनुभव से यह जान लेते हैं कि उन्हें जमा करनेवालों का भुगतान करने के लिए कितना रुपया हरवक्त तैयार रखने का प्रबन्ध करना चाहिए। इतना रुपया अपने पास रखकर, शेष रुपया वे उत्पादक कार्यों में लगाते हैं।

बैङ्कों के भेद—भारतवर्ष में आधुनिक बैङ्कों के निम्नलिखित भेद हैं :—

१—सहकारी बैंक—(क) सहकारी साख-समितियाँ, (ख) सेंट्रल या जिला सहकारी बैंक, (ग) प्रांतीय सहकारी बैंक, और, (घ) भूमि-बंधक बैंक।

२—पोस्ट-आफिस सेविंग बैंक।

३—मिश्रित पूँजी के बैंक।

४—इंपीरियल बैंक।

५—रिजर्व बैंक।

६—एक्सचेंज बैंक।

**सहकारिता**—सहकारी बैंकों के विविध भेदों के विषय में ज्ञान प्राप्त करने से पहले सहकारिता की उपयोगिता जान लेनी चाहिए। भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुसार सहकारिता के कई भेद हो सकते हैं। अर्थशास्त्र में इसके मुख्य तीन भेद हैं—उत्पादकों की सहकारिता, उपभोक्ताओं की सहकारिता, और साख की सहकारिता। उत्पादकों की सहकारिता के विषय में कुछ बातें सातवें अध्याय में कही जा चुकी हैं। भारतवर्ष में साख की ही सहकारिता अधिक प्रचलित है, और इस अध्याय का विषय बैंक होने के कारण हमें यहाँ इसी का विचार करना है। अस्तु, जो पूँजी किसी व्यक्ति को, अकेले उसकी साख पर, कभी-कभी बहुत कष्ट उठाने तथा प्रयत्न करने पर भी नहीं मिल सकती, उसे कई मनुष्य मिलकर, सबकी साख के बल पर, कम व्याज पर, आसानी से और यथेष्ट मात्रा में ले सकते हैं। इस प्रकार साख के सम्बन्ध में सहकारिता का बड़ा महत्व है। भारतीय किसान जैसे निर्धन लोगों के लिए तो साख की सहकारिता बहुत ही उपयोगी है।

**सहकारी साख-समितियाँ**—यहाँ सहकारी साख-समितियों की स्थापना सब से पहले संयुक्तप्रान्त में, सन् १९०१ में हुई। इनके सम्बन्ध में, भारत-सरकार द्वारा पहला कानून सन् १९०४ ई० में बनाया गया। इसके अनुसार हरेक प्रान्त के लिए एक-एक रजिस्ट्रार, सहकारी समितियों को प्रोत्साहन देने के लिए, नियत हुआ। समितियाँ

दो तरह की खोली गईं—(१) किसानों के लिए और (२) शहर में रहनेवाले गरीब लोगों के लिए। यह नियम बनाया गया कि किसी गाँव या शहर में एक ही जाति या पेशे के कम-से-कम दस आदमी मिलकर अपनी एक सहकारी समिति बना सकते हैं। समिति के सदस्य वे हों, जो एक-दूसरे को अच्छी तरह जानते हों। कृषि-साख-समितियों का प्रत्येक सदस्य अपनी समिति का कुल कर्ज चुकाने के लिए जिम्मेदार हो, अर्थात् वे समितियाँ अपरिमित देनदारी के सिद्धान्त पर चलाई जायँ; और नगर-साख-समितियाँ परिमित देनदारी के सिद्धान्त पर।

कुछ अनुभव के बाद सन् १९१२ ई० में सहकारी समितियों का दूसरा कानून पास हुआ, जिसकी कुछ मुख्य बातें ये हैं—(क) देहाती और नागरिक समितियों का भेद दूर कर दिया गया। (ख) सहकारी साख समितियों के अतिरिक्त अन्य समितियाँ भी बनाई जाने की योजना कर दी गई। (ग) केन्द्रीय संस्था के लिए परिमित देनदारी का सिद्धांत जारी किया गया, बशर्ते कि उससे कम-से-कम एक रजिस्टर्ड समिति सम्बद्ध हो। (घ) सरकार ने मुनाफे के बँटवारे का नियंत्रण और निरीक्षण अपने हाथ में ले लिया। बचत-कोष में काफी रकम जमा हो जाने पर मुनाफे का कुछ हिस्सा सभासदों को, बाँटे जाने की, और उसकी दस फी-सदी तक रकम दान-धर्म में दी जाने की, व्यवस्था की गई। (च) 'सहकारी' शब्द का प्रयोग केवल उन्हीं समितियों के सम्बन्ध में किया जाने का नियम हुआ, जिनकी रजिस्टरी हो चुकी हो।

भारतवर्ष के प्रान्तों में, और देशी रियासतों में भी, सहकारी समितियों की संख्या क्रमशः बढ़ने लगी—खासकर किसानों में इनका अधिक प्रचार हुआ। सन् १९१४ ई० में सरकार ने सर एडवर्ड मेकलेगन के सभापतित्व में एक कमेटी कायम करके सहकारिता सम्बन्धी विषयों की जाँच कराई। सन् १९१९ ई० के शासन-विधान के अनुसार सहकारिता

का विषय प्रान्तीय सरकारों को हस्तांतरित कर दिया गया। बम्बई प्रान्त की सरकार ने सन् १६२५ ई० में, और मदरास सरकार ने सन् १६३२ में अपने प्रान्त के लिए सहकारिता का पृथक् कानून बनाया। बिहार, संयुक्तप्रान्त और मध्यप्रांत की सरकारों ने भी अपने-अपने प्रांत के लिए सन् १६१२ ई० के सहकारिता-कानून में कुछ संशोधन किया। सन् १६२६ ई० के शाही कृषि-कमीशन की सिफ़ारिशों से, तथा 'सेंट्रल-बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी' की अधीनता में नियुक्त प्रान्तीय कमेटियों की जाँच के फल-स्वरूप भी कुछ सुधार हुए। भिन्न-भिन्न प्रांतों के कृषि-विभाग भी सहकारिता के सिद्धांतों के प्रचार में योग दे रहे हैं।

**सेंट्रल और प्रांतीय सहकारी बैंक**—सहकारी साख-समितियों की केंद्रीय संस्था 'सेंट्रल बैंक' कहलाती है। ये बैंक एक ज़िले या उसके किसी हिस्से की सहकारी समितियों की सहायता करते हैं। ये भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रांतों में हैं। कुछ सेंट्रल बैंक देशी रियासतों में भी हैं। इनका प्रधान कार्यालय बहुधा जिले के सदर-मुकाम में होता है। ये प्रायः परिमित देनदारी का व्यवहार रखते हैं, और इनकी पूँजी हिस्सों (शेयरों) द्वारा प्राप्त होती है। इनके सदस्य, सहकारी समितियों के अलावा दूसरे आदमी भी हो सकते हैं। ये सर्वसाधारण की अमानतें, मामूली सूद पर जमा करते हैं। ये अपने जिले की ग्राम-सहकारी-समितियों को, कुछ अधिक व्याज पर, रुपया उधार देते हैं। इन्हें जो लाभ रहता है, उसे ये निर्धारित नियमों के अनुसार अपने हिस्सेदारों में बाँट देते हैं। सेंट्रल बैंक और ग्राम-सहकारी-समितियों के बीच कहीं-कहीं 'गारंटी-यूनियन' होते हैं, जो, अपनी सिफारिश से समितियों को सेंट्रल बैंक द्वारा ऋण दिलाते हैं। कुछ प्रान्तों में प्रांतीय सहकारी बैंक हैं। ये सेंट्रल बैंकों की सहायता तथा नियंत्रण करते हैं, तथा अन्य बैंकिंग व्यवसाय भी करते हैं, जैसे लोगों के आभूषण आदि संपत्ति गिरवी रखकर रुपया उधार देना, तथा चेक और हुंडी का भुगतान

आदि। इन बैंकों का इम्पीरियल बैंक, मिश्रित पूँजी के बैंक, तथा रिजर्व बैंक से सीधा सम्बन्ध है; और ये उनसे सहायता लेते हैं।

सहकारी बैंकों का प्रबन्ध प्रायः स्थानीय आदमी करते हैं। वे अपनी सेवाओं के बदले कुछ (रुपया) नहीं लेते। इन बैंकों की आय पर सरकार कोई कर आदि नहीं लेती। यदि कोई किसान किसी सहकारी बैंक का ऋण अदा न कर सके, तो सरकारी लगान दे चुकने पर बैंक का अधिकार किसान की जायदाद पर अन्य सब लेनदारों से पहले होता है।

इन बैंकों से कई लाभ हैं—(१) ये गरीब किसानों को कम सूद पर आवश्यक पूँजी दे सकते हैं। (२) ये बैंक केवल उत्पादक कार्यों के लिए ही उधार देते हैं, इसलिए इनसे धन लेकर किसान लोग फिजूलखर्ची नहीं कर सकते। (३) किसानों और मजदूरों आदि की बचत इन बैंकों में रखी जा सकती है। इनमें व्याज अधिक मिलता है। (४) इन बैंकों से लोगों का एक-दूसरे में विश्वास और सहायता का भाव बढ़ने के साथ-ही-साथ उनमें दूरदर्शिता और मितव्ययिता आदि गुणों का भी विकास होता है।

सहकारी समितियों और बैंकों का प्रधान उद्देश्य है, भारतीय किसानों की कर्जदारी दूर करना और उन्हें आर्थिक सहायता देना। यद्यपि इनके क्षेत्र में वृद्धि हो रही है, तथापि ये भारतवर्ष भर की आवश्यकताओं की कहाँ तक पूर्ति करती हैं, यह विचारणीय है। इनकी संख्या डेढ़ लाख, और इनके सदस्यों की कुल संख्या लगभग ७० लाख है। समिति की सहायता, सभासद के अतिरिक्त, कुछ अंश में उसके कुटुम्ब को भी मिलती है। अब यदि एक कुटुम्ब में पाँच आदमियों का औसत माना जाय तो कुल सहकारी समितियों द्वारा सवा तीन करोड़ आदमियों का थोड़ा-बहुत हित-साधन होता है। अतः भारतीय किसानों की संख्या देखते हुए अभी इन समितियों और बैंकों की संख्या बहुत कम है। देश के शुभचिंतकों को इन्हें बढ़ाने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

**भूमि-बंधक बैंक**—किसानों को कुछ ऋण की, अधिक समय के लिए भी आवश्यकता होती है; उदाहरणवत् पुराना ऋण चुकाने के वास्ते, भूमि की चकबन्दी करने, उसे उपजाऊ बनाने, और बैल या कीमती यन्त्र आदि खरीदने के वास्ते। अधिक समय का ऋण, सहकारी साख-समितियाँ या बैंक नहीं दे सकते। इस कार्य के वास्ते भूमि-बंधक बैंक अधिक उपयुक्त हैं, जो कृषि-योग्य भूमि को रहन रखकर बीस-तीस वर्ष या इससे भी अधिक अवधि के लिए रुपया उधार दें और पीछे उस रकम को, बहुत साधारण ब्याज सहित, छोटी-छोटी किस्तों में वसूल करें।

ये बैंक ऐसी छोटी-छोटी रकमों के डिबेंचरों ( ऋण-पत्रों ) द्वारा पूँजी संग्रह करते हैं, जिन्हें साधारण स्थिति के आदमी खरीद सकें। ये बैंक तीन प्रकार के होते हैं ( १ ) सहकारी, ( २ ) अर्द्ध सहकारी, और ( ३ ) गैर-सहकारी। भारतवर्ष के सब प्रान्तों में, कुल भूमि-बन्धक बैङ्क और सोसायटियाँ केवल २७१ हैं; इनमें से भी १२० अकेले मदरास प्रान्त में हैं। इनको पूर्णतः सहकारी नहीं कहा जा सकता, ये अर्द्ध-सहकारी हैं; कारण, यद्यपि इनके अधिकतर सदस्य इनसे ऋण लेनेवाले व्यक्ति होते हैं, कुछ सदस्य ऐसे भी होते हैं, जो ऋण नहीं लेते। इन सदस्यों को, बैंक के प्रबन्ध में सहायता पहुँचाने तथा पूँजी प्राप्त करने के लिए, बड़े व्यापारियों आदि में से लिया जाता है। ये बैंक परिमित देनदारी के होते हैं, ये लाभ का लक्ष्य रखकर काम नहीं करते, वरन् सूद की दर घटाने का प्रयत्न करते हैं। इन बैंकों का भी कार्य-क्षेत्र भारतवर्ष की कृषक जनता की आवश्यकता को देखते हुए, बहुत कम है।

**पोस्ट-आफिस सेविंग-बैंक**—यद्यपि जनता की बचत का रुपया जमा करने का खाता कुछ दूसरे बैंकों ने भी खोल रखा है, सिर्फ़ बचत जमा करने का कार्य, विशेषतया डाकखानों के सेविङ्ग-बैंक करते हैं। सरकारी सेविङ्ग-बैंक पहले बम्बई, कलकत्ता और मदरास में थे, ये

सन् १८३३ और १८३५ ई० के बीच में स्थापित हुए थे। सन् १८७० ई० में कुछ चुने हुए खजानों से सम्बन्धित जिला-सेविंग-बैङ्क खुले। डाकखाने के सेविङ्ग-बैङ्क सन् १८८२ ई० और सन् १८८३ ई०में भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थानों में, खोले गए। तब से ये सरकारी सेविङ्ग-बैङ्कों का काम करने लगे। सन् १८८६ ई० में इनमें जिला-सेविङ्ग-बैंकों का हिसाब मिला दिया गया। सन् १८९६ ई० में प्रेसीडेंसी-सेविंग-बैङ्कों का काम भी इन्हीं में मिल गया।

इन बैङ्कों का काम क्रमशः बढ़ रहा है। शहर और कस्बे की तो बात ही क्या, बहुत से बड़े-बड़े गाँवों के डाकखानों में भी सेविङ्ग-बैङ्क का काम होता है। इनमें चार आने तक छोटी रकम भी जमा हो सकती है। ३१ मार्च १९३९ ई० को इन बैंकों की संख्या १२,१०९ थी। इनमें बियालीस लाख आदमियों का हिसाब था और कुल मिला कर लगभग ८२ करोड़ रुपया जमा था। युद्ध-काल में इसमें कमी हो गई। ३१ मार्च १९४३ को इन बैंकों में २५,६४,००० आदमियों का हिसाब था, और इनका सवा बावन करोड़ रुपया जमा था। ३१ मार्च १९४५ को इन बैंकों में लगभग इकत्तीस लाख आदमियों का ८० करोड़ से कुछ अधिक रूपया जमा था।

यह ठीक है कि अधिकांश जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने से उनकी बचत जमा करने की विशेष सामर्थ्य नहीं, तथापि इन बैङ्कों में जमा की रकम बढ़ने की बहुत गुँजायश है। भारतवर्ष के सात लाख गाँवों की दृष्टि से इन बैङ्कों की संख्या बहुत ही कम है। इससे यह स्पष्ट है कि अधिकांश गाँवों के लिए, जो सेविंग-बैङ्क उनके सबसे अधिक नजदीक है, वह भी कितनी ही मील दूर है।

गत वर्षों में डाकखानें जनता का रुपया जमा करने के लिए, सेविंग-बैंक-कार्य के अलावा, और भी उपाय काम में लाए हैं। सन् १९१७-१९ में उन्होंने 'केश-सर्टिफिकट' निकाले थे। आदमी साढ़े आठ रुपए या अन्य निर्धारित कीमत देकर इन कागजों को खरीद लेते थे। डाकखाने

पांच साल के बाद उनके दस-दस रुपए दे देते थे। इन केश-सर्टिफिकटों का रुपया पाँच साल से पहले भी मिल सकता था, पर उस दशा में सूद बहुत कम मिलता था। सन् १९१७-१८ में जब केश-सर्टिफिकटों का कार्य आरम्भ हुआ, इनमें ८१ करोड़ रु० जमा था, पीछे सूद की दर घटने-बढ़ने तथा अन्य कारणों का इस मद् की जमा पर प्रभाव पड़ता रहा तथापि कुल मिला कर यह रकम बढ़ती ही रही। मार्च १९३९ में यह रकम ५९ करोड़ रु० थी। (दूसरे) महायुद्ध के समय इसका ह्रास हुआ; सन् १९४३-४४ में यह रकम ३५ करोड़ थी।

सन् १९४० में दस-वर्षीय डिफेंस-सेविंग-सार्टिफिकट जारी किए गए थे। सन् १९४३-४४ में, जनता के इनमें ७ करोड़ रुपए जमा थे। परन्तु अक्टूबर १९४३ में इनकी जगह 'नेशनल-सेविंग-सर्टिफिकट' जारी हैं। इनकी अवधि अलग-अलग—पांच साल, सात साल, बारह साल आदि—होती है। अवधि के अनुसार इनके सूद की दर जुदा-जुदा होती है। मिसाल के तौर पर सौ रूपए के खरीदे हुए सर्टिफिकट के बारह साल पूरे होने पर सूद सहित डेढ़ सौ रुपए मिलते हैं। सन् १९४३-४४ में इनमें ९ करोड़ रु० जमा थे।

**मिश्रित पूँजीवाले बैंक**—मिश्रित पूँजी की कम्पनियों के सम्बन्ध में पहले (सातवें अध्याय में) लिखा जा चुका है। भारतवर्ष में मिश्रित पूँजी के बैंक विशेषतया पिछले चालीस वर्षों में ही अधिक हुए हैं। सन् १९०५-०७ के स्वदेशी आन्दोलन से यहाँ औद्योगिक कार्यों की ओर विशेष ध्यान दिए जाने के कारण इनकी अच्छी उन्नति हुई। सन् १९१३ और १९२३ में कुछ बैंकों का दिवाला निकलने से इनके कार्य को धक्का पहुँचा, परन्तु उसका प्रभाव अस्थायी रहा है। साधारणतया इनकी वृद्धि ही हुई है।

कम्पनियों की रजिस्टरी की बात पहले बताई जा चुकी है। सन् १९३६ के संशोधित कम्पनी-कानून के अनुसार अन्य प्रतिबन्ध विशेषतया निम्नलिखित हैं:—(१) किसी बैंकिंग कम्पनी का कोई मेनेजिंग

एजन्ट नहीं होता; हाँ, कोई बैंकिंग कम्पनी दूसरी कम्पनी के लिए मेनेजिंग एजन्ट का काम कर सकती है। (२) कोई बैंकिंग कम्पनी अपना कारोबार उस समय तक आरम्भ नहीं कर सकती, जब तक कि उसके हिस्सों की बिक्री से कम-से-कम पचास हजार रुपए की रकम प्राप्त न हो जाय। (३) प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को अपने घोषित मुनाफे का पाँचवाँ हिस्सा सुरक्षित कोष में उस समय तक जमा करते रहना होगा, जब तक कि सुरक्षित कोष का परिमाण, प्राप्त हिस्सा-पूँजी तक न हो जाय। (४) प्रत्येक बैंङ्किग कम्पनी को अपनी प्रत्येक शुक्रवार की लेनी और देनी का हिसाब रजिस्ट्रार के पास हर महीने दस तारीख तक भेजना होगा, और उसे अपनी तात्कालिक या दर्शनी देनी का पाँच फी सदी, और मुद्दती देनी का डेढ़ फी सदी, रुपया नकद जमा रखना होगा।

सन् १९४३ में मिश्रित पूँजी के बैङ्कों की कुल पूँजी १८६७ लाख, रक्षित धन ७८० लाख और जमा (डिपाजिट) ३३९० लाख रु० थी।

**इम्पीरियल बैंक**—इस बैङ्क की स्थापना सन् १९२० के कानून के अनुसार, १९२१ में बङ्गाल, बम्बई और मदरास के प्रेसीडेन्सी-बैंकों को मिला देने से हुई। इम्पीरियल-बैङ्क-कानून का संशोधन १९३४ में हुआ और १९३५ में अमल में आया। इस बैंक के काम-काज का नियंत्रण करने के लिए डायरेक्टरों का एक सेन्ट्रल (केंद्रीय) बोर्ड है, तथा कलकत्ता, बम्बई और मदरास में लोकल (स्थानीय) बोर्ड हैं। सेन्ट्रल बोर्ड के दो डायरेक्टरों की नियुक्ति सरकार द्वारा होती है। इसके अतिरिक्त भी, सरकार इस बैंक के काम का नियंत्रण करती है।

इस बैंक की, देश के भिन्न-भिन्न भागों में लगभग पौने दो सौ शाखाएँ हैं। रिजर्व बैंक की स्थापना (सन् १९३५) तक यही भारतवर्ष का सबसे बड़ा बैङ्क था। यह बैङ्क सरकार के बैंकिङ्ग कार्य करने का एकमात्र अधिकारी था, यह तमाम सरकारी अमानतों को बिना-व्याज जमा करता था; जहाँ-जहाँ इसकी शाखाएँ थीं, वहाँ यह सरकारी कोषाध्यक्ष

का कार्य करता था और सरकार के खाते में जमा होनेवाली रक़में सर्वसाधारण से वसूल करता था। यह भारत-सरकार के सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध करता था।

अब इस बैङ्क के मुख्य-मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं :—

१—रिजर्व बैङ्क के हिस्सों, सरकार से सहायता-प्राप्त रेलवे कम्पनियों के ऋण-पत्रों (सिक्यूरिटियों), और मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों के ऋण-पत्रों (डिबेंचर) की जमानतों पर ऋण देना।

२—डिबेञ्चर या अन्य सिक्यूरिटियाँ बेचना।

३—प्रान्तीय सरकारों की स्वीकृति से कोर्ट-आफ-वार्ड्स के कृषि-कार्य के लिए, अधिक-से-अधिक नौ महीने के वास्ते, ऋण देना।

४—हुंडियाँ या अन्य साख-पत्र जारी करना, सकारना, क्रय-विक्रय करना।

५—सोना-चाँदी क्रय-विक्रय करना, दूसरों का रुपया जमा करना, सुरक्षित रखने के लिए ऋण-पत्र लेना, कृषि के वास्ते नौ मास तक के लिए और अन्य कार्यों के लिए छः मास तक के लिए हुंडियों को खरीदना और जारी करना, जो देश से बाहर भुगताई जायँ।

६—बैङ्क की सम्पत्ति के आधार पर उधार लेना और प्रायः अन्य सब बैंकिंग कार्य करना, जिसमें विदेशी विनिमय का कारोबार भी सम्मिलित है।

इंपीरियल बैंक भारतवर्ष के उन स्थानों में रिजर्व बैङ्क का एकमात्र एजंट है, जहाँ रिजर्व बैंक की कोई शाखा न हो और इंपीरियल बैंक की शाखा हो। रिजर्व बैङ्क की स्थापना के समय इंपीरियल बैङ्क की जितनी शाखाएँ थीं, उतनी शाखाएँ इसे जारी रखनी होती हैं। इन कार्यों के लिए रिजर्व बैङ्क इंपीरियल बैंक को निर्धारित रुपया देता है! यदि इंपीरियल बैंक अपनी किसी शाखा के बदले दूसरी शाखा स्थापित करे तो उसे रिजर्व बैंक की अनुमति लेनी होती है।

इस बैंक की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालने के लिए आगे इसका ५ नवम्बर १६४८ का साप्ताहिक ब्योरा दिया जाता है।

## इम्पीरियल बैङ्क का हिसाब

### ( लाख रुपयों में )

| देनी | | लेनी | |
|---|---|---|---|
| प्राप्त हिस्सा पूँजी | ५,६३ | सरकारी सिक्यूरिटियाँ | १६०,७१ |
| सुरक्षित कोष | ६,२५ | अन्य निर्धारित लगाई पूँजी | ११,२६ |
| मुद्दती जमा, सेविंग बैङ्क, | | ऋण | २३,४५ |
| चालू और अन्य हिसाब | २७६,८७ | खरीदी हुँडियाँ | ४,१६ |
| अन्य देनी | १,५७ | नकद साख | ५१,३१ |
| | | जाकड़ माल | १,५६ |
| | | अन्य | १,८५ |
| | | अमुद्रित स्वर्ण | ... ... |
| | | नकद ( हाथ में तथा | |
| | | रिज़र्व बैङ्क के पास ) | ३१३५ |
| | | अन्य बैंकों के पास | ७,४० |
| योग | २६३,३२ | योग | २६३,३२ |

इस बैंक के कुल ११२५ लाख रुपए के हिस्से बिके हैं। इस रकम में से बैंक को ५६३ लाख रुपए मिल चुके हैं; बाकी ५६२ लाख रु० बैंक अपने हिस्सेदारों से माँग सकता है। बैंक के पास ६२५ लाख रुपए सुरक्षित कोष के रूप में ऐसे हैं कि वह उन्हें आवश्यकता होने पर काम में ला सकता है। आम तौर पर बैङ्क ऐसे रुपए को सरकारी सिक्यूरिटियों में लगाता है। इस बैङ्क के पास भिन्न-भिन्न प्रकार के हिसाबों में जनता का २७६,८७ लाख रुपए जमा है। १५७ लाख की अन्य फुटकर रकमों सहित इम्पीरियल बैंक को ५ नवम्बर १६४८ को कुल मिला कर २६३,३२ लाख रुपए देना था। बैंक की देनी में ६२५

लाख रुपए सुरक्षित कोष के भी दिखाए गए हैं। इस रकम का उपयोग पहले तो जनता का हिसाब निपटाने में होता है; इसके बाद जो रुपया शेष बचता है, वह हिस्सेदारों का रहता है।

अब इस बैङ्क की लेनी का हिसाब लीजिए। इसके पास १६०,७१ लाख रु० की सरकारी सिक्युरिटियाँ हैं। यह बैङ्क कानून के अनुसार अपना कुछ रुपया दूसरे कामों में लगा सकता है। ऐसी रकम ११२६ लाख रु० है। बैङ्क ने २३४५ लाख रु० थोड़ी मुद्दत के लिए ऋण दे रखा है और ५१३२ लाख रु० नकद साख में है, जो आसानी से मिल सकता है। बैङ्क ने ४३६ लाख रु० की हुंडियाँ खरीद रखी हैं, जैसे-जैसे इन हुंडियों की तारीख आएगी, बैङ्क इनका रुपया वसूल कर लेगा। बैंक के पास १५६ लाख का जाकड़ माल (इमारतें तथा फर्निचर आदि) है, और इसका ७४० लाख रु० अन्य बैंकों में जमा है। इसके पास अमुद्रित स्वर्ण नहीं है। क्योंकि रिजर्व बैंक में जमा किया हुआ रुपया चाहे जब मिल सकता है, इसलिए यह नकद के बराबर है; और उसके साथ जोड़ कर दिखाया गया है। यह रकम ३१३५ लाख रु० है।

रिजर्व बैंक—इस बैंक की स्थापना का विचार कई वर्ष पहले से था, अंततः इसका कानून सन् १९३४ ई० में बनाया गया। अब (सन् १९४८) इसका राष्ट्रीयकरण हो गया है। पर उस समय इसे शेअरहोल्डरों (हिस्सेदारों) का ही बैंक बनाया गया था। इसकी हिस्सा-पूँजी पाँच करोड़ रुपए थी। एक-एक हिस्सा सौ-सौ रुपए का रखा गया था। पाँच हिस्से लेनेवालों को एक मत का अधिकार दिया गया था, और एक हिस्सेदार के अधिक-से-अधिक दस मत होते थे। बम्बई, कलकत्ता, देहली मदरास और रंगून—इन पांच स्थानों में बैंक के कार्यालय स्थापित किए गए। इनके अतिरिक्त बैंक की एक शाखा लन्दन में भी खोली गई।

[ बर्मा सन् १९३५ के विधान के अनुसार भारत से पृथक् किया गया। अब उसका हिसाब अलग रहता है, इस लिए रिजर्व बैंक का

रंगून का कार्यालय काम नहीं करता। अगस्त १९४७ से पाकिस्तान का निर्माण हो गया है। अप्रेल १९४८ से रिजर्व बैंक उसके लिए अलग नोट निकालता था। जून १९४८ में वहाँ स्वतंत्र स्टेट बैंक की स्थापना हो गई। तब से रिजर्व बैंक पाकिस्तान का कार्य नहीं करता।]

**रिजर्व बैंक के कार्य**—इस बैंक के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं:—(१) आवश्यकतानुसार नोट जारी करना (२) भारत-सरकार, प्रांतीय सरकारों और देशी राज्यों तथा किसी व्यक्ति के रुपए बिना व्याज जमा करना (३) निर्धारित नियमों के अनुसार, विशेष दशाओं में अधिक-से-अधिक नौ मास की हुंडी सकारना। (४) देशी राज्यों, और स्थानीय-स्वराज्य-संस्थाओं को, तथा अन्य बैंकों को सिक्यूरिटियों, हुंडियों, या सोना-चाँदी की जमानत पर, और भारत-सरकार तथा प्रांतीय सरकारों को बिना जमानत, तीन मास तक के लिए, रुपया उधार देना। (५) भारत-सरकार, प्रांतीय सरकारों, देशी राज्यों, तथा स्थानीय स्वराज्य-संस्थाओं के लिए सोना-चाँदी खरीदना और बेचना (६) सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध करना। (७) सरकार का लेन-देन सम्बन्धी कार्य करते हुए प्रान्तों की आर्थिक स्थिरता और साख बनाए रखना, लोगों को निर्धारित दर पर रुपए के बदले स्टर्लिंग (कागजी पौंड), और, स्टर्लिंग के बदले रुपए देना। (८) निर्धारित नियमों के अनुसार देश के बैंकों का रक्षित धन (रिजर्व) जमा रखना। (यह बैंकों का बैंक है, इसमें अन्य बैंकों का रुपया जमा रहता है, जिससे आवश्यकता होने पर यह उनकी सहायता कर सके, और उन्हें आर्थिक संकट से बचा सके)। (९) सहकारी बैंकों को निर्धारित नियमों के अनुसार, तीन मास तक के लिए रुपया उधार देना, और कृषि-साख विभाग रखना, जो कृषि-सहकारी-बैंकों के अधिकारियों और महाजनी सम्बन्धी अन्य संस्थाओं को परामर्श और सहायता दे।

यह बैंक अपना रुपया व्यापार या उद्योग धंधे में नहीं लगा सकता, अपने या किसी अन्य बैंक के शेयर नहीं खरीद सकता, न उन शेयरों

की जमानत पर, अथवा अचल संपत्ति (भूमि, मकान आदि) की जमानत पर, रुपया उधार दे सकता है। यह बैंक मुद्दती हुंडी जारी नहीं कर सकता, और न किसी जमा पर व्याज दे सकता है।

जनवरी १९४९ में जारी किए हुए आर्डिनेन्स के अनुसार भारत-सरकार रिजर्व बैंक को किसी भी बैंक के हिसाब और काम-काज की जांच का आदेश कर सकती है। रिजर्व बैंक की रिपोर्ट पाने के बाद सरकार जिस बैंक के बारे में उचित समझे, उस बैंक को नई रकम जमा करने के लिए मना कर सकती है, अथवा उसे गैर-कानूनी घोषित कर सकती है, या उसे कानूनी या स्वीकृत बैंकों की सूची से हटा सकती है।

**नोट विभाग और बैंक विभाग**—इस बैंक के दो विभाग हैं—नोट विभाग और बैङ्क विभाग। नोट विभाग से प्रकाशित व्योरे में चालू नोटों का विवरण दिया रहता है। बैङ्क जितने नोट निकालता है, उतने का वह देनदार होता है। इसका वर्तमान व्योरा पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। यहाँ इस बैङ्क के बैंक विभाग का ३ सितम्बर १९४८ का विवरण, सारांश रूप में, दिया जाता है।

### बैंक विभाग का देना

| | | |
|---|---|---|
| चुकता मूल धन | ५,०० | लाख रु० |
| रक्षित कोष | ५,०० | ” ” |
| डिपाजिट ( जमा ) | | |
| (क) सरकार | | |
| (१) केन्द्रीय सरकार | २,३४,२१ | ” ” |
| (२) अन्य सरकारें | १७,७७ | ” ” |
| (ख) बैङ्क | ९२,६४ | ” ” |
| (ग) अन्य | ६१,७५ | ” ” |
| चुकाने वाले बिल | ३,५१ | ” ” |
| अन्य देना | ७,५२ | ” ” |
| योग | ४,२७,४१ | लाख रु० |

## बैङ्क विभाग का पावना

| | | | |
|---|---|---|---|
| नोट | ३५,६० | लाख | रु० |
| रुपए ( सिक्के ) | ६ | " | " |
| सहायक सिक्के | २ | " | " |
| खरीदे हुए बिल | | | |
| (१) देशी | २६ | " | " |
| (२) विदेशी | ... | " | " |
| (३) सरकारी ट्रेजरी बिल | ४,०६ | " | " |
| विदेशों में जमा | ३,११,२६ | " | " |
| सरकार को दिया गया ऋण या उचन्त | २ | " | " |
| अन्य ऋण और उचन्त | ८ | " | " |
| रोजगार में लगाई पूँजी | ७१,४८ | " | " |
| अन्य पावना | २,५१ | " | " |
| योग | ४,२७,४१ | लाख | रु० |

इस ब्योरे से स्पष्ट है कि इस बैङ्क ने जितने (पाँच करोड़) रुपए के हिस्से बेचे, उतने रुपए इसे पूरे मिल चुके हैं। बैंक के पास पाँच करोड़ रुपए का सुरक्षित कोष भी है। इसने सरकार के कुल मिलाकर २५२ करोड़ रु० जमा कर रखे हैं। केन्द्रीय बैंक होने के कारण देश के अन्य बैंक को भी इस बैंक में कुछ रुपया रखना होता है। अन्य बैंकों की तरह यह बैंक डिपाजिट अर्थात् जमा पर सूद नहीं देता, तो भी इनमें ६१७५ लाख रु० दूसरों के जमा हैं। इसे ३५१ लाख रु० की हुंडियों का भुगतान करना है। अन्य मद्दों के अन्तर्गत इसे ७५२ लाख रु० देना है।

अब इस बैंक के पावने का हिसाब लीजिए। इसके ( बैंक विभाग के ) पास ३५६० लाख रुपए के नोट हैं, इनके बदले वह नोट-विभाग से स्वर्ण आदि माँग सकता है। बैंक के पास आठ लाख रु० मूल्य के रुपए और सिक्के हैं। इसका ४०६ लाख रु० भारत सरकार को

कुछ महीनों के लिए उधार दिया हुआ है, यह 'ट्रेजरी-बिल' नाम से दिखाया गया है। २६ लाख रू० की देशी हुँडियाँ खरीदी हुई हैं। भारतवर्ष के बाहर बैंक का ३११२६ लाख रुपया है; इसमें ब्रिटिश सिक्यूरिटियाँ आदि शामिल हैं। बैंक का इतना अधिक रुपया देश के बाहर रखना भारतवर्ष के लिए बहुत हानिकारक है। बैंक ने ७३४८ लाख रुपया की रकम रोजगार में लगा रखी है। इस बैंक का २५१ लाख रु० पावना अन्य विविध मद्दों के अन्तर्गत है।

**रिजर्व बैंक की नीति**—जब से भारतवर्ष में केन्द्रीय बैंक की स्थापना की चर्चा होने लगी थी, तभी से यह विवाद आरम्भ हो गया था कि इसे सरकारी बैंक बनाया जाय, या हिस्सेदारों का। भारतीय जनता के प्रतिनिधि चाहते थे कि इसे स्टेट बैंक (सरकारी बैंक) बनाया जाय, क्योंकि उन्हें इस बात की बड़ी आशंका थी कि हिस्सेदारों का बैंक बनने की दशा में इससे भारतवर्ष को यथेष्ट लाभ नहीं पहुँचेगा, इसपर अधिकांश में विदेशी पूँजीपतियों का नियन्त्रण रहेगा, और यह बैंक भारतीय हितों की उपेक्षा करके भी इंगलैंड का हित-साधन करेगा। आखिर, सन् १९३४ में जब इस बैंक की स्थापना हुई तो सरकार ने यहाँ के लोकमत की अवहेलना कर इसे शेअरहोल्डरों अर्थात् हिस्सेदारों का ही बैंक बनाया। बैंक के व्यवहार से यह भली भांति सिद्ध हो गया कि इसके विषय में जन-प्रतिनिधियों की आशंका ठीक ही थी। इस बैंक ने हमेशा सरकार और अंगरेज पूँजीपतियों के हित का ध्यान रखा। भारतीय नेताओं ने पौंड और रुपए की विनिमय दर को बदलने का बहुत प्रयत्न किया, पर इस बैंक ने उनका समर्थन नहीं किया। इस बैंक को चाहिए था कि कृषि, व्यापार तथा उद्योगों के लिए पूँजी प्राप्त करने में सहायक हो। पर बैंक ने यह कुछ नहीं किया। गत वर्षों में अनेक नए-नए बैंक खुल गए, जिनकी पूँजी की व्यवस्था और कार्य-शैली बहुत सदोष थी। रिजर्व बैंक ने उनका नियन्त्रण नहीं किया। इस बैंक की सहायता न मिलने के कारण कई अच्छे-अच्छे बैंक फेल

ो गए। युद्ध-काल (१९३९-४५) में सरकार ने जैसे-जैसे मुद्रा की ावश्यकता समझी, इस बैंक ने अंधाधुन्ध नोट छाप कर उसकी पूर्ति ी। इसका नतीजा यह हुआ कि यहाँ मुद्रा-प्रसार भयंकर रूप से बढ़ ाया; उपभोग-पदार्थों के भाव बेहद चढ़ गए; मुनाफेखोरी, चोरबाजारी ौर इनके साथ रिश्वतखोरी भी खूब बढ़ी। इस प्रकार देश के इस र्तमान संकट के लिए; इस बैंक की नीति भी बहुत-कुछ उत्तरदायी है।

**बैंक का राष्ट्रीयकरण**—पहले कहा गया है कि इस बैंक की थापना के समय ही इसे सरकारी बैंक बनाए जाने की माँग थी। पीछे ुद्ध-काल में तथा युद्धोत्तर काल से सभी जगह व्यापक आर्थिक आयो-ाना की आवश्यकता बहुत बढ़ गई। अनेक राष्ट्रों ने अपने केन्द्रीय ैंकों का राष्ट्रीयकरण कर डाला। जब (सन् १९३५ में) रिजर्व बैंक थापित हुआ संसार में ऐसे ११ बैंक थे, जिन पर राज्य का स्वामित्व ा। पीछे केनेडा, डेनमार्क, न्यूज़ीलैंड, ने अपने केन्द्रीय बैंकों को ्स्सेदारों के बैंकों के बदले, सरकारी बैंकों में बदल दिया। दूसरे हायुद्ध से इस दिशा में और भी प्रगति हुई; ब्राज़ील, रूमानिया, नेदर-ैंड, हंगरी, बलगेरिया, चेकोस्लेविया, नारवे. फ्रांस और इंगलैंड भी ्क सूची में आ गए। यह सूची क्रमशः बढ़ती जा रही है।

भारतवर्ष में खास कर पिछले दो वर्ष से रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण ी मांग पर ज़ोर दिया जाने लगा। आखिर, १ जुलाई १९४८ से ाकिस्तान द्वारा अपना अलग सेन्ट्रल बैंक बना लिए जाने पर भारत-रकार इस स्थिति में हुई कि वह रिजर्व बैंक का राष्ट्रीकरण स्वीकार रे। सितम्बर १९४८ से यह बैंक भारतीय संघ का राष्ट्रीय बैंक है। समें अब व्यक्तिगत हिस्सेदार नहीं रहेंगे। सरकार उनके हिस्सों के लिए आवजा देकर बैंक का प्रबन्ध और नीति-संचालन अपने अधिकार में लेगी।

इस बैंक का राष्ट्रीकरण करके सरकार अपनी राष्ट्रीकरण की योज-ाओं को कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में एक ठोस और गम्भीर कदम

उठा रही है। आवश्यकता है कि बैंक की कुशलता और दक्षता में कमी न आवे; ये वैसी ही बनी रहे जैसी अब तक थी। आशा है, सरकार इसका यथेष्ट ध्यान रखेगी।

**एक्सचेंज बैंक**—एक्सचेंज बैंक या विनिमय-बैङ्क उसे कहते हैं जो भारतवर्ष के विदेशी व्यापार का भुगतान करें। इन बैङ्कों की स्थापना अस्सी वर्ष से हुई है। पहले योरपीय महायुद्ध (१६१४-१८) के बाद भारतवर्ष का कई देशों से व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ने के कारण, उन देशों को यहाँ अपनी शाखाएँ खोलने में प्रोत्साहन मिला; उससे यहाँ इन बैङ्कों की संख्या बढ़ी। अब इनकी कुल संख्या १६ है, जिनमें से केवल एक भारतीय है। इन बैङ्कों में से कई-एक का प्रधान कार्यालय लंदन में है, और, शेष का जापान, फ्रांस, जर्मनी, अमरीका आदि देशों में है। कुछ बैङ्क तो अपना अधिकांश कारोबार भारतवर्ष में ही करते हैं, परन्तु अधिकांश उन बड़ी-बड़ी विदेशी बैंकिंग संस्थाओं की शाखाएँ और एजंसियाँ मात्र हैं, जो अपना कारोबार भिन्न-भिन्न देशों में करती हैं। इन बैङ्कों में से प्रत्येक की कुछ शाखाएँ भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थापित हैं।

भारत के विनिमय-बैंक विदेशी व्यापार को सहायता पहुँचाते हैं, भारतवर्ष के निर्यात-कर्ताओं से हुंडियाँ खरीदते हैं, और व्याज काटकर उनका रुपया विलायती बैङ्कों से, अथवा समय पूरा होने पर स्वयं उन व्यापारियों से, लेते हैं। ये अपने लंदन के कार्यालयों द्वारा इङ्गलैण्ड के निर्यात-कर्त्ताओं की हुंडियाँ भी मोल लेते हैं। इस प्रकार ये भारतवर्ष के आयात-व्यापार में भी भाग लेते हैं। निर्यात-व्यापार पर तो इनका आधिपत्य-सा है। इन बैङ्कों द्वारा यहाँ खरीदी गई हुंडियों का रुपया इंगलैंड में, और इंगलैंड में खरीदी हुई हुंडियों का रुपया यहाँ मिल जाता है।

विनिमय-बैङ्क विदेशी व्यापार को सहायता पहुँचाने के अतिरिक्त अन्य प्रकार का बैंकिंग कार्य भी करते हैं। इनमें भारतवासियों

की अमानत की रकम उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। सन् १९४३ में यह रकम १४० करोड़ रु० थी।

कुछ समय से बम्बई में एक विदेशी-विनिमय-बैंक स्थापित है। इस प्रकार का यही एकमात्र भारतीय बैंक है। विदेशों में इसकी शाखाएँ बढ़ने की बहुत आवश्यकता है।

**बीमा-कम्पनियाँ**—बैंकों के प्रसंग में बीमा-कम्पनियों का भी विचार किया जाना आवश्यक है; कारण, ये लोगों को न केवल सेविंग-बैंकों की तरह, वरन् उनसे भी अधिक, बचत करने के लिए प्रेरित करतीं हैं। बैंक में रुपया जमा करते रहना तो जमा करनेवाले की इच्छा पर निर्भर है। पर बीमा करानेवाले को तो निश्चित समय पर आगे की किस्तों का रुपया जमा करना ही पड़ता है, अन्यथा जमा किए हुए रुपए की हानि की आशंका है। इसलिए बीमा करनेवाला, जैसे भी बनेगा, इसके लिए बचत करने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार बीमा-कम्पनियों में लोगों का बहुत सा रुपया जमा हो जाता है। ये कम्पनियाँ लोगों की जमा की हुई बचत के द्वारा उद्योग-धंधा करनेवालों के डिबेन्चर (ऋण-पत्र) खरीदकर उनके काम में खूब सहायक होती हैं।

बीमा किसी वस्तु की आग या बाढ़ आदि से सुरक्षा के लिए होता है। बीमा-कम्पनी किसी चीज का, उसकी मालियत के अनुसार निर्धारित दर से अपनी फीस लेकर बीमा करती है। उदाहरण के लिए अगर कोई जहाज डूब जाय या मकान में आग लग जाय तो उसका जितनी रकम का बीमा किया हुआ होगा, उतनी रकम देने का दायित्व बीमा-कम्पनी पर रहता है। बीमा आदमी (या पशु आदि) की जिन्दगी का भी होता है। जितने समय का तथा जितने रुपए का बीमा कराना होता है, उसके अनुसार निर्धारित किस्तों में, किसी बीमा-कम्पनी में रुपया जमा कराया जाता है। बीमा किए हुए आदमी के मियाद से पहले मर जाने की दशा में, जितने का बीमा कराया गया है, वह पूरी रकम उसके उत्तराधिकारी को मिलेगी। यदि उस आदमी के जीवन-काल में

ही बीमे की मियाद पूरी हो जाय तो उसे बीमे की पूरी रकम और निर्धारित सूद या मुनाफा मिल जाता है।

इस वर्ष (१९४८) भारतवर्ष में कुल बीमा-कम्पनियाँ ३३४ हैं; इनकी जगह-जगह विविध शाखाएँ हैं। सन् १९४५ में बीमा-कम्पनियाँ ३३० थीं; इनमें से २३४ भारतीय थीं; और शेष विदेशी, जिनमें से दो-तिहाई इंगलैंड की थीं। भारतीय बीमा-कम्पनियाँ अधिकतर जीवन-बीमा करती हैं, और विदेशी कम्पनियाँ जहाजों का, या आग-सम्बन्धी बीमे का कार्य करती हैं। गत वर्षों में बीमा-कम्पनियों की संख्या और कार्य में खासी प्रगति हुई है, तथापि भारतवर्ष की जनसंख्या की दृष्टि से स्थिति संतोषप्रद नहीं है। सन् १९४५ में २१ लाख आदमी ऐसे थे, जिनकी जिन्दगी का बीमा हुआ था; बीमे में दी जाने वाली रकम ४४३ करोड़ रुपए थी।

**भारतवर्ष की बैंक सम्बन्धी आवश्यकताएँ**—भारतवर्ष में बैंकों की आवश्यकता दिन-दिन बढ़ती जा रही है। लोगों में अपनी बचत का रुपया महाजनों के पास अथवा मिश्रित पूँजीवाले तथा दूसरे बैंकों में जमा करने की रुचि बढ़ रही है। तथापि यहाँ की आवश्यकताओं को देखते हुए बैंकों की बहुत कमी है। उदाहरण के लिए, कृषि की सहायता के वास्ते यहाँ बैंकिङ्ग की क्या व्यवस्था है? एक्सचेंज बैंकों का तो एकमात्र लक्ष्य विदेशी व्यापार की सहायता करना है। रिजर्व बैंक भी कृषि की विशेष सहायता नहीं कर सका है। मिश्रित पूँजी के बैंकों का क्षेत्र देशी व्यापार है। सहकारी बैंक कृषि के लिए कुछ करते-धरते हैं, पर उनकी शक्ति कितनी अल्प है, यह पहले बताया जा चुका है। वही बात उद्योग-धंधों के सम्बन्ध में है। हमें इन कार्यों के विशेष प्रकार के बैंकों की बहुत आवश्यकता है।

हमारे यहाँ प्रायः बैंक अपनी शाखाएँ बड़े-बड़े शहरों में खोलते हैं। इससे उन शहरों में बैंकों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। उनका काम आपस में बँट जाता है, बैंकों के अनुपात से बढ़ता नहीं। उधर अनेक

शहरों में कोई भी बैंक या उसकी शाखा नहीं खुलती। गत वर्षों में बैंकों की संख्या में खासी वृद्धि हुई है, तथापि बहुत से शहरों और अधिकांश कस्बों में बैंक नहीं खुले हैं। जिन-जिन स्थानों में गुंजायश मालूम हो, वहाँ बैङ्क खोलने के लिए प्रयत्न किए जाने चाहिएँ।

**क्लियरिंग हाउस या चेक-चुकाई भवन**—पहले बैंकों को आपसी चेक भुनाने में बड़ी कठिनाई होती थी। एक बैंक का चपरासी या कर्मचारी चेक लेकर जब दूसरे बैंक में जाता तो वहाँ से उस चेक का रुपया लेकर आता था। इसमें समय और परिश्रम तो लगता ही था, इसके अलावा इस काम में जोखम भी बहुत रहती थी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए क्लियरिङ्ग हाउस या चेक-चुकाई भवन की पद्धति चलाई गई है। क्लियरिंग हाउस का काम खासकर कलकत्ता, बम्बई, मदरास, और कराची में रिजर्व बैङ्क के साथ होता है। सब बड़े-बड़े बैंक इसके सदस्य होते हैं। उन बैंकों के प्रतिनिधि नियत समय पर वहाँ जमा होकर आपसी लेन-देन का हिसाब कर लेते हैं और अन्त में हिसाब का विवरण रिजर्व बैंक को दे देते हैं, जो उसे ठीक-ठाक कर लेता है। सन् १६४५ में कलकत्ता, बम्बई, मदरास और कराची के क्लियरिंग-हाउसों द्वारा क्रमशः १६५०, २४४३, २७४, और १३८ करोड़ रुपए के चेकों का हिसाब निपटाया गया।

## उन्नीसवाँ अध्याय

# विनिमय की दर*

**भारतवर्ष का दूसरे देशों से लेन-देन**—पहले बताया जा चुका है कि भारतवर्ष में बहुत सी विदेशी चीजों का उपभोग होता है। यद्यपि गत वर्षों में स्वदेशी-प्रेम, खादी-प्रचार, गृह-शिल्प तथा उद्योग-धन्धों की

* इस अध्याय में 'विनिमय' शब्द का प्रयोग 'विदेशी विनिमय' के अर्थ में किया गया है।

उन्नति की भावना से इसमें जनता की कुछ अरुचि हुई है, और युद्ध-काल में तथा उसके बाद भी विदेशी माल की आयात पहले की तरह सुविधा-जनक नहीं रही है, तथापि अब भी यहाँ कितना ही माल विदेशों से आता है। साथ ही दूसरे देश भारतवर्ष से कई चीज़ें मँगाते हैं। इस आयात-निर्यात के सम्बन्ध में विशेष बातों का विचार अगले खण्ड में किया जायगा। यहाँ पाठकों का ध्यान इस बात की ओर दिलाना अभीष्ठ है कि भारतवर्ष का दूसरे देशों से व्यापारिक सम्बन्ध है, इसलिए तथा अन्य कारणों से भी कभी उसे दूसरे देशों को रुपया देना होता है और कभी उनसे लेना होता है।

भारतवर्ष का दूसरे देशों से लेन-देन इङ्गलैण्ड के पौंड नामक सिक्के में होता है। जब भारतवर्ष को किसी देश का रुपया देना होता है, तो पौंड के रूप में देता है; इसी प्रकार जब रुपया लेना होता है तो पौंड के द्वारा लेता है। सन् १९३१ ई० से इङ्गलैंड में कागजी पौंड का चलन है; परन्तु ब्रिटिश सरकार ने विदेशी व्यापार के लिए कागजी पौंड के बदले में स्वर्ण-पौंड दिए जाने की व्यवस्था कर रखी है। स्वर्ण-पौंड प्रामाणिक सिक्का होने के कारण दूसरे देशों के सिक्कों से बदला जा सकता है; रुपया नहीं बदला जा सकता, क्योंकि अधिकतर देशों में चाँदी के सिक्कों का चलन नहीं है, और चलन हो भी तो हमारा रुपया सांकेतिक सिक्का होने के कारण अन्य देशवाले उसे यहाँ के सांकेतिक मूल्य पर लेना स्वीकार नहीं करते।

**भुगतान की विधि; सरकारी हुंडियाँ**—भिन्न-भिन्न देशों के लेन-देन का भुगतान करने के लिए हमेशा सिक्कों की आवश्यकता नहीं होती। उदाहरण के लिए पहले ऐसी व्यवस्था थी* कि यदि हमें

* सन् १९२७ से इस व्यवस्था में परिवर्तन हो गया। 'कौंसिल-बिल' की जगह स्टर्लिंग पौंड ने ले ली, और उसकी बिक्री का काम इम्पीरियल बैंक की लन्दन की शाखा द्वारा किया जाने लगा। अप्रेल १९३५ से यह कार्य भारत के रिज़र्व बैङ्क को सौंप दिया गया।

इंगलैंड के व्यापारियों से अपने निर्यात-माल की कीमत लेनी होती, और 'होम चार्जेज' (इंगलैंड में होनेवाले भारतवर्ष सम्बन्धी विविध खर्च) आदि के लिए भारत-मंत्री को रुपया भेजना होता तो भारत-मंत्री इंगलैण्ड के व्यापारियों के हाथ भारत-सरकार के नाम हुंडियाँ (कौंसिल-बिल) बेचकर हमारा रुपया जमा कर लेते। जो लोग हुंडियाँ खरीदते, वे उन्हें यहाँ भेज देते, और यहाँ के व्यापारी सरकार या बैंकों से हुंडियों का रुपया वसूल कर लेते। इस प्रकार इंगलैंड के व्यापारी भारतीय व्यापारियों को, और भारत-सरकार भारत-मंत्री को, बहुत सी नकदी भेजने की असुविधा और जोखिम से बच जाती थी।

कभी-कभी ऐसा भी होता था कि फसल अच्छी न होने आदि के कारण जब यहाँ से इंगलैंड को माल कम जाता था, तो हमें इंगलैंड को रुपया देना रहता था। इस दशा में भारत-सरकार भारत-मन्त्री पर की हुई हुंडियाँ* बेचती थी और वहाँ व्यापारियों से रुपया लेती थी। भारतीय व्यापारी भारत-सरकार से हुंडी खरीदकर इंगलैण्ड के व्यापारियों के पास भेज देते थे, और इंगलैंड के व्यापारी उन हुंडियों के बदले भारत-मन्त्री से सावरेन (पौंड) ले लेते थे। भारत-मन्त्री और भारत-सरकार, ज़ल्दी भुगतान करने के लिए, तार द्वारा भी व्यापारियों का काम कर देते थे। इसमें खर्च कुछ अधिक होता है।

जब विलायत के व्यापारियों को यहाँ अधिक भुगतान करना होता था, तो सरकारी हुंडी की माँग बढ़ जाती थी, अर्थात् अंगरेजी सिक्के के हिसाब से भारतीय सिक्के का मोल बढ़ जाता था; या यों कह सकते हैं कि हमारे विनिमय का भाव चढ़ जाता था। यह भाव इसी कदर चढ़ सकता था कि इंगलैंड के व्यापारियों को नकद रुपए भेजने की अपेक्षा हुंडी द्वारा भेजने में अधिक व्यय न करना पड़े। उदाहरण के लिए, इंगलैंड के किसी व्यापारी को भारत में १५) रु० भुगतान करना होता और उसके भेजने में छः आने खर्च होते, तो वह भारतमंत्री की १५)

* इन हुंडियों को उलटी हुंडियाँ (रिवर्स-कौंसिल-बिल) कहते हैं।

की हुंडी को १५।=) तक में लेने को तैयार हो जाता था।

**विनिमय की दर का आधार**—'विनिमय की दर' शब्द समूह व्यवहार भिन्न-भिन्न देशों के पृथक्-पृथक् सिक्कों के पारस्परिक भाव के लिए होता है। भारतीय दृष्टि से रुपए, आने, पाइयों के जिस भाव से पौंड, शिलिङ्ग, पेंस बन सकते हैं, उसे विनिमय की दर कहते हैं। इंगलैण्ड, अमरीका आदि देशों में एक ही धातु (सोने) के प्रामाणिक सिक्के प्रचलित हैं। इनमें विनिमय की दर में घट-बढ़ नहीं होती, जितनी चीन और भारत जैसे देशों में जहाँ चाँदी के सिक्के अपरिमित रूप से कानून-ग्राह्य हैं। सोने के भिन्न-भिन्न प्रामाणिक सिक्कों के परिवर्तन में दो बातों का ख्याल रखना होता है:—१—अगर एक सिक्का दूसरे देश को भेजा जाय, तो रास्ते का खर्च लगाकर उसकी कीमत क्या होगी? (जब विनिमय की दर, सिक्के की धातु की कीमत और भेजने के खर्च से ज्यादा होती है, तो लोग सिक्के ही पार्सल द्वारा, भेजने लगते हैं।); २—प्रत्येक सिक्के की टकसाली दर क्या है?

**टकसाली दर**—सोने के प्रामाणिक सिक्के रखनेवाले देशों के उन सिक्कों में लगे हुए असली सोने के परिमाण के पारस्परिक सम्बन्ध को "टकसाली दर" कहते हैं। उदाहरण के लिए यह दर बतलाएगी कि एक पौंड (इंगलैण्ड का सिक्का) में जितना सोना रहता है उतना कितने फ्रेंक (फ्रांस का सिक्का) में पाया जायगा। जब तक कोई देश अपने प्रामाणिक सिक्के की धातु का परिमाण न बदल दे, उसके सिक्के की, अन्य देशों के प्रामाणिक सिक्कों में टकसाली दर नहीं बदलती; क्योंकि टकसाली दर तो सिक्कों के असली सोने का पारिमाणिक सम्बन्ध-मात्र है। परन्तु ऐसी परिस्थिति वाले देशों में, जिनमें एक का स्टैंडर्ड-सिक्का तो सोने का और दूसरे का चाँदी का हो, टकसाली दर हमेशा बदलती रहती है; कारण, चाँदी की सोने में कीमत बदलती रहती है। यही दशा भारत में सन् १८९३ ई० के पहले थी। हमारा प्रामाणिक सिक्का (रुपया) चाँदी का था, और इंगलैण्ड तथा

अन्य कई देशों का, सोने का। इसलिए जैसे-जैसे चाँदी की सोने में कीमत बदली, वैसे-वैसे भारत की टकसाली दर भी बदल गई। परन्तु अब तो भारत में कोई प्रामाणिक सिक्का है ही नहीं। रुपए की बाजारू कीमत, उसमें जो चाँदी है, उसकी कीमत से कहीं अधिक है। इसलिए अब भारत और अन्य देशों के बीच में कोई टकसाली दर नहीं हो सकती।

**भारतवर्ष की विनिमय-दर; सन् १६१९ ई० तक**—इस देश का प्रचलित सिक्का रुपया है, और विदेशी व्यापार में पौंड का व्यवहार होता है, अतः रुपए और पौंड का पारस्परिक मूल्य का विषय अत्यन्त महत्व का है। सन् १८६३ ई० में भारत-सरकार ने एक रुपए का कानूनी मूल्य एक शिलिङ्ग चार पेंस निर्धारित किया। पहले योरपीय महायुद्ध ( १६१४-१८ ) के प्रारम्भ तक विनिमय की दर प्रायः १ शिलिङ्ग ४'२५ पेंस से अधिक नहीं बढ़ी, और न १ शिलिङ्ग ३.६३ पेंस से नीचे ही गिरी।*

युद्ध-काल में भारत से बहुत-सा अन्न आदि इंगलैंड गया, पर वहाँ से यहाँ बहुत कम सामान आ सका। संसार में चाँदी आवश्यकतानुसार प्राप्त न होने के कारण, उसका भाव चढ़ता गया। अतः कौंसिल-बिलों का भाव धीरे-धीरे बढ़ाना पड़ा। १ अगस्त, सन् १६१७ ई० को एक रुपए के बदले में १ शिलिङ्ग ५ पेंस मिलते थे; १५ अप्रैल सन् १६१८ ई० को यह दर १ शिलिङ्ग ६ पेंस, और १ मई १६१६ ई० को १ शिलिंग ८ पेंस, हो गई। ( क्रमशः बढ़ते-बढ़ते वह दर १ फरवरी सन् १६२० ई० को २ शिलिंग ८.५ पेंस तक चढ़ गई।

**सन् १६१६ ई० की करेंसी-कमेटी**—विनिमय में अभूतपूर्व गड़बड़ी होते देख, मुद्रा-व्यवस्था के प्रश्न पर विचार करने के लिए

---

* आवश्यकतानुसार कौंसिल-बिल (भारत-सरकार पर की हुई हुँडियाँ) और रिवर्स-कौंसिल-बिल ( भारत-मंत्री पर की हुई हुंडियाँ ) निकालकर विनिमय की यह दर स्थिर बनाए रखने में सहायता की गई।

सरकार ने मई, १६१६ ई० में एक करेंसी कमेटी नियत की। इसमें श्रीयुत दादीबा मिरवानजी दलाल ही एकमात्र हिन्दुस्तानी सदस्य थे, और शेष सब सदस्य अंगरेज़। श्री० दलाल ने अपना मत अलग प्रकट किया, और, सब अंगरेज सदस्यों का मत अलग रहा।

**बहुमत की सलाह**—बहुमत ( अंगरेज़ों ) की ख़ास-ख़ास सलाहें ये थीं—(१) सरकार को रुपए का भाव सोने में तय करना चाहिए; क्योंकि इंगलैंड में नोटों का अधिक प्रचार हो जाने के कारण सोने और कागजी पौंड के पारस्परिक भाव में अब वह स्थिरता नहीं रही। एक रुपए का मूल्य ११.३ ग्रेन के सोने के मूल्य के बराबर रखा जाय, अर्थात् सावरेन ( स्वर्ण-पौंड ) का भाव १५ रु० कर दिया जाय। एक रुपए की कीमत दो शिलिंग (स्वर्ण) हो, (२) यह भाव स्थिर हो जाने पर सोने के आयात पर से सरकारी रोक उठा दी जाय। (३) जिनके पास सावरेन हैं, उन्हें कुछ समय तक उन सावरेनों को सरकारी खजाने से पन्द्रह-पन्द्रह रुपए में भुनाने दिया जाय। (४) बम्बई में फिर सोने की टकसाल खोली जाय; और जो लोग सोना दें, उन्हें बदले में सावरेन ढालकर दिए जायँ। (५) चाँदी के आयात पर से सरकारी रोक, कुछ दिन बाद, उठा ली जाय, परन्तु उसकी निर्यात पर जारी रखी जाय। (६) प्रजा को अपनी पसन्द का सिक्का या नोट मिलना चाहिए, परन्तु अच्छा तो यही होगा कि विदेशी भुगतान के लिए सोना काम में लाया जाय, और देश में नोटों तथा रुपयों का विशेष व्यवहार रहे। (७) सरकार नोटों के बदले में रुपया देने के लिए सदा तैयार रहे।

**श्री० दलाल की सलाह**—(१) रुपए और सावरेन का भाव पहले-जैसा ही रखा जाय, १५ रु० का एक सावरेन रहे अर्थात् भारतवर्ष की विनिमय-दर १ शिलिंग ४ पेंस हो। (२) प्रजा को, सोना और उसके सिक्के तथा चाँदी मँगाने और बाहर भेजने का बे-रोक-टोक अधिकार दिया जाय। (३) सरकार बम्बई की टकसाल में, बिना कुछ

लिए ही, सोने के बदले में सावरेन ढालकर दिया करे। (४) रुपए में १६५ ग्रेन चाँदी रहती है। जब तक न्यूयार्क में चाँदी का भाव फी औंस ६२ सेंट* से उपर रहे, तब तक सरकार रुपए न ढाले, और एक अन्य सिक्का जारी करे, जिसका बाजारू मूल्य २ रु० हो। रुपए में अब जितनी चाँदी रहती है, उस नए सिक्के में उससे दुगुनी न हो—कुछ कम हो। (५) प्रजा का प्रचलित सिक्के ढलवाने का जो अधिकार प्राचीन काल से रहा है, वह पुनः दिया जाय। (६) करेंसी-नोट भारतवर्ष में छपें। एक रुपए वाले नोट बंद कर दिए जायँ, और फिर कभी उन्हें जारी न किया जाय। (७) पेपर-करेंसी रिजर्व का जो धन इङ्गलैंड में रहता है; वह भारत में रखा जाय।

**भारत-सरकार का निर्णय**—भारत-मन्त्री ने श्रीयुत दलाल की सलाह न मानकर बहुमत की ही सलाह को स्वीकार किया। और, भारत-मन्त्री के आज्ञानुसार भारत-सरकार ने अपनी सूचनाएँ प्रकाशित कीं। सावरेन का कानूनी भाव दस रुपए कर दिया गया। सोने का आयात कुछ समय के लिए सरकार ने अपने हाथ में रखा, जिससे यहाँ सोना लाकर उसका भाव गिरा दिया जाय। सावरेन और आधे सावरेन के बदले में रुपया देना बन्द कर दिया गया। चाँदी के आयात पर का चार आने फी-औंस कर उठा दिया गया, परन्तु निर्यात पर कर जारी रहा। सावरेन और रुपए को, सिक्के के सिवा और किसी काम में लाने की निषेधात्मक सरकारी आज्ञा वापस ले ली गई। यह भी निश्चय किया कि सरकार को खास अपने काम के लिए जितनी हुंडियाँ करना आवश्यक होगी, उतनी ही की जायँगी।

**इसका परिणाम**—जिस समय करेंसी-कमेटी ने इस प्रश्न पर विचार करना आरम्भ किया था, यहाँ रुपए की दर बहुत बढ़ी हुई थी, तथा बढ़ती जा रही थी। परन्तु वह वृद्धि स्थायी नहीं थी। दर बढ़ने का विशेष कारण था, युद्ध-काल में भारत से इंगलैंड को माल बहुत

* भारतवर्ष में, उस समय के हिसाब से, लगभग साढ़े सतरह आने फी तोला।

अधिक गया, तथा वहाँ से यहाँ बहुत कम सामान आ सका। पीछे इस स्थिति का बदलना अनिवार्य था, और वह बदली। अस्तु, अस्थायी स्थिति लक्ष्य में रखकर उपर्युक्त स्थायी व्यवस्था का किया जाना अनुचित था। अतः सरकार के इस निर्णय का घोर विरोध हुआ। साधारण नियम है कि जिस देश की मुद्रा की दर अन्य देशों की मुद्रा की तुलना में कुछ नीची होती है, उस देश का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-संतुलन उसके पक्ष में होता है, अर्थात् उसकी निर्यात् अधिक होती है, और आयात कम होती है। भारत-सरकार का रुपए की ऊँची दर कायम करने का उपर्युक्त निर्णय इस देश के लिए बहुत हानिकर सिद्ध हुआ; यहाँ का निर्यात-व्यापार बहुत घट गया और व्यापार-संतुलन इस देश के विपक्ष में हो गया। देश को प्रतिवर्ष बहुत हानि उठानी पड़ी। विनिमय की दर में कमी करने की माँग उत्तरोत्तर प्रबल होने लगी।

**हिल्टनयंग कमीशन**—आरम्भ में सरकार ने कुछ ध्यान न दिया। जनता का असंतोष तथा हानि बढ़ती गई। अन्त में अगस्त सन् १९२५ ई० में, जब सरकार ने यह समझा कि परिस्थिति काफी स्थायी हो गई है, मुद्रा तथा विनिमय पर विचार करने के लिए एक शाही कमीशन नियत किया गया, जो अपने सभापति के नाम से हिल्टनयंग कमीशन कहलाया। इसकी रिपोर्ट अगस्त सन् १९२६ ई० में प्रकाशित हुई। रिपोर्ट में सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास का मत-भेद था।

कमीशन (के बहुमत) ने भारतवर्ष में सोने के सिक्के का प्रचलन उचित नहीं समझा, और न यही कि रुपए के बदले में सोने का निर्धारित परिमाण कानून से निश्चित किया जाय। उसकी सिफारिशों में से मुख्य ये थीं :—१—रुपए की विनिमय-दर एक शिलिंग छः पेंस हो। २—कागजी-मुद्रा-कोष और मुद्रा-ढलाई-लाभ-कोष मिलाकर इकट्ठे रखे जायँ। ३—रिजर्व-बैंक स्थापित किया जाय।

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास का विशेष विरोध भारतीय विनिमय-दर के सम्बन्ध में था। उनका मत था कि सितम्बर १६२४ ई० में रुपए की दर लगभग एक शिलिङ्ग चार पेंस थी, और यही दर अधिक उपयुक्त एवं स्थायी है, तथा भारतवर्ष के हित की दृष्टि से उचित है।

सरकार ने कमीशन के बहुमत की रिपोर्ट पसन्द की और उसके आधार पर जनवरी १६२७ में तीन कानूनों के मसविदे प्रकाशित किए, जिनके उद्देश्य ये थेः—(१) ब्रिटिश भारत के लिए स्वर्ण-परिमाण-मुद्रा का चलन और रिजर्व बैङ्क की स्थापना (२) सन् १६२० ई० के इम्पीरियल-बैङ्क-कानून का संशोधन, और (३) सन् १६०६ ई० के मुद्रा-कानून तथा १६२३ ई० के कागजी-मुद्रा-कानून का संशोधन। नया मुद्रा-कानून अप्रेल सन् १६२७ ई० से अमल में आया; इसके अनुसार सावरेन और अर्द्ध-सावरेन कानून-ग्राह्य सिक्के न रहे। रुपए की दर एक शिलिंग छः पेंस निर्धारित कर दा गई।

२१ सितम्बर १६३१ ई० से ब्रिटिश सरकार ने इङ्गलैण्ड में सोने के प्रामाणिक सिक्के का प्रचार स्थगित कर दिया। उस समय से कागजी पौंड की दर स्वर्ण-पौंड से भिन्न हो गई। अब एक कागजी पौंड के बदले उतना सोना नहीं मिलता, जिसका मूल्य एक स्वर्ण-पौंड के बराबर हो। भारत की विनिमय-दर भी कागजी पौंड के साथ ही स्थिर की गई, वह एक शिलिङ्ग छः पेंस स्टर्लिंग ( कागजी पौंड ) के बराबर रखी गई। भारतीय नेताओं का मत यह था कि यह दर एक शिलिङ्ग चार पेंस हो।

**विनिमय-दर ऊँची होने का प्रभाव**—भारत-मन्त्री और भारत-सरकार की यह राय रही कि भारतवर्ष की विनिमय-दर ऊँची रहने से इस देश को लाभ है। रुपए का भाव सोने और सावरेन में बढ़ जाने अर्थात् १६ पेंस के बदले १८ पेंस रहने के पक्ष में ये बातें कही गई—विलायती माल का भुगतान करने में, रुपया कम देना होता है, विदेशी माल सस्ता पड़ता है, और मशीन आदि मँगाने में कम व्यय होने से यहाँ

के व्यवसाय को सहायता मिलती है। (२) होम-चार्जेज का भुगतान थोड़े रुपयों में ही हो जाने से प्रति वर्ष कई करोड़ रुपए की बचत होती है। (३) भारतवर्ष में बहुत-सी विदेशी वस्तुओं का उपभोग होता है; विनिमय-दर ऊँची रहने से वे वस्तुएँ यहाँ कम मूल्य में मिलती हैं। (४) जिन भारतीयों को इङ्गलैण्ड आदि में रुपया देना होता है, वे अपेक्षाकृत कम रुपया देकर ही अपने ऋण से मुक्त हो सकते हैं। (५) अंगरेजों या अन्य देशवालों की बचत या पेंशन आदि का रुपया यहाँ से बाहर भेजने में उन्हें या उनके परिवारवालों को अपेक्षाकृत अधिक धन मिलता है।

यह तो हुई लाभ की बात; अब हानि का विचार कीजिए। (१) भारत की विनिमय-दर बढ़ी होने से जर्मनी आदि योरपीय देश तथा अमरीका भारतवर्ष का माल कम खरीदते हैं, इसका प्रभाव विशेषतया भारत के गरीब ग्रामीणों पर पड़ता है, कारण कि यहाँ अधिकांश में कच्चे माल की निर्यात होती है, और कच्चा माल पैदा करनेवाले निर्धन किसान ही हैं। भारतवर्ष के प्रचलित सिक्के का मूल्य बढ़ा हुआ होने से विदेशी व्यापारी भारतीय माल के स्थान पर अन्य देशों का माल खरीदते हैं। विगत वर्षों में रुई और चावल के व्यवसाय को भारी क्षति पहुँची है। (२) भारतवर्ष में स्वदेशी माल अपेक्षाकृत महँगा पड़ता है, उसका उपभोग करनेवालों को अधिक द्रव्य खर्च करना होता है। (३) जिन्हें विदेशवालों से रुपया लेना होता है, उन्हें अपने द्रव्य के बदले कम रुपया मिलता है। (४) विलायती माल सस्ता होने से उसकी खपत यहाँ बढ़ जाती है, और स्वदेशी व्यवसायों को धक्का पहुँचता है। हमें वैसा सस्ता माल बनाने का अवसर नहीं मिलता, इससे हमारे उद्योग-धन्धों को बहुत हानि होती है। (५) जो सावरेन या सोना यहाँ सरकारी कोषों में रखा हुआ है, उसका मूल्य घट जाने से हमें करोड़ों रुपए की हानि होती है।

इस प्रकार यद्यपि विनिमय की दर ऊँची होने से कुछ लाभ भी है,

किन्तु उस लाभ की अपेक्षा हानि अधिक है। भारतीय नेताओं का यह मत रहा कि यहाँ विनिमय की दर कम, अर्थात् एक शिलिंग चार पेंस होनी चाहिए। इससे देश के औद्योगिककरण में सहायता मिलेगी और उसकी आर्थिक उन्नति होगी। इसके लिए कुछ लोगों की थोड़ी-बहुत हानि हो तो वह सहन की जानी चाहिए।

**युद्ध और विनिमय-दर**—युद्ध का विनिमय-दर पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह जानने के लिए तीन दशाएँ विचारणीय होती हैं—(१) उन दो देशों की विनिमय-दर जो लड़ाई में भाग लेते हैं, और एक-दूसरे के शत्रु होते हैं। इन देशों में पारस्परिक व्यापार बन्द हो जाता है, इसलिए इनकी कोई विनिमय-दर नहीं रहती (२) उन देशों की विनिमय-दर जो लड़ाई में भाग लेते हैं, परन्तु जो एक ही पक्ष के होते हैं, अर्थात् परस्पर में मित्र होते हैं। युद्ध में संलग्न प्रत्येक देश को अपनी, विशेषतया कागजी मुद्रा बढ़ाने की आवश्यकता होती है। इस मुद्रा का जितना अधिक प्रसार होगा उतनी ही उसकी कीमत अन्य मुद्राओं तथा पदार्थों में कम होती जाती है। इस प्रकार युद्ध में भाग लेनेवाले एक ही पक्ष के दो देशों की मुद्रा की विनिमय-दर घटती-बढ़ती रहती है, और यह घट-बढ़ इस बात पर निर्भर होती है कि उक्त देशों ने अपनी कागजी मुद्रा का प्रसार कहाँ तक किया है, और ऐसा करने से उनकी मुद्राओं की कीमत कहाँ तक घटती है। (३) उन दो देशों की विनिमय-दर जिनमें से एक युद्ध में संलग्न हो और दूसरा तटस्थ हो अर्थात् युद्ध में भाग न ले रहा हो। इन दो देशों की विनिमय-दर युद्ध में संलग्न देश की कागजी मुद्रा की कीमत की घटबढ़ पर निर्भर होती है।

**विनिमय-नियन्त्रण**—( दूसरा ) महायुद्ध शुरू होने पर केन्द्रीय सरकार ने रिज़र्व बैंक को यह अधिकार सौंप दिया कि वह देखे कि सर्व-साधारण उन नियमों की पाबन्दी ठीक तरह करते हैं, जो सिक्का, सोना-चाँदी, ऋण-पत्र और विदेशी विनिमय के नियन्त्रण के सम्बन्ध

में बने हों। यह अनिवार्य कर दिया गया कि विदेशी विनिमय सम्बन्धी सब कारोबार विनिमय-बैंकों तथा भारतीय मिश्रित पूँजी के कुछ खास बैंकों द्वारा किया जाय, जिन्हें इस विषय का लायसेंस प्राप्त हो। साधारणतया साम्राज्यान्तर्गत देशों की मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया; इसके विपरीत, साम्राज्य से बाहर के देशों की मुद्राओं का क्रय-विक्रय केवल इन कार्यों के लिए सीमित कर दिया गया—वास्तविक व्यापार कार्य, यात्रा-व्यय, तथा निजी कार्य के लिए भेजी जानी वाली रकम, विदेशों से ऋण-पत्र खरीदे जाने का भी नियंत्रण किया गया, और रिज़र्व बैंक की पूर्वानुमति बिना, ऋण-पत्रों का निर्यात बन्द कर दिया गया। इन बातों का उद्देश्य यह था कि भारतवर्ष से पूँजी ब्रिटिश साम्राज्य से बाहर के देशों को न जाय, और विनिमय में सट्टा न हो।

**सोने की निर्यात और भारत-सरकार**—दूसरे महायुद्ध से कुछ वर्ष पहले सोने के भाव में तेजी रही थी। इस समय भारतवासियों ने अपना बहुत सा सोना बेच डाला और वह विदेशों में, खासकर इंगलैंड गया। सरकार से कहा गया कि वह सोने के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगावे और स्वयं रक्षित-कोष में जमा करने या स्वर्ण-मुद्रा जारी करने के लिए खरीद ले। पर उसने यह स्वीकार न किया। इस प्रकार इंगलैंड ने भारत का ५-६ अरब रुपए का सोना खरीद कर अमरीका को अपने देने में चुकाया। युद्ध-काल में सोने चाँदी के भाव और भी तेज होने से निर्यात और भी अधिक हुआ। जब बहुत-सा सोना चाँदी यहाँ से निकल गया तब सरकार ने सोने के निर्यात पर कुछ रोक लगाई वह भी इंगलैण्ड के हित की रक्षा करते हुए। फिर, इस बीच में उसने लंदन के रिजर्व बैंक की शाखा में जमा सोना-चाँदी सस्ते भाव में बेच डाला, उसके इस कार्य का बहुत विरोध हुआ तो उसने कहा कि जिस भाव में खरीदा था, उससे तेज़ में ही बेचा है। स्थिति यह थी कि लंदन की अपेक्षा बम्बई में भाव बहुत बढ़ा हुआ था। पर सरकार ने यहाँ न बेचकर देश

को काफी नुकसान पहुँचाया। उसने देश के हितों की उपेक्षा की, और इसे हानि पहुँचा कर भी इंगलैंड का हित-साधन किया।

ऊपर सोने की निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने की बात आई है। सरकार ने ऐसी व्यवस्था की कि सोना ब्रिटिश भारत के अन्दर तो पहले की भाँति लाया-लेजाया जाता रहे, परन्तु उसकी आयात और निर्यात उसी दशा में हो सकती थी, जब रिजर्व बैंक इसके लिए लायसेंस दे दे। आयात के लिए तो लायसेंस प्रायः मिल ही जाते थे पर निर्यात के लिए लायसेंस उसी दशा में मिलते थे, जब सोना बैंक-आफ-इंगलैण्ड को भेजा जाता, या अगर अमरीका भेजा जाता तो डालर में होनेवाली आय बैंक-आफ-इंगलैण्ड की ओर से रिजर्व बैंक को बेची जाय। इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य से बाहर के देशों को तो सोना भेजा जाना रोका गया, पर ब्रिटिश साम्राज्य में, खासकर इंगलैण्ड में सोना जाता ही रहा।

**अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-बैंक और कोष**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अच्छी तरह चलाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक देश की मुद्रा का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य स्थिर रहे। पहले महायुद्ध के बाद कई देशों ने अपने सिक्के के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य में बहुत परिवर्तन किए, इससे व्यापार में बड़ी उथल-पुथल मची। ऐसी ही स्थिति फिर न आ जाय, इस विचार से दूसरे महायुद्ध के समय मित्र-राष्ट्रों ने ब्रेटिनवुड में मिलकर एक समझौता किया। उनकी कान्फ्रेंस में खासकर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-फंड और बैङ्क की योजना के सम्बन्ध में विचार किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बैंक का कार्य इस योजना में सम्मिलित देशों को उत्पादन-कार्य के लिए विदेशी पूँजी लगाने में सहायता देना, युद्ध के समय बिगड़ी हुई आर्थिक व्यवस्था के पुनर्निमाण के लिए सुविधा पहुँचाना, पिछड़े हुए देशों को उत्पादन बढ़ाने के लिए धन से सहायता देना, तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लेन-देन की विषमता को दूर करने के वास्ते विदेशी पूँजी को उत्पादन कार्य में लगाने के लिए प्रोत्साहित करना है।

इस बैंक के सदस्य-देशों को अपनी मुद्रा का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य

सोने में या डालर में निर्धारित करना होगा। इसके बाद यदि कोई देश चाहे तो बैंक से विचार-विनिमय करके, उस मूल्य में दस-प्रतिशत घटा-बढ़ी कर सकेगा, अधिक नहीं।

जो देश इस योजना में सम्मिलित हैं, वे ही बैंक के सदस्य हो सकते हैं। बैंक की एक अधिकृत पूँजी रहेगी, जो हिस्सों में विभक्त होगी। हर एक देश निर्धारित हिसाब से निश्चित संख्या में उन हिस्सों को खरीद सकेगा। बैंक के संचालन के लिए १२ सदस्यों का बोर्ड होगा, जिनमें से ५ स्थायी होंगे। शेष सदस्य निर्वाचन द्वारा लिए जायंगे।

इस योजना के अनुसार बैंक किसी देश को रुपया तभी उधार देगा जब वह यह समझ लेगा कि उस देश को किसी दूसरी जगह से नहीं मिल सकता; जब एक विशेषज्ञ-कमेटी यह गारंटी कर दे कि जिस कार्य के लिए रूपया लिया जा रहा है, वह आर्थिक दृष्टि से ठीक है; और जब बैंक को यह विश्वास होगा कि व्याज की दर तथा मूलधन की वापसी की शर्तें ठीक हैं। अधिकतर रूपया किसी विशेष योजना के लिए दिया जायगा, और बैंक इस बात का ध्यान रखेगा कि रूपया उसी योजना में खर्च किया जाता है।*

**बैंक की पूंजी और हिस्से**—बैंक की पूंजी का प्रारम्भिक परिमाण ८ अरब ८० करोड़ डालर रखा गया है। इसमें अमरीका का हिस्सा २७५ करोड़, इंगलैण्ड का १३० करोड़, रूस का १२० करोड़, चीन का ५५ करोड़, फ्रांस का ४५ करोड़, और भारतवर्ष का ४० करोड़ डालर है।

कोष में प्रत्येक देश का हिस्सा इस हिसाब से रहता है—

(अ) सोने में हिस्से का २५ प्रतिशत, अथवा अपने समस्त संगृहीत सोने और डालर का १० प्रतिशत (जो भी कम हो)।

(आ) शेष हिस्सा अपनी निजी करेंसी में।

**अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-बैंक और भारत**—पहले कहा जा चुका है

* 'हमारी आर्थिक समस्याएँ'—ले०—श्री० दुबे और अग्रवाल।

कि भारतवर्ष का भी इस बैंक में हिस्सा है, इस प्रकार वह भी इसका सदस्य है। विगत वर्षों में जब भारत-सरकार ने रुपए की विनिमय-दर एक शिलिंग छः पैंस घोषित की थी, तब उसका बहुत विरोध हुआ था। पर अन्त में यही निश्चय रहा कि वर्तमान अनिश्चित अवस्था में इस दर को बदलना ठीक नहीं। इस प्रकार यही दर रखी गई।

भिन्न-भिन्न देशों के सिक्कों के मूल्य का समान आधार सोना ही है। रुपए की मूल्य दर ४'१४५ ग्रेन (ट्राय) सोना मान ली गई है, और इस वजन के आधार पर रुपया-डालर दर निर्धारित की गई है और एक डालर ३'३०८५ रुपए का अथवा ४ शिलिंग ११'५५ पेन्स का माना गया है।

भारतवर्ष में उत्पादन कार्य सम्बन्धी सामग्री की बहुत आवश्यकता है। कपड़ा, खाने का सामान तथा अन्य आवश्यक पदार्थों की यहाँ कमी है। इन्हें पैदा करने के लिए जो मशीनें या औजार आदि सामग्री चाहिए वह इङ्गलैंड से बहुत कम मिल सकती हैं, वह तो अधिकतर अमरीका तथा अन्य देशों में ही उपलब्ध हैं। इस प्रकार भारत को डालर, तथा अन्य मुद्राओं की बहुत आवश्यकता है। यह आवश्यकता स्टर्लिंग पावनों को (जो इङ्गलैण्ड को भारत का देना है) दूसरी करेन्सियों में बदलने से पूरी की जासकती है। अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष को इस विषय में भारत की सहायता करनी चाहिए। यदि यह बैंक खासकर योरपीय देशों के ही हित-साधन का प्रयत्न करेगा तो इसके निर्माण का उद्देश्य सफल न होगा।



# पाँचवाँ भाग
# विनिमय और व्यापार

## बीसवाँ अध्याय
## कीमत

**विनिमय और कीमत**—विनिमय की आवश्यकता इस पुस्तक के पहले भाग में बताई जाचुकी है। आधुनिक संसार में विनिमय का कार्य तभी होता है, जब पदार्थों की कीमत रुपए-पैसे आदि के रूप में निश्चित कर दी जाती है। मुद्रा का वर्णन हम पिछले भाग में कर चुके हैं। अब कीमत के सम्बन्ध में विचार करना है। किसी वस्तु की कीमत का उसके बाजार से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

**बाजार और उसका क्षेत्र**—अर्थशास्त्र में किसी पदार्थ के बाजार से उस स्थान का ही अभिप्राय नहीं होता, जिसे हम अपनी साधारण बोलचाल में बाजार या मंडी कहते हैं, वरन् उस सारे क्षेत्र से होता है, जिसमें बेचने और खरीदनेवाले आपस में अच्छी तरह भाव-ताव कर सकें, अर्थात् जहाँ तक उस पदार्थ की कीमत समान होने की प्रवृत्ति हो। यदि किसी वस्तु का व्यापार संसार के भिन्न-भिन्न देशों में आसानी से और थोड़े खर्च से होता हो, तो उसका बाजार तमाम दुनिया हो सकती है। इसे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार कहते हैं। किसी एक वस्तु के कई-कई बाजार होते हैं। उनमें उसकी कीमत पूर्ण रूप से समान नहीं होती; क्योंकि भिन्न-भिन्न स्थानों में चीजों के लेजाने में खर्च पड़ता है। कस्टम, चुंगी या अन्य व्यापारिक कर, इस खर्च में ही शामिल हैं।

डाक, तार, टेलीफोन, बैंक, रेल, नहर, सड़कें, सामान ढोने की मोटरें आदि—जिनके द्वारा माल एक स्थान से दूसरे स्थान पहुँचाया जाता है,

अथवा जो व्यापार के साधनों में हैं, और जिनसे समय और धन की किफायत होती है—और शान्ति सुरक्षा या सुव्यवस्था बाजार के क्षेत्र को बढ़ानेवाली होती हैं।

किसी वस्तु का बाजार विस्तृत होने के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं :—

(१) वह वस्तु आसानी से ले जाई जा सके; मकान आदि की तरह स्थिर, अथवा कई प्रकार के फलों या मछली आदि की की तरह जल्दी बिगड़नेवाली न हो।

(२) उसके लेजाने में समय और खर्च कम लगे।

(३) उसकी माँग विस्तृत हो।

(४) उसका वर्णन किए जाने की सुगमता हो।

वस्तु के वर्णन की सुगमता ऐसी होनी चाहिए कि दूर-दूर रहनेवाले खरीददार अच्छी तरह यह जानलें कि वे किस प्रकार का माल मँगा रहे हैं। फिर, वस्तु ऐसी होनी चाहिए कि वह बिना टूटे या सड़े हुए दूर-दूर तक जा सके। कई फल और मछलियाँ आदि चीज़ें ऐसी हैं कि जब तक उन्हें बर्फ आदि में, अथवा वैज्ञानिक रीति से, न रखा जाय, उनका बाजार विस्तृत नहीं हो सकता। पत्थर की नक्काशी तथा शीशे की वस्तुएँ आदि को दूर भेजने के लिए बड़ी सावधानी से 'पैक' करना पड़ता है, इसका व्यय तथा मार्ग में उनके टूट जाने की संभावना उनकी कीमत को बढ़ा देती है।

संसार-भर जिन वस्तुओं का बाजार है, उनका उत्तम उदाहरण सोना, चाँदी, तथा सरकारी सिक्यूरिटियाँ (ऋण-पत्र) हैं। इनसे कम विस्तृत बाजार बड़ी-बड़ी कंपनियों के स्टाक या शेअरों का होता है। यद्यपि खेती के पदार्थों की सबको आवश्यकता रहती है, तथापि इनका बाजार बहुत विस्तृत नहीं होता; कारण, दूर-दूर के आदमियों को इन का ठीक-ठीक परिचय देना कठिन होता है; और कीमत के विचार से ये सोना चाँदी आदि की अपेक्षा बहुत वज़नी होते हैं, तथा बहुत

स्थान घेरते हैं। सब से कम विस्तृत बाजार भूमि का है। मकानों अथवा व्यक्तिगत रुचि के अनुसार बने हुए सामान की भी प्रायः ऐसी ही दशा है।

**कीमत का माँग और पूर्ति से सम्बन्ध**—वस्तुओं की कीमत उनकी माँग और पूर्ति के अधीन है। किसी वस्तु की माँग की अपेक्षा पूर्ति कम होने पर उसके खरीददार आपस में चढ़ा-ऊपरी करने लगते हैं। जिसे उसकी ज़रूरत होती है, वह यही चाहता है कि दूसरों को वह मिले या न मिले, पर मुझे मिल जाय। इस चढ़ा-ऊपरी के कारण चीज की कीमत चढ़ जाती है—वह महँगी हो जाती है। इसी तरह वस्तु की माँग की अपेक्षा, पूर्ति अधिक होने से उसके बेचनेवाले चढ़ा-ऊपरी करते हैं, और माल की कीमत गिर जाती है। इससे स्पष्ट है कि चीज की अधिक पूर्ति या कम माँग होने पर कीमत कम होती है, और पूर्ति के कम या माँग के अधिक होने पर कीमत अधिक हो जाती है।

किसी खास समय में किसी वस्तु की कीमत वही होती है, जिस पर जितनी उसकी माँग हो, उतनी ही उस समय उसकी पूर्ति भी हो। यों भी कह सकते हैं, किसी कीमत पर सौदा तय होने के लिए यह आवश्यक है कि उस कीमत पर माँग और पूर्ति बराबर हो। उदाहरण के लिए नीचे कपड़ा सीने की मशीन की माँग और पूर्ति की सारिणी दी जाती है—

| कीमत फी मशीन | मशीनों की संख्या | |
|---|---|---|
| (रुपयों में) | माँग | पूर्ति |
| २०० | १५० | २००० |
| १५० | ५०० | १७०० |
| ११० | ६०० | १२०० |
| १०० | ११०० | ११०० |
| ७५ | १५०० | ७५० |
| ५० | १२०० | २०० |

जैसे-जैसे मशीन की कीमत घटती जाती है, वैसे-वैसे उसकी मांग बढ़ती, और पूर्ति घटती जाती है। मशीन की १००) कीमत होने पर माँग और पूर्ति दोनों बराबर हैं। इस लिए इसी दर पर सौदा तय होगा।

**कीमत पर यातायात के साधनों की वृद्धि का प्रभाव**—यातायात के साधनों की वृद्धि का भी पदार्थों की कीमत पर प्रभाव पड़ता है; क्योंकि इससे पदार्थों के बाजार का क्षेत्र बढ़ता है; और बाजार का क्षेत्र जितना बढ़ता है, उतनी पदार्थों की माँग बढ़ती है, और इससे (यदि उत्पत्ति न बढ़े) कीमत बढ़ती है। कभी-कभी इसका उलटा परिणाम भी होता है। कल्पना करो, भारतवर्ष का यातायात-सम्बन्ध किसी ऐसे देश से हो जाता है, जहाँ आदमियों की किसी आवश्यकता की पूर्ति करनेवाला कोई पदार्थ सस्ता पैदा या तैयार होता हो; अब वह पदार्थ यहाँ अधिक परिमाण में आने लगेगा, नतीजा यह होगा कि भारतवर्ष के उस स्वदेशी पदार्थ की कीमत गिर जायगी।

**कीमत और उत्पादन-व्यय**—चीजों की कीमत से उत्पादन-व्यय का बहुत सम्बन्ध है। उत्पादन-व्यय में कच्चे माल की कीमत, लगान, सूद, वेतन आदि सम्मिलित हैं। जब किसी पदार्थ की उत्पत्ति में इन मदों का खर्च बढ़ेगा, तो उस पदार्थ की कीमत भी बढ़ जायगी; इसी प्रकार इन मदों का खर्च कम होने पर वह पदार्थ कुछ सस्ता हो जायगा। उत्पादन-कार्य में काम आने योग्य किसी नई बढ़िया मशीन का आविष्कार हो जाने से, अथवा कोई अच्छी उत्पादन-विधि मालूम हो जाने से भी पदार्थ का उत्पादन-व्यय, और, फल-स्वरूप पदार्थ की कीमत घटेगी।

**कीमत की घटबढ़**—अब हम यह विचार करेंगे कि बाजार में, पदार्थों की कीमत में घटबढ़ क्यों हुआ करती है। पहले यह जान लेना चाहिए कि कीमत की घटबढ़ का आशय क्या है। पदार्थों की कीमत घटी हुई उस समय कही जाती है, जब उनके निर्धारित परिमाण के बदले रुपया कम देना होता है; दूसरे शब्दों में पदार्थों की कीमत

घटना; रुपए की कीमत बढ़ना है। इसी प्रकार पदार्थों की कीमत बढ़ने का मतलब रुपए की कीमत गिरना कहा जा सकता है। साधारण बोलचाल में पदार्थों की कीमत की घटबढ़ की बात कही जाती है, रुपए की कीमत की घटबढ़ की बात नहीं कही जाती; तथापि ऊपर कही हुई बात याद रहनी चाहिए।

**कुछ विशेष पदार्थों की कीमत घटने-बढ़ने के कारण**—कीमत की घटबढ़ के कारणों पर विचार करते हुए, हमें दो अलग-अलग दशाओं को सामने रखना है, (१) जब किसी एक या कुछ विशेष पदार्थों की कीमत में घटबढ़ हो, और (२) जब सब पदार्थों की कीमत एक-साथ घट जाय, अथवा एक-साथ बढ़ जाय। पहले इनमें से पहली दशा का विचार करते हैं।

खेती के पदार्थों की मांग जनसंख्या की वृद्धि से बढ़ सकती है; और, पूर्ति, वर्षा न होने या कम होने से घट जाती है। भारतवर्ष की जनसंख्या तथा सिंचाई के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। इसके अतिरिक्त आजकल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि में विदेशों की स्थिति का भी भारतवर्ष की माँग और पूर्ति पर बड़ा असर पड़ता है। यदि इंगलैंड या अमरीका आदि में किसी पदार्थ की फसल मारी जाय, अथवा पैदावार बहुत अधिक हो जाय तो भारतवर्ष पर उसका असर पड़े बिना नहीं रह सकता। संसार में समय-समय पर युद्ध होते रहते हैं, इनमें बहुत से पदार्थ नष्ट होते हैं, तथा अनेक आदमियों के युद्ध में प्रवृत्त होने, तथा पीछे बहुत-सों के मर जाने या जख्मी हो जाने से उत्पादन-कार्य कम होता है। इससे पूर्ति कम हो जाती है, और माँग बढ़ जाती है; फलस्वरूप कीमत बहुत चढ़ जाती है।

यहाँ खाद्य पदार्थों की कीमत कुछ ऊँची होने का कारण यह भी है कि विदेशों में जूट, रुई और तमाखू आदि की माँग अधिक होने से और वहाँ इनके दाम अधिक मिलने के कारण, भारतवर्ष में इन पदार्थों की पैदावार बढ़ाने की ओर ध्यान रहता है; नतीजा यह होता

है कि खाद्य पदार्थों की पैदावार कम की जाती है।

विदेशी वस्तुओं की कीमत बढ़ने का एक कारण उन पर लगने वाला संरक्षण-कर भी होता है, जो विदेशी वस्तुओं के प्रारम्भिक अवस्था वाले उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देने के लिए लगाया जाता है। यह कर अवश्य उपयोगी होता है, किन्तु इससे कुछ समय के लिए उपभोक्ताओं को विदेशी पदार्थों की कीमत अधिक देनी पड़ती है; हाँ, पीछे उन्हें इस कर से अच्छा लाभ होता है।

**सब पदार्थों की कीमत एक-साथ घटने-बढ़ने के कारण**—कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक-साथ सभी चीजों की कीमत में अन्तर हो जाता है। उदाहरण के लिए इस समय महायुद्ध से पहले की अपेक्षा, सब पदार्थों का मूल्य तिगुना-चौगुना है। इसका कारण रुपए-पैसे के परिमाण या चलन-गति की वृद्धि है। इसका कुछ वर्णन कागजी मुद्रा के अध्याय में किया जा चुका है और आगे भी विचार किया जायगा। क्योंकि आदमी अपनी साख के बल पर माल खरीदकर उस पर वैसा ही स्वत्व या अधिकार प्राप्त कर लेते हैं, जैसा नकद रुपया देकर खरीदने से होता है, यह स्पष्ट है कि साख तथा बैङ्किङ्ग कार्य की कमी या वृद्धि से भी कीमत की घट-बढ़ होती है।

**कीमत पर विनिमय-दर का प्रभाव**—बहुत से पदार्थों की कीमत एक-साथ घटने-बढ़ने का एक कारण विनिमय की दर का उतार-चढ़ाव भी होता है। मिसाल के तौर पर इस समय यहाँ रुपए का विनिमय-मूल्य, अंगरेजी सिक्के में अठारह पेंस ( एक शिलिंग छः पेंस ) है; यदि भारत-सरकार इसे १६ पेंस कर दे तो अंगरेज व्यापारी हमारा माल अधिक खरीदेंगे। कल्पना करो कि यहाँ गेहूँ रुपए का तीन सेर मिलता है, तो वर्तमान दशा में अंगरेज व्यापारी को १८ पेंस खर्च करने से तीन सेर गेहूँ मिलते हैं।* रुपये की विनिमय-दर १६ पेंस हो

* उदाहरण को सरल करने के लिए, यहाँ रुपया भेजने या माल मँगाने के खर्च का विचार नहीं किया जाता।

जाने पर उसे तीन सेर गेहूँ खरीदने के लिए दो पेंस कम खर्च करने होंगे। ऐसी स्थिति में वह स्वभावतः गेहूँ भारत के बाजार में अधिक खरीदेगा। इससे वहाँ गावों और कस्बों में गेहूँ की खरीद बढ़ जायगी, उसका भाव चढ़ जायगा; गेहूँ रुपए का तीन सेर के बजाय सम्भव है पौने तीन सेर बिकने लगे।

विनिमय की दर गिरने से इंगलैण्ड का माल भारतवर्ष में मँहगा पड़ने लगेगा। उदाहरण के लिए भारतवर्ष में लंकाशायर का कोई कपड़ा इस समय यहाँ रुपए का एक गज मिलता है, तो अंगरेज व्यापारी अठारह पेंस में चार गज कपड़ा दे रहा है, जब रुपए का विनिमय-मूल्य सोलह पेंस हो जायगा तो अंगरेज व्यापारी एक रुपए में अर्थात् सोलह पेंस में लगभग चौदह गिरह कपड़ा दे सकेगा।

इसी प्रकार उदाहरण देकर यह बताया जा सकता है कि भारतीय विनिमय की दर अंगरेजी सिक्के में चढ़ने से यहाँ इंगलैण्ड का माल सस्ता मिलेगा और भारतवर्ष का सामान इंगलैण्ड वालों को मँहगा पड़ेगा। इससे स्पष्ट है कि विनिमय की दर का चढ़ाव-उतार भी कीमत की घट-बढ़ का कारण होता है। यद्यपि इसका सीधा सम्बन्ध तो आयात-निर्यात के पदार्थों से ही है, पर जब उनकी कीमत में अन्तर आता है, तब उसका असर दूसरे पदार्थों पर पड़े बिना नहीं रहता।

**एकाधिकार में कीमत**—अब तनिक इस बात का भी विचार करलें कि एकाधिकार का कीमत पर क्या प्रभाव पड़ता है। आम तौर से यह ख्याल किया जाता है कि एकाधिकारी किसी वस्तु की कीमत अधिक-से-अधिक ऊँची रखता है। परन्तु कीमत बढ़ाने की भी एक सीमा होती है। एकाधिकारी हमेशा यह चाहता है कि उसे अधिक-से-अधिक लाभ हो। इसलिए वह किसी चीज की कीमत को उसी सीमा तक बढ़ाता है, जहाँ तक वह वस्तु इतनी मात्रा में बिक सके कि उसे अधिक-से-अधिक लाभ हो। इस सीमा के बाद वस्तु की कीमत बढ़ाने से एकाधिकारी को उतना लाभ न होगा।

जीवन-रक्षक पदार्थों का एकाधिकार होने तथा उनका मूल्य बढ़ जाने से जन-साधारण को बड़ा कष्ट होता है। पर यदि विलासिता के पदार्थों का ( एकाधिकार होने से ) मूल्य बढ़ता है, तो थोड़े से धनी आदमियों पर ही उसका असर पड़ता है।

ऊपर कहा गया है कि एकाधिकार में पदार्थों की कीमत बढ़ने की सम्भावना होती है; हाँ, उसकी एक सीमा है। कीमत बढ़ने से होने वाली हानि को रोकने के लिए सरकार द्वारा भी कीमत का नियन्त्रण किया जाता है। उदाहरण के लिए बहुत से स्थानों में सरकार पाठ्य पुस्तकों की कीमत निश्चित कर देती है, अथवा ऐसा नियम बना देती है कि उनकी कीमत प्रति रुपया इतने पृष्ठ के हिसाब से रखी जाय।

**कीमत की घट-बढ़ का प्रभाव**—जब कुछ पदार्थों की कीमत घटती बढ़ती है, तो उनका प्रभाव उन व्यक्तियों पर पड़ता है, जो उन पदार्थों का उपयोग करते हैं। परन्तु जब सब पदार्थों की कीमत में घट-बढ़ होती है, तो सभी मनुष्यों पर उसका प्रभाव पड़ता है। देश में कई प्रकार के आदमी रहते हैं, उनमें से किस प्रकार के आदमियों पर कीमत की घट-बढ़ का क्या प्रभाव पड़ता है, इसकी साधारणतया ठीक कल्पना नहीं होती। वास्तव में यह विषय बहुत विशद है। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ सब श्रेणियों के मनुष्यों का विचार न कर कुछ खास-खास का ही विचार करेंगे; और केवल कीमत बढ़ने का ही विषय लेंगे। अन्य श्रेणियों पर कीमत बढ़ने का, तथा विविध श्रेणियों पर कीमत घटने का क्या प्रभाव पड़ता है, इसका पाठक स्वयं विचार करलें।

**कीमत बढ़ने का प्रभाव; (क) किसानों पर**—प्रायः लोगों की यह धारणा होती है कि खेती के पदार्थों की महँगाई से किसानों को लाभ होता है। किन्तु यह बात कुछ अंश में ही ठीक है। लाभ उन्हीं किसानों को तो होगा, जिनके पास अपने खाने-खर्चने और लगान चुकाने के उपरांत बेचने को काफी अन्न आदि शेष होगा। साधारण

किसानों को उत्पन्न पदार्थों की कीमत मिलते-मिलते उसमें से दस्तूरी, दलाली, तुलाई, या धर्मादे आदि में इतना अंश निकल जाता है, तथा उन्हें वस्त्र आदि की अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति में, खर्च इतना अधिक करना होता है, कि पदार्थों की बढ़ी हुई कीमत से उनकी आर्थिक अवस्था में विशेष अन्तर नहीं आता।

जबकि अपनी विशाल भूमि में स्वयं काश्त करनेवालों को या उन लोगों को जो भूमि दीर्घकाल या लम्बी मुद्दत के पट्टे पर लेकर काश्त करते हैं, कीमत बढ़ने से उपज बेचने की दशा में लाभ होता है; यह बात उन लोगों के विषय में लागू नहीं होती, जिनकी भूमि थोड़ा-थोड़ी सी है, जिन्होंने अनाज देने की शर्त पर कुछ रुपया पेशगी ले लिया है, अथवा जिनका भूमि का पट्टा थोड़े समय का है, या जो मज़दूरों से काम कराते हैं।

(ख) देहाती मज़दूरों पर—पदार्थों की कीमत की बढ़ने का, गाँवों के मज़दूरों की वेतन पर तुरन्त विशेष असर नहीं होता। कुछ समय तक जिसे जितना वेतन मिलता है, उतना ही मिलता रहता है। ऐसी दशा में गाँवों के जो मज़दूर जिन्स में वेतन पाते हैं—और अधिकतर व्यक्ति जिन्स में ही वेतन पानेवाले होते हैं—उन्हें महँगी से कुछ लाभ हानि नहीं होती। हाँ, जिनका वेतन नकदी में ठहरा हुआ होता है, उनके लिए कुछ समय बड़े संकट का बीतता है। जैसा कि पहले कहा गया है, भारतवर्ष के बहुत से खेत-मज़दूरों के पास थोड़ी-थोड़ी सी ज़मीन होती है, उसकी उपज से उनका निर्वाह नहीं हो सकता; उन्हें किसी जमींदार के यहाँ श्रम करना होता है। उन पर भी पदार्थों की कीमत बढ़ने का कुछ समय के लिए वैसा ही प्रभाव पड़ता है, जैसा अन्य देहाती मजदूरों पर।

(ग) ज़मींदारों पर—जमींदारी प्रथा अब उठ रही है, पर अभी तो है ही, इसलिए ज़मींदारों का भी विचार कर लिया जाय। आज-कल लगान नकदी में लिया जाता है; लगान देनेवाले मौरूसी काश्तकार

होते हैं, अथवा गैर-मौरूसी। मौरूसी काश्तकारों पर, पदार्थों की कीमत बढ़ने की दशा में, लगान जल्दी नहीं बढ़ता, अतः इनसे लगान लेनेवालों को तत्काल कुछ लाभ नहीं होता, वरन् हानि ही रहती है। इसके विपरीत, गैर-मौरूसी काश्तकारों पर लगान, पदार्थों की कीमत बढ़ने पर, जल्दी बढ़ा दिया जाता है, इस से जहाँ तक लगान पाने का सम्बन्ध है, जमींदार नफे में रहता है।

(घ) कस्बों और शहरों के श्रमियों पर—कीमत बढ़ने के साथ कस्बों और शहरों के श्रमियों का वेतन एकदम नहीं बढ़ जाता, अतः इनमें असंतोष पैदा होता है; और क्योंकि ये श्रमी देहाती श्रमियों की अपेक्षा अधिक बड़े-बड़े समूहों में मिलकर काम करते हैं, तथा अधिक संगठित होते हैं, इनका असंतोष व्यापक स्वरूप धारण करता है, वेतन-वृद्धि का आंदोलन बढ़ता है, अनेक स्थानों में हड़तालें होती हैं, और कहीं-कहीं तो लूट-मार और उपद्रव तक हो जाते हैं। कल-कारखाने-वाले इतने दूरदर्शी तथा उदार नहीं होते कि पदार्थों की कीमत बढ़ने का आभास पाते ही श्रमियों का वेतन बढ़ा दें; अन्त में तो उन्हें यह करना ही पड़ता है। वेतन काफी बढ़ने की दशा में श्रमियों की आर्थिक अवस्था में कुछ सुधार होता है।

(च) दस्तकारों पर—हाथ से बनी वस्तुओं की, कल-कारखानों में बने हुए माल से, प्रतियोगिता रहने के कारण, दस्तकारों की दशा प्रायः अच्छी नहीं रहती। पदार्थों की कीमत बढ़ने से वह प्रतियोगिता बढ़ती ही है; और, इस प्रकार दस्तकारों को पहले की अपेक्षा अधिक कठि-नाइयाँ सहन करनी पड़ती हैं।

(छ) कल-कारखाने वालों पर—पदार्थों की कीमत बढ़ने के साथ उत्पादन-व्यय का, श्रमियों का वेतन-रूपी भाग एक-दम नहीं बढ़ जाता। इसलिए कल-कारखाने वालों को कीमत बढ़ने से, कम-से-कम आरम्भ में कुछ दिन लाभ ही रहता है; हाँ, पीछे क्रमशः श्रमियों का वेतन आदि बढ़ने लगता है। अगर यह वेतन पदार्थों की कीमत की

वृद्धि के अनुपात से अधिक बढ़ जाय तो कल-कारखाने वालोंको हानि होना निश्चित है।

**(ज) निर्धारित वेतन पानेवालों पर**—पदार्थों की कीमत बढ़ने से, सबसे अधिक हानि सरकारी तथा अन्य कर्मचारियों की, पेन्शन पानेवालों की, कलर्कों की, और सिक्यूरिटी या शेयर आदि से होनेवाली आय पर निर्वाह करने वालों की, तथा ऐसे व्यक्तियों की होती है जो बंधा हुआ या निर्धारित शुल्क, वेतन अथवा मेहनताना पाते हैं। इनको सामूहिक रूप से मध्य श्रेणी का कहा जा सकता है। कीमत बढ़ने से इनका भोजन, वस्त्र, रोशनी-किराए का, और जिनके यहाँ घरू नौकर हों, उनके यहाँ इन नौकरों के वेतन का खर्च बढ़ जाता है। अस्तु, पदार्थों की कीमत बढ़ने पर इन्हें विशेष हानि होती है। इनके बारे में खुलासा चौदहवें अध्याय में लिखा जा चुका है।

**(झ) ऋणग्रस्तों और साहूकारों पर**—कीमत बढ़ने से ऋण-ग्रस्तों को लाभ होता है, यदि वे निर्धारित वेतन पानेवाले न होकर, पदार्थों के उत्पादक हों; कारण, उन्हें पदार्थों की कीमत अधिक मिलेगी और साहूकार उनसे रुपया और सूद पहले निर्धारित किए हुए हिसाब से ही लेगा, वह सूद का परिमाण नहीं बढ़ा सकता। इसके विपरीत, साहूकार को, पदार्थों की कीमत बढ़ने से कोई लाभ नहीं, वरन् हानि ही है, कारण अब उसे जो रुपया या सूद मिलता है, उसका पदार्थों-में-मूल्य पहले से कम होता है।

**विशेष वक्तव्य**—ऊपर हमने कुछ ही श्रेणियों के आदमियों के सम्बन्ध में विचार किया है। देश में भिन्न-भिन्न प्रकार के आदमी रहते हैं। जो बात एक श्रेणी के लिए लाभकारी होती है, वह दूसरी श्रेणी के वास्ते हानिकर हो जाती है। सहसा यह नहीं कहा जा सकता कि पदार्थों की कीमत बढ़ना लाभप्रद है या हानिकर। साधारण तौर से आदमी यही चाहते हैं कि कीमत में स्थिरता रहे, विशेष उतार-चढ़ाव न हो। कीमत की घट बढ़—कीमत घटने के बाद बढ़ना, तथा बढ़ने के

बाद घटना—आर्थिक जगत की एक साधारण घटना है; यह धूप के बाद छाया, अथवा दुख के बाद सुख की तरह है। इसे बन्द नहीं किया जा सकता। हाँ, यदि व्यवसायी तथा सरकार चाहें तो कुछ अंश तक इस का नियन्त्रण कर सकते हैं।

मनुष्यों को चाहिए कि दोनों प्रकार की स्थिति के लिए तैयार रहें; यदि कीमत की घट-बढ़ से हमारी आय बढ़ती है, तो उसे व्यर्थ के अपव्यय में न उड़ा दें, उसमें से कुछ संकट-काल के लिए भी रख छोड़ें; और जब हमारी आय घटती हो तो अपनी आवश्यकताएँ कम करके उसी में अपना निर्वाह करने का प्रयत्न करें; व्यर्थ में दुख न मानें।

**कीमतों पर युद्ध-समाचारों का प्रभाव**—पहले कहा गया है कि चीजों की कीमत उनकी माँग और पूर्ति के अधीन है; माँग बढ़ने से कीमत चढ़ने लगती है, और पूर्ति बढ़ने से कीमत उतरने लगती है। लेकिन यह साधारण परिस्थिति की बात है। युद्ध-काल में कीमतों पर सबसे अधिक असर युद्ध-समाचारों का पड़ता है। दूसरे योरपीय महायुद्ध ( १६३६-४५ ) की बात लीजिए। युद्ध शुरू होने की संभावना मालूम होते ही, सन् १६३६ में ही, सोने चाँदी, लोहे, कपड़े, चूने, सीमेंट आदि सब वस्तुओं की कीमत कुछ-न-कुछ बढ़ने लग गई। लड़ाई शुरू होने पर तो बाजार में और भी खलबली मच गई। पीछे तो मुद्रा-प्रसार आदि का भी प्रभाव पड़ने से साधारण चीजों की कीमतें तिगुनी-चौगुनी, और कुछ की तो इससे भी अधिक बढ़ गई, और लोगों को भयंकर संकट और अकाल का सामना करना पड़ा। युद्ध-काल में जब-जब मित्रराष्ट्रों के तेजी से बढ़ने, युद्ध समाप्त होने, या संधि की सम्भावना का समाचार फैला तो बाजार नीचे उतर आया; और जब धुरी-राष्ट्रों ( जर्मनी, इटली और जापान ) की ताकत बढ़ने की खबर आई तो बाजार ऊँचा हो गया। यह अनुमान किया जाता है कि बहुत से बड़े और प्रभावशाली व्यापारी सस्ते भाव से माल खरीदने के लिए

अकसर अपने विशेष सूत्रों द्वारा संधि की अफवाह फैलाने की कोशिश किया करते हैं। जो हो; युद्ध-समाचारों का कीमतों पर भारी असर पड़ता है।

**युद्ध और कीमत-नियन्त्रण**—कभी-कभी सरकार पदार्थों की कीमत का नियन्त्रण करती है, वह उसे एक सीमा से अधिक नहीं बढ़ने देती। कीमत-नियन्त्रण शान्ति-काल में भी होता है, पर वह केवल खास-खास वस्तुओं का ही होता है। दूसरे महायुद्ध से पहले बड़े पैमाने पर कीमत-नियन्त्रण केवल रूस में ही था। युद्ध-काल में, युद्ध से प्रभावित सभी देशों में इस का अवसर आ जाता है।

युद्ध-काल में जो राष्ट्र लड़ाई में भाग लेते हैं, उनका तो विशेष ध्यान युद्ध-सामग्री तैयार करने में लगता ही है, अकसर दूसरे देश भी उनके लिए युद्ध-सामग्री तैयार करने लग जाते हैं। इस प्रकार अन्य पदार्थों का उत्पादन कम हो जाता है, और इनका बाहर से मँगाना भी कठिन तथा अधिक व्यय-साध्य हो जाता है। इनके अतिरिक्त, कुछ व्यापारी अपने स्टाक को, इसलिए रोक रखते हैं कि पीछे खूब मुनाफा ले सकें। बाजार में माल कम होने से कीमत चढ़नेवाली ठहरी। इसे रोकने के लिए सरकार कीमत का नियन्त्रण करती है। जो व्यापारी निर्धारित कीमत से अधिक लेता है, या अपना स्टाक छुपा कर रखता है, उसे दंड दिया जाता है।

पिछले युद्ध के समय भारतवर्ष में भी सरकार ने कीमत-नियन्त्रण सम्बन्धी कुछ कार्यवाही की, परन्तु वह सफल नहीं हुई। प्रायः जिस पदार्थ की कीमत नियन्त्रित की गई, उस पदार्थ का बाजार में मिलना ही दुर्लभ हो गया। किस प्रकार लोगों को एक-एक रुपए के गेहूँ लाने के लिए घंटों परेशान होना पड़ा, तथा अनेक स्थानों में मंडी की दुकानें दिन-दहाड़े लूटी गईं, यह साधारण अनुभव की बात है। इससे स्पष्ट है कि कीमत-नियन्त्रण का कार्य यथेष्ट सोच विचार कर, और सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के यथेष्ट सहयोग से ही किया जाना चाहिए

प्रत्येक आवश्यक वस्तु के उत्पादन-व्यय का ध्यान रखते हुए उसकी कीमत नियन्त्रित की जाय, उस वस्तु की उत्पत्ति बढ़ाने का भी यथेष्ट प्रयत्न किया जाय। इसके वास्ते उत्पादकों को समुचित परामर्श, पथ-प्रदर्शन और सहायता दी जाय; और यातायात के साधनों की सुविधा की जाय, जिससे देश भर के उत्पन्न पदार्थों का भिन्न-भिन्न भागों की जनता में अच्छी तरह वितरण हो सके। लोकहित की ऐसी आर्थिक व्यवस्था किसी अनुत्तरदाई सरकार से नहीं हो सकती। और, दुर्भाग्य से उस समय यहाँ ऐसी ही सरकार थी। इसलिए व्यवस्था सफल नहीं हुई।

**वर्तमान मँहगाई**—पदार्थों की कीमत घटने-बढ़ने के सामान्य कारण पहले बताए जा चुके हैं। अब हमें वर्तमान मँहगाई का विचार करना है। यद्यपि महायुद्ध १९४५ में समाप्त हो गया, और अगस्त १९४७ से भारतवर्ष स्वतन्त्र भी है, जीवन-निर्वाह की आवश्यक वस्तुओं की बढ़ी हुई कीमतें जनता को बेहद परेशान कर रही हैं। युद्ध-काल में तो आदमी मँहगाई का कारण कुछ समझ लेते थे, अथवा मँहगाई को जैसे-तैसे सहन कर लेते थे, पर अब मँहगाई बना रहना ही नहीं, उसका बढ़ जाना सहज ही समझ में नहीं आता, वह असह्य हो रहा है। गेहूँ रूपए का डेढ़ सेर, चावल रुपया सेर, घी पाँच रुपए सेर, तेल दो रुपए सेर, चीनी रुपए सेर तो मामूली बात है। फिर, अनेक स्थानों में ये चीजें इससे भी अधिक मँहगी हैं; और खालिस या शुद्ध मिलने का तो कहीं भरोसा ही नहीं।

मँहगाई के सम्बन्ध में ध्यान में रखने की पहली बात तो यही है कि यह संसार-व्यापी है। ईस्ट इंडीज, चीन, मध्य-एशिया, मध्यपूर्व, पश्चिमी योरोप के देश, जर्मनी तथा पाकिस्तान में इसका रूप और भी उग्र है। पाकिस्तान में तो कपड़े, चाय, चीनी, सिगरेट आदि का इतना अभाव है कि हमारे यहाँ के लोभी और भ्रष्ट व्यापारी कानूनी दंड की भी परवाह न करके चोरी-चुपके वहाँ यह माल भेज रहे हैं। अस्तु,

इंगलैंड, अमरीका और केनेडा में मँहगाई भारतवर्ष की अपेक्षा काफी कम है, पर है वहाँ भी।

मँहगाई; युद्धकाल में—मँहगाई के कई कारण हैं। ये कारण एक-दम पैदा नहीं हुए, इसका सिलसिला युद्ध-काल के प्रारम्भ से है। युद्ध के समय कुछ कारणों का प्रभाव अस्थायी था, वह प्रायः समाप्त हो गया। पर कुछ कारणों का प्रभाव अब भी बना हुआ है। वे कारण ये हैं।

१—मुद्रा-प्रसार। इसके विषय में पहले लिखा जा चुका है।

२—खाद्यान्न की कमी। सेना के लिए बहुत-सा खाद्यान्न भेजा गया। फिर अनेक खेत-मजदूर तथा ऐसे किसान जिनके खेत आर्थिक दृष्टि से बहुत छोटे थे, या तो फौज में भरती होगए या अपेक्षाकृत अधिक आमदनी प्राप्त करने के लिए शहरों में चले आए। इन बातों से यहाँ खाद्यान्न की कमी होगई।

३—उत्पादन-व्यय में वृद्धि। खाद्यान्न तेज होने के कारण मज़दूरों का वेतन, कच्चे माल की कीमत सभी बातों में तेजी आगई, और इससे चीजों का उत्पादन-व्यय बढ़ गया। कपड़ा, चीनी, सीमेंट आदि की उत्पत्ति में कमी आगई।

४—सरकारी नीति। युद्ध-काल में सरकार ने आर्डर देकर उद्योग-पतियों से ख़ूब माल तैयार कराया। सन् १९४४ में तो उत्पादन का परिमाण विलक्षण रूप से अधिक रहा। परन्तु जनता को इस विशाल उत्पादन का बहुत थोड़ा माल मिला। यह उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सर्वथा अपर्याप्त था। अधिक वेतन पानेवालों के कारण वस्तुओं की माँग काफ़ी बढ़ गई। वस्तुएँ असैनिक उपभोक्ताओं के लिए पहले ही कम थीं, अब वे और भी कम हो गईं। फल-स्वरूप उनका मूल्य बहुत चढ़ गया।

इन कारणों से मंहगाई कहाँ तक बढ़ गई उसका कुछ अनुमान नीचे दी हुई सारिणी से हो जायगा। यदि हम अगस्त सन् १९३९ की

जीवन रक्षक पदार्थों की औसत कीमतों को १०० मानें तो उसकी तुलना में दिसम्बर सन् १६४५ में कुछ स्थानों में मूल्य-सूचक अंक इस प्रकार थे :—

बम्बई—२३०; नागपुर २७१; अहमदाबाद २८१; जबलपुर २८६; शोलापुर ३१०; और मद्रास २२६।

**मँहगाई; युद्धोत्तर काल में**—सन् १६४५ में हमारे नेता जेल से छोड़े गए, स्वाधीनता का आन्दोलन फिर शुरू हुआ। जनता में असहयोग की भावना भर गई। मज़दूरों की हड़तालें बढ़ गईं और १६४४ का सर्वोत्कृष्ट उत्पादन धीरे-धीरे गिरता गया। ब्रिटिश सरकार ने यहाँ की आर्थिक स्थिति की उपेक्षा की। यहाँ चुनाव लड़े गए, अंत में प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बने। केन्द्र में कांग्रेस-सरकार पीछे बनी, और जब बनी भी, तो अनेक विपदाएँ साथ में थीं—पाकिस्तानी सदस्यों से अन्तर्कालीन सरकार में अनबन, साम्प्रदायिक विभाजन के बाद और पहले साम्प्रदायिक दंगे और जन-निष्कासन, कश्मीर-युद्ध, जूनागढ़ हैदराबाद आदि की समस्याएँ।

युद्ध-काल में अनेक रेलवे लाइनें उखाड़ी गई थीं। विदेशों से एंजिन-डिब्बे आदि नहीं आ रहे थे। हड़ताली वातावरण का भी रेलवे कार्य पर असर पड़ा। इस प्रकार यातायात में बड़ी बाधा खड़ी हो गई। खानों से कोयला, और रूई के क्षेत्रों से रूई, मिलों को न पहुँच पाई। जो चीज़ें तैयार हुईं, वे आवश्यक क्षेत्रों में नहीं पहुँचाई जा सकीं। पेट्रोल की कमी के कारण लारियाँ या ट्रकें भी इस असुविधा को दूर न कर सकीं। इस प्रकार अगस्त १६४६ से ही औद्योगिक उत्पादन में ह्रास हो गया और वह क्रमशः बढ़ता गया।

यदि हम अगस्त १६३६ को आधारभूत साल मानें तो दिसम्बर १६४७ में सब पदार्थों का औसत मूल्य ३१४·२, और खाद्य पदार्थों का ३११·१ था। पाठक इन अंकों का ऊपर दिए हुए १६४५ के अंकों से तुलना कर बढ़ती हुई मँहगाई का कुछ अनुमान कर सकते हैं।

**स्वतंत्रता के समय में**—स्वतंत्रता और विभाजन के बाद भारत-सरकार के सामने शरणार्थियों को लाने-लेजाने की विकट समस्या उपस्थित हो गई। रेलों की बहुत-कुछ शक्ति इसी कार्य में लग जाने से यातायात की कठिनाई बनी रही। जन-निष्कासन से अनेक व्यापारिक मंडियाँ महीनों बन्द रहीं। अन्न, चावल, नमक, जूट और कपास का उपजाऊ प्रदेश बहुत कुछ पाकिस्तान चला गया। इन बातों से उत्पादन और व्यापार को बहुत धक्का लगा और पदार्थों की कीमतें बढ़ती गई।

स्वतन्त्र भारत-सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों ने देशोन्नति के लिए बहुत सी योजनाएँ बनाई, उनमें करोड़ों रुपया खर्च हुआ। विदेशों में राजदूत रखने की व्यवस्था भी बहुत खर्चीली रही। कश्मीर की लड़ाई में लाखों रुपया प्रतिदिन खर्च हुआ (और अभी तक हो ही रहा है)। हैदराबाद में भी बहुत रुपया खर्च हुआ; हाँ, अब समस्या सुलझ गई है। सरकारी कर्मचारियों की संख्या और वेतन आदि भी बहुत बढ़े हुए हैं।

जब कि एक ओर सरकारी व्यय बढ़ा हुआ है तो दूसरी ओर आय के अनेक साधनों में कमी हो गई। मद्यनिषेध योजना से प्रान्तों को काफी हानि उठानी पड़ी। अनेक व्यापारियों ने अपने मुनाफेखोरी और चोर-बाज़ारी के रुपयों पर ही आय-कर को नहीं बचाया, वरन् अन्य आय पर भी यथेष्ठ आय-कर न दिया। बिना टिकट यात्रा से रेलों में कई करोड़ रुपए की हानि हुई।*

**विशेष वक्तव्य**—इन सब बातों के अलावा, कितने ही आदमी इस समय बनावटी नेता बने हुए हैं और धन-संग्रह करने में अपने चरित्र के पतन का परिचय दे रहे हैं। बहुत से मज़दूर कम-से-कम काम करके अधिक-से-अधिक पैसा करना चाहते हैं। व्यापारी अलग ही उपभोक्ताओं का शोषण करने की फिक्र में रहते हैं।

* 'रामराज्य' में प्रकाशित, श्री कैलाशनाथ जी शर्म्मा के लेख से।

सरकार की आय-व्यय के बीच में एक बड़ी खाई पैदा हो गई है। त्यागशील, लोकसेवी, और यथेष्ट अनुभवी सज्जन गम्भीरता-पूर्वक विचार करें और सरकार से सहयोग करते हुए देश के आर्थिक संकट को दूर करने का प्रयत्न करें। इसके सम्बन्ध में कुछ आवश्यक सुझाव 'कागजी मुद्रा; नोट आदि' शीर्षक अध्याय में किए गए हैं।

## इक्कीसवाँ अध्याय
# व्यापार के साधन

पिछले अध्यायों में मुद्रा और कीमत का विचार कर चुकने पर अब व्यापार का विवेचन करना सुगम है। पहले व्यापार के मार्ग और साधनों का विचार हो जाना चाहिए।

**व्यापार के मार्ग**—व्यापार के तीन मार्ग हैं—स्थल-मार्ग, जल-मार्ग और वायु मार्ग। स्थल-मार्ग में कच्ची-पक्की सड़कों पर ठेलों, पशुओं, मोटरों आदि से, या लोहे की पटरी पर रेल से माल ढोया जाता है। कहीं-कहीं जमीन के नीचे भी रेलें जाती हैं। जल-मार्ग पर नाव, स्टीमर और जहाज चलते हैं। गत महायुद्ध के समय जर्मनी ने पनडुब्बियों द्वारा माल ढोने का रास्ता पानी के नीचे-नीचे भी निकाला था। आकाश-मार्ग से काम थोड़े ही समय से लिया जाने लगा है; हवाई जहाजों द्वारा कहीं-कहीं थोड़ा-थोड़ा माल आता जाता है।

**सड़कों की आवश्यकता और उन्नति**—सड़कों की उपयोगिता सर्वविदित है। ये किसानों की खेती की उपज को नजदीक की मंडी तथा रेलवे स्टेशन पर लाने में और इस प्रकार उसके अधिक दाम प्राप्त करने में सहायक हैं। उद्योग-धन्धों के लिए दूर-दूर से कच्चा माल लाने, तथा तैयार माल को दूर-दूर के ग्राहकों तक पहुँचाने का काम

रेलें करती हैं; परन्तु सड़कों की सहायता के बिना, रेलों को भी ढोने के लिए, काफी माल नहीं मिल सकता। इस प्रकार सड़कों से उद्योग-धन्धों की उन्नति और विस्तार को प्रोत्साहन मिलता है।

मार्च १९४३ में शहरों की भीतरी (म्युनिसपल) सड़कों को छोड़कर भारत के प्रान्तों से २ लाख २६ हजार मील, और देशी रियासतों में ७० हज़ार मील—इस तरह कुल मिलाकर लगभग ३ लाख मील सड़कें थी, जिनमें से पक्की सड़क तो एक-चौथाई से भी कम थी। सब से प्रसिद्ध पक्की सड़क 'ग्रांड-ट्रंक रोड' है, जो उत्तर भारत में कलकत्ते से इलाहाबाद और देहली होकर, पेशावर जाती है। इसके अतिरिक्त तीन अन्य सड़कें भी विशेष उल्लेखनीय हैं। ये कलकत्ते को मदरास से, मदरास को बम्बई से, और बम्बई को दिल्ली से मिलाती हैं। इन चारों सड़कों की लम्बाई लगभग पाँच हजार मील है। यहाँ की सड़कों में से कुछ तो दूर तक गई हैं, परन्तु अनेक पास की ही बस्ती में जाकर खत्म हो जाती हैं। कुछ सड़कें ऊँची हैं, और बारहों-महीने खुली रहती हैं। कितनी ही सड़कें बरसात में बेकाम हो जाती हैं। बरसाती नदियों पर कहीं तो पुल हैं, और कहीं उन्हें बरसात में नाव से, और खुश्की के दिनों में पैदल ही पार करना पड़ता है। आम तौर से लोग सामान ढोने के लिए पुराने ढङ्ग की बैलगाड़ी, टट्टू, खच्चर, गधे, ऊँट, भैंसे आदि से काम लेते हैं। मोटरों के चलने के लिए अच्छी सड़कें केवल ६५ हजार मील हैं; इनमें से पंद्रह हजार मील सड़क सीमेंट आदि की है।

कुछ वर्षों से मोटर द्वारा माल और सवारियाँ लाने-लेजाने के काम में प्रगति करने की ओर सरकार अधिक ध्यान देने लगी है। नवम्बर सन् १९२७ ई० में सरकार ने सड़क-सुधार कमेटी ('रोड-डिवेलपमेंट-कमेटी') नियुक्त की। इस कमेटी की सिफारिशों के आधार पर सन् १९२९ ई० के बजट में सरकार ने पेट्रोल का कर प्रति गैलन चार आने से बढ़ाकर छः आने किया; और इस कर-वृद्धि से होनेवाली

अधिक आय को सड़कों के काम में लगाने का निश्चय किया। इस विषय के प्रस्ताव में समय-समय पर कुछ संशोधन हुआ है। सड़क-सुधार के विषय में विचार करने के लिए केन्द्रीय सरकार प्रतिवर्ष एक कान्फ्रेंस करती है। अब कई सड़कें प्रान्तीय कर दी गई हैं, उनकी मरम्मत आदि का जो काम म्युनिसपैलटियों और जिला-बोर्डों द्वारा, धनाभाव के कारण अच्छी तरह नहीं होता था, अब प्रान्तीय सरकारें कर रही हैं। मार्च सन् १९४४ के अन्त में सड़क सम्बन्धी कोष ('रोड फन्ड') का हिसाब इस प्रकार था—पेट्रोल टेक्स से इस वर्ष कुल २१ करोड़ रुपया जमा था। इसमें ४ करोड़ रु० रक्षित कोष में रखा गया; १२ करोड़ ९७ लाख भारत के प्रान्तों को, पेट्रोल के खर्च के अनुपात से दिया गया; शेष रुपया बचा रहा।

दिसम्बर सन् १९४३ में विविध प्रान्तों और मुख्य-मुख्य रियासतों के चीफ-इंजिनियरों की एक कान्फ्रेंस नागपुर में हुई थी। उसने सिफारिश की, कि देश भर में सड़कों की उन्नति की जाय और उनकी लम्बाई बढ़ाकर ४ लाख मील कर दी जाय। महायुद्ध से पहले की कीमतों के अनुसार इस कार्य में ३०० करोड़ रुपए के खर्च का अन्दाज किया गया, पर पीछे बढ़ी हुई कीमतों के अनुसार यह अन्दाज ४५० करोड़ रु० का था। कार्य-क्रम के दो भाग थे। थोड़ी अवधि का कार्य यह था कि महायुद्ध के कारण उपस्थित होनेवाली तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो। लम्बी अवधि का कार्य आर्थिक उन्नति की दृष्टि से किया जाना था। यह योजना पूरी होने पर सड़कें इस प्रकार हो जायँगी :—

| | |
|---|---|
| राष्ट्रीय सड़कें | १८,००० मील |
| प्रांतीय ,, | ७२,००० ,, |
| जिलों की मुख्य सड़कें | ६०,००० ,, |
| जिलों की अन्य ,, | १,००,००० ,, |
| गाँवों की ,, | १,५०,००० ,, |

महायुद्ध के बाद सड़कों के काम की ओर विशेष ध्यान दिया गया।

फौज से लौटे हुए बहुत से आदमियों को कुछ काम देने का सवाल था, मोटरों की संख्या बढ़ी हुई थी, इनके उपयोग में लाने के वास्ते सड़कों की उन्नति और वृद्धि की आवश्यकता थी, इस समय सड़कें बनाने की मशीनें बहुत मौजूद थीं। इन बातों से सड़कों के निर्माण-कार्य में अच्छी प्रगति हुई। पूर्वोक्त योजना से यह स्पष्ट है कि गाँवों की सड़कों की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है, परन्तु देश के विस्तार और पिछली कई दशाब्दियों से होनेवाली अवहेलना के कारण अभी बहुत काम करने को पड़ा है।

रेल—यातायात के साधनों में रेलों का स्थान प्रमुख है। इनके द्वारा भारतवर्ष के दूर-दूर के भागों में पदार्थों का व्यापार होने लगा है, और भारतवर्ष का विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ने में बहुत सहयोग मिला है। रेलों में हजारों मन माल इधर से उधर भेजा जाता है। यदि देश में एक जगह अकाल पड़ रहा हो, तो खाने के पदार्थ दूसरी जगह से, जहाँ वे अधिक हों, जल्दी ही लाए जाकर बहुत-से आदमियों को भूखा मरने से बचाया जा सकता है। रेलों के कारण, पदार्थों का बाजार बढ़ जाने से, उत्पत्ति बड़ी मात्रा में होने की अनुकूलता हो गई है। श्रमियों को अब, जहाँ अधिक लाभदायक तथा रुचिकर काम मिलता है, वहाँ जाने की सुविधा बढ़ गई है।

रेलों में हानियाँ भी हैं। अब भारतवर्ष में राष्ट्रीय सरकार होने से आशा है, वह ऐसी व्यवस्था करेगी कि हानियाँ न हों, तथापि हमें उनसे परिचित रहना चाहिए। व्यापारी अपने लाभ के लिए बहुत से ऐसे पदार्थों को भी विदेशों में भेज देते हैं, जिनकी यहाँ आवश्यकता होती है, परन्तु जिनके यहाँ इतने दाम नहीं मिलते, जितने दाम विदेशी दे सकते हैं। निर्यात होने से यहाँ ये पदार्थ महँगे हो जाते हैं। फिर, आज-दिन भारतवर्ष के नगरों और कस्बों में जहाँ देखो, बिसातखाने, कपड़े और फुटकर सामान की दूकानें विलायती पदार्थों से भरी पड़ी हैं। हमारे उद्योग-धन्धे या दस्तकारी पिछड़ गई हैं। इसमें रेलों का

भाग स्पष्ट है।

**रेलों की व्यवस्था के दोष**—अब राष्ट्रीय सरकार रेलों की व्यवस्था सुधार रही है। इससे पहले की व्यवस्था में कई दोष रहे हैं, और उनमें से कुछ इस समय तक भी बने हुए हैं। हम कुछ मुख्य-मुख्य दोषों का ही यहाँ उल्लेख करते हैं—

(१) रेलों में विदेशी पूँजी लगी हुई होने से उसका सूद हर साल बाहर भेजना पड़ा।

(२) कई रेलों का प्रबन्ध विदेशी कंपनियों के हाथों में होने के कारण, बहुत-सा सालाना मुनाफा भी बाहर भेजना पड़ा। उच्च पदों पर भारतीयों की नियुक्तियाँ बहुत कम हुईं।

(३) रेलवे कम्पनियाँ देशी उद्योग-धन्धों तथा व्यापार के ह्रास अथवा उन्नति का विचार न कर, सिर्फ़ अधिक माल ढोने और उसके द्वारा अधिक लाभ उठाने का ही ख्याल रखती थीं। वे बन्दरगाहों से देश के भीतर आनेवाले विदेशी माल पर तथा भीतर से बन्दरगाहों को जानेवाले (भारतीय) कच्चे माल पर महसूल कम लेती थीं। यदि यहाँ के कच्चे माल को कोई बाहर न भेजकर देशी कारखानों में ले ज.ना चाहता तो ज्यादा भाड़ा देना पड़ता।

(४) जैसी सुविधा और रियायतें कच्चे माल के निर्यात को दी जातीं, वैसी तैयार माल के निर्यात को नहीं। उदाहरण के लिए तेलहन की अपेक्षा तेल बाहर भेजने में किराया बहुत अधिक देना पड़ता था।

(५) रेलवे कम्पनियों के स्वार्थ अलग-अलग थे और प्रबन्ध भी पृथक्-पृथक्। इसलिए वे सब अपना-अपना लाभ देखती थीं; देश के लाभ का उन्हें ध्यान नहीं था। यदि सबका स्वार्थ और प्रबन्ध एक ही होता तो व्यापारियों की असुविधाएँ कम हो जातीं।

(६) लगभग ९९ फी सैकड़े यात्री तीसरे दर्जे में सफर करते हैं। उन्हीं से अधिक आय होती है। परन्तु विदेशी कम्पनियाँ और सरकार उनके अपार कष्टों की कुछ परवा नहीं करती थीं।

(७) जब रेलें खुलीं, तो वे बड़े-बड़े शहरों और व्यापार की मंडियों से होती हुई गईं। उस समय देश के भीतरी भागों का ध्यान नहीं रखा गया। सड़कों और नदियों के पुलों का भी सुधार नहीं हुआ। पीछे ब्राँच (शाखा)-लाइनें खुलने लगीं। पर उनमें यथेष्ट वृद्धि नहीं हुई। इसलिए सब धन्धे घने शहरों में ही इकट्ठे होते गए।

(८) रेलों की माप अलग-अलग है। इसलिए जब माल को एक लाइन से उतार कर दूसरी लाइन पर लादना पड़ता है, तो बहुत खर्च पड़ता है; साथ ही टूटने और चोरी जाने की जोखिम भी बढ़ जाती है।

(६) इस देश में रेलवे लाइनें वर्षों से खुली हुई हैं; किन्तु रेल के पहिए, एंजिन आदि अधिकांश सामान अभी विदेशों से ही आता रहा है। रेलों का सब सामान यहीं तैयार कराने की योजना हो रही है।

(१०) रेलवे में घूसखोरी बहुत बढ़ी हुई है, वह बन्द की जानी चाहिए।

**रेलों की वर्तमान स्थिति**—रेलें तीन तरह की हैं—(१) स्टैंडर्ड माप की—अर्थात् साढ़े पाँच फुट चौड़ी, (२) बड़े माप की—अर्थात् ३'२६ फुट चौड़ी, और (३) छोटे माप की अर्थात् ढाई फीट या दो फीट चौड़ी। अधिकांश रेलवे लाइन प्रथम दो प्रकार के ही माप की हैं। अधिक आमदरफ्त वाले स्थानों में ये लाइनें दोहरी हैं—एक लाइन जाने के लिए और दूसरी आने के लिए। इस से दोनों तरफ की गाड़ियाँ एक साथ ही आ-जा सकती हैं।

३१ मार्च १६४४ को भारतवर्ष में रेलवे लाइन इस प्रकार थीं—

| | |
|---|---|
| बड़े माप की | २०,६७४ मील |
| मीटर माप की | १६,००० ,, |
| छोटी माप की | ३,८२८ ,, |
| योग | ४०,५०२ मील |

सन् १६४४-४५ के अन्त में रेलवे की नौकरी में कुल ६,६२,००६ आदमी थे, जब कि महायुद्ध से पहले (सन् १६३८-३६) इनकी संख्या

७०१,३०७ थी। रेलों में ८६४ करोड़ रुपए लगा हुआ है। इन्होंने सन् १९४४-४५ में कुल २३३ करोड़ रुपया कमाया, इसमें से १४६ करोड़ रूपया खर्च हो जाने पर, शेष ८४ करोड़ का मुनाफा रहा।

भारतवर्ष में अधिकतर रेलवे लाइनों की मालिक सरकार है; इनमें से कुछ का प्रबन्ध वह स्वयं करती है, शेष का प्रबन्ध विविध कम्पनियों के हाथ में है। अन्य रेलों में से कुछ, डिस्ट्रिक्ट बोर्डों या देशी राज्यों की हैं। स्वयं कम्पनियों की रेलें बहुत कम हैं। प्रबन्ध करनेवाली कम्पनियाँ, शर्तनामे के अनुसार, कुछ मुनाफा पाती हैं। बाकी मुनाफा सरकार को मिलता है।

**सुधार की आवश्यकता**—गत वर्षों में रेल-यात्रियों की संख्या तथा माल का यातायात तो बहुत बढ़ा है, पर रेल के एंजिनों और गाड़ियों में प्रायः कुछ वृद्धि नहीं हुई। इस से रेल-यात्रा बहुत कष्टमय हो रही है, यात्रियों के बैठने के लिए काफी जगह नहीं मिलती; सामान की तो बात अलग ही रही। राष्ट्रीय सरकार रेलों की व्यवस्था सुधार रही है। अब रेलों में तीन दर्जे रहेंगे —अपर, इंटर, और साधारण। साधारण यात्रियों की सुविधाओं का भी यथा-सम्भव प्रबन्ध किया जायगा। कुछ समय से पटना से देहली जाने के लिए 'जनता-एक्सप्रेस' चलने लगी है, इसमें तीसरे दर्जे का ही टिकट है। रेलवे कर्मचारी यात्रियों के प्रति सभ्यतापूर्वक व्यवहार करें, तथा रिश्वतखोरी और बिना टिकट की यात्रा बन्द हो—इसका प्रबन्ध किया जा रहा है। रेलगाड़ियाँ बढ़ाने की भी योजना है। कुछ ऐसी लाइनें बढ़ाई जानेवाली हैं, जो कोयले की खानों से कोयला ला सकें। बहुत से स्थानों पर रेल के पुल बनाने हैं; उनके साथ ही कुछ पुल ऐसे भी बनाने की आवश्यकता है जिनपर से पैदल यात्री आ-जा सकें। आशा है, ये सुधार जल्दी ही किए जायँगे।

**मोटर**—मोटरों द्वारा यात्रा ही नहीं होती, सामान भी ढोया जाता है। बहुत-से स्थानों में रेलें जारी नहीं हुई हैं। गाँवों की तो बात ही क्या, अनेक नगर और कस्बे ऐसे हैं जहाँ रेल नहीं पहुँचती, और जो

रेलवे स्टेशनों से पचास-पचास, सौ-सौ मील तक दूर हैं। ऐसे स्थानों में यदि सड़कें ठीक हों तो मोटर अच्छी तरह काम दे सकती है। रेल से दूर के बहुत से स्थानों में डाक पहुँचाने का भी काम मोटर करती है। जहाँ रेल जाती है, वहाँ भी बहुधा आमदरफ़्त बढ़ जाने पर मोटरें खूब चलती हैं। प्रायः इनमें महसूल या किराए की दर रेल के बराबर ही रहती है। इनमें रेलों की तरह भारी पूँजी की आवश्यकता नहीं होती; कितने ही व्यक्ति अकेले अपनी पूँजी से कई-कई मोटरें चलाते हैं; सरकार को केवल सड़कें ठीक कराने की जरूरत रहती है।

गत वर्षों में मोटरों की सफलता कहीं-कहीं इतनी अधिक हुई कि वहाँ सरकार को रेलों के विषय में चिन्ता हो चली। कई स्थानों में मोटरों की प्रतियोगिता के कारण रेलवे कम्पनियों को रेल का किराया कम करना पड़ा, तथा मोटरों पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाए गए। पेट्रोल पर आयात-कर बढ़ाए जाने की बात पहले कही जा चुकी है। कहीं-कहीं मोटरवालों पर पुलिस की भी धौंस रही। इतनी प्रतिकूलताओं के होते हुए भी मोटरवाले कुछ कमाते ही रहे, जबकि रेलों को बहुधा घाटे का रोना रहा। इसका रहस्य यह है कि मोटरवाले मितव्ययिता से काम लेते हैं, और रेलों में विशेषतया उच्च पदों के लिए भारी वेतन और भत्ता आदि दिया जाता है, तथा अनेक प्रकार से लापरवाही से खर्च किया जाता है। यदि कहीं मोटरों को उपर्युक्त बाधाओं का सामना न करना पड़ता, और सरकार इन्हें रेलों का प्रतिद्वंद्वी न समझकर इन पर भी कृपा-दृष्टि रखती तो इनके कार्य में विलक्षण उन्नति होती। हाँ; इस बात की आवश्यकता है कि मोटरों के मालिक मुसाफिरों के साथ अच्छा बर्ताव करें, सवारियों की संख्या निश्चित रहे, उससे अधिक सवारियाँ न बैठाई जायँ; मोटरों में सामान परिमित परिमाण से अधिक न रखा जाय, और वे हर जगह से रवाना होने का समय यथा-सम्भव निश्चित रखें।

कुछ समय हुआ सरकार ने एक रेल-रोड योजना बनाई थी। देश भर की मोटर लारियों का एक ट्रस्ट हो, सब लारियाँ इसी ट्रस्ट की ओर से चलाई जायँ, दूसरी कोई लारी स्वतंत्र रूप से न चले। हर एक लारी का किसी स्थान से चलने का समय, किराया तथा उसकी सवारियों की संख्या निश्चित रहे। इस ट्रस्ट के ४६ प्रतिशत हिस्सेदार पुराने मोटर-मालिकों में से हों, और शेष हिस्सेदार रेलवे कम्पनियों के या सरकार की ओर से हों। इस ट्रस्ट को जो मुनाफा हो, वह हिस्सेदारों में बट जाया करे। अब तो संयुक्तप्रान्त आदि कई प्रान्तों में अनेक स्थानों पर सरकारी मोटरें चल रही हैं।

**नदियाँ और नहरें**—स्थल-मार्ग की अपेक्षा, जल-मार्ग से माल लेजाने में बहुत कम खर्च होता है। नदियाँ प्राकृतिक साधन हैं, उन्हें बनाना नहीं होता; मामूली खर्च से उन्हें व्यापार के लिए ठीक रखा जा सकता है। जल-मार्ग से माल लेजाने में शक्ति भी कम लगती है; बहाव की तरफ लेजाने में तो प्रायः कुछ भी शक्ति नहीं लगानी पड़ती। भारतवर्ष में जल मार्ग का उपयोग प्राचीन समय से हो रहा है। यह भी एक कारण है कि नदियों के किनारे बड़े-बड़े शहर, तथा व्यापार-केन्द्र बन गए। मुगल बादशाहों के शासन में भी यहाँ जल-मार्गों की अच्छी स्थिति रही। परन्तु अङ्गरेजों के शासन में दशा बिगड़ गई, सरकार ने रेलों पर तो असंख्य रुपया लगाया, पर प्राकृतिक जल-मार्गों के उपयोग की ओर ध्यान न दिया। सरकारी संरक्षण और सहायता के अभाव, और रेलों की प्रतिस्पर्द्धा ने इन्हें प्रायः नष्ट कर दिया। इधर कुछ वर्षों से इस ओर ध्यान दिया जाने लगा है, पर अभी विशेष कार्य नहीं हुआ। अस्तु, देश की आर्थिक उन्नति के लिए, लाखों नाविकों को काम देने के लिए, और माल ढुलाई के कार्य को विदेशी पूँजी के प्रभाव से मुक्त करने के लिए, इस कार्य के उद्धार की बड़ी आवश्यकता है।

भारतवर्ष की नाव चलाने योग्य नदियों में सिंध, गंगा, और

ब्रह्मपुत्र मुख्य हैं। इनमें मुहाने से लेकर सैकड़ों मील तक प्रायः बारहों महीने नाव चल सकती है। सिंध नदी की सहायक चनाव और सतलज में भी खासी दूर तक बारहों महीने नाव चलती हैं। हुगली, महानदी, गोदावरी और कृष्णा नदियों में भी डेल्टा के ऊपर कुछ दूर तक नावें जा सकती हैं। वर्षा ऋतु में तो छोटी नदियों में भी नाव ले जाने की सुविधा रहती है। पूर्वी बंगाल में नावों के लिए सुभीता सबसे अधिक है; इस भाग में अधिकाँश जूट और धान आदि नावों से ही ले जाया जाता है।

स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय सरकार नदियों की उन्नति के लिए जो बहुमुखी योजनाएँ काम में ला रही है, उसका उल्लेख छठे अध्याय में किया जा चुका है।

नहरें यहाँ विशेषतया आबपाशी के लिए बनाई गई हैं। इनके द्वारा व्यापार बहुत कम होता है। ये बड़े-बड़े शहरों और मुख्य-मुख्य मंडियों से होकर नहीं गुजरतीं, और न इनका सम्बन्ध समुद्र से ही है। बहुधा नहरों के चक्करदार रास्ते से माल ढोने में रेल की अपेक्षा समय और खर्च भी अधिक पड़ता है! कुछ नहरें केवल सामान ढोने के लिए भी बनाई गई हैं; परन्तु उनकी आमदनी से उनका खर्च और पूँजी का केवल सूद ही निकलता है। नहरों को, सामान ढोने में उड़ीसा, सिंध, मदरास और दक्षिण-बङ्गाल के, नदियों के मुहानेवाले स्थानों में ही सफलता मिल सकती है, जहाँ रेलों के लिए पुल बनाना बहुत कठिन, एवं बड़े खर्च का काम है।

**जहाज**—प्राचीन काल से लेकर उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भारतवर्ष अपने ही जहाजों तथा जहाज-चलानेवालों से तटीय (समुद्र के किनारे का) तथा विदेशी व्यापार करता था। पीछे यह कार्य धीरे-धीरे बन्द हो गया। वणिक-बुद्धि-प्रधान अंगरेज व्यवसायी भारत-वासियों को इससे लाभ उठाते देखना सहन न कर सके। वे यहाँ से जहाजों को बनाने का सामान अपने देश को लेजाने और वहाँ ही

जहाज बनाने लगे। अब तक भारतवर्ष का तटीय तथा समुद्री व्यापार विदेशी जहाजों द्वारा होता रहा, इससे हमें करोड़ों रुपया उन जहाजों को देना पड़ा। यहाँ अधिकतर माल इङ्गलैंड और अमरीका के जहाजों से आता-जाता है।

अंगरेज सरकार ने इस परिस्थिति में सुधार करने की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया। बहुत आन्दोलन होने के बाद सरकार ने सन् १६२३ ई० में 'इन्डियन-मरकेंटाइल-मेरिन-कमेटी' की नियुक्ति की थी, जिसका उद्देश्य यह जाँच करना था कि भारतीय जहाज चलाने, तथा जहाज बनाने के काम में किन-किन उपायों से उन्नति हो सकती है। इस कमेटी की सिफारिश के अनुसार डफरिन-नामक बेड़े पर जहाजों के कर्मचारियों तथा इंजिनियरों को शिक्षा की व्यवस्था की गई। परन्तु इस शिक्षा का उपयोग ही क्या जबकि कोई स्वदेशी जहाजी बेड़ा ऐसा न हो, जिसमें वे काम कर सकें! भारतवर्ष के स्वतंत्र होने तक यहाँ स्वदेशी जहाज-कम्पनियों को भीषण प्रतियोगिता सहनी पड़ी। अब यह देश अपने व्यापारी जहाज बना रहा है। दो जहाजों के बनने के विषय में दसवें अध्याय में लिखा जा चुका है।

**बन्दरगाह**—भारतवर्ष के आधुनिक व्यापार में बन्दरगाहों का बड़ा महत्व है। अब तो हमारे व्यापार की दशा ही बन्दरगाहों की ओर है। वहाँ पहुँचनेवाले माल का परिमाण खूब बढ़ गया है। बन्दरगाहों में माल दो उद्देश्यों से तो जाता ही है—वहाँ से जहाजों द्वारा विदेशों में जाना, और दूसरे बन्दरगाहों में जाना। गत वर्षों में वहाँ माल जाने का एक कारण रेलवे महसूल सम्बन्धी वर्त्तमान नीति भी रही है। जैसा कि पहले कहा गया है, यहाँ रेलें बंदरगाहों पर जानेवाले कच्चे माल पर जो महसूल लेती थीं, वह उस माल के महसूल की अपेक्षा कम होता था, जो उस बंदरगाह के नज़दीक किसी दूसरी जगह के लिए भेजा जाय। इस लिए जब किसी व्यापारी को किसी ऐसे नगर के कारखाने के लिए कच्चा माल भेजना होता जो किसी बन्दरगाह के निकट हो, तो उसे उस

माल को कारखाने में सीधा न भेजकर बन्दरगाह के रास्ते भेजने में किफ़ायत रहती। अस्तु, विविध कारणों से बन्दरगाहों पर माल बहुत भेजा जाता रहा है। फिर, हमारे यहाँ विदेशी माल की खपत बहुत बढ़ी हुई रही है, यह माल दूसरे देशों से हमारे बन्दरगाहों पर ही आकर उतरता है। माल के इस आने और जाने का काम बढ़ने से बन्दरगाहों का विशेष महत्त्व हो गया है। बड़े-बड़े जहाजों का चलन हो जाने के कारण प्राचीन काल के बहुत-से बन्दरगाह अब व्यापार के लिए उपयोगी नहीं रहे हैं। इसके विपरीत, कुछ नए बन्दरगाहों की बहुत उन्नति हुई है। अंगरेज सरकार की, विदेशी व्यापार में विशेषतया इंगलैंड से होने वाले व्यापार में खूब दिलचस्पी थी। इसलिए वह बन्दरगाहों की उन्नति की ओर ध्यान देती रही।

प्रथम महायुद्ध ( १६१४-१८ ) के बाद भारत-सरकार ने बन्दरगाहों और उनसे जुड़ी हुई रेलों का निरीक्षण कराया। उस समय भारत में ( बर्मा को छोड़कर ) केवल चार बड़े बन्दरगाह थे। कराची, बम्बई, मदरास और कलकत्ता। पीछे कोचीन और चटगाँव के बन्दरगाहों की उन्नति की गई है, और उनके आन्तरिक प्रदेशों से सम्बन्धित करनेवाली रेलवे लाइनों में तरक्की हुई। इससे अधिक कुछ नहीं किया गया; कारण, अँगरेज सरकार हमारी आर्थिक उन्नति की ओर उदासीन थी, और १६२६-३० की मन्दी के कारण उसकी आमदनी में कमी हो गई थी।

विजगापट्टम के बन्दरगाह के विकास का श्रेय बंगाल-नागपूर रेलवे कम्पनी को है। सन् १६३६ में दूसरा महायुद्ध आरम्भ हो जाने से नई योजनाओं का कार्य स्थगित ही हो गया। अब हमारे यहाँ की बन्दरगाहों और उनसे सम्बद्ध रेलों की सुविधाएँ बहुत पुरानी पड़ गई हैं। इधर देश के आन्तरिक व्यापार, क्रयशक्ति, और विदेशी व्यापार सभी के मूल्य तथा मात्रा में वृद्धि हुई है। इस प्रकार हमारे बन्दरगाह और रेलें बढ़े हुए वाणिज्य का भार संभालने में असमर्थ हैं।

देश के बटवारे से परिस्थिति और भी अधिक चिन्तनीय हो गई। कराची और चटगाँव पाकिस्तान में चले गए। अब हमारे छः हजार मील लम्बे समुद्री किनारों पर बड़े बन्दरगाह केवल पाँच हैं—बम्बई, कोचीन, मद्रास, विजगापट्टम और कलकत्ता। इस प्रकार फ़ी बन्दरगाह के पीछे औसतन ढाई लाख का आन्तरिक प्रदेश और आठ करोड़ की आबादी है। दो प्रमुख बन्दरगाहों के बीच में समुद्री किनारा भी बहुत अधिक है। यह अवस्था हमारे उन्नतशील उद्योग धन्धों के लिए बड़ी असन्तोषजनक है।

अब कच्छ की खाड़ी पर स्थित कंडला बन्दरगाह की उन्नति करने का विचार हो रहा है। इसमें केवल कराची की क्षतिपूर्ति ही नहीं होगी, वरन् आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए प्रदेश खासकर दक्षिण-पश्चिम राजस्थान की उन्नति भी होगी। यह बन्दरगाह अहमदाबाद, अजमेर और दिल्ली को रेल के रास्ते समुद्र के निकट ले आवेगा। आशा है, भारत-सरकार पश्चिमी तथा पूर्वी समुद्री तट पर अन्य बन्दरगाह बनाए जाने का भी विचार करेगी। हमें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हरेक ५०० मील समुद्री किनारे पर एक अच्छे बन्दरगाह की ज़रूरत है।*

**हवाई जहाज**—पिछली सदी तक यातायात तथा आमदरफ्त के प्रायः दो ही मार्ग थे—स्थल-मार्ग और जलमार्ग। अब वायु-मार्ग का भी उपयोग होने लगा है, और क्रमशः बढ़ता जा रहा है। भारतवर्ष में वायुयातायात की वृद्धि की बहुत ही आवश्यकता है। इसके द्वारा इस विशाल देश के दूर-दूर के नगरों और मंडियों को सहज ही मिलाया जा सकता है। इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा व्यापार के लिए भी इसका बहुत उपयोग है। पूर्व में भारत की स्थिति ऐसी है कि अन्तर्राष्ट्रीय यातायात की योजना के अनुसार जो वायुमार्ग योरप, अफ्रीका से एशिया और आस्ट्रेलिया तक बनेगा, वह यहाँ से ही होकर

* 'वाणिज्य' में प्रकाशित श्री बी० एन० सिंह एम० ए० के लेख से।

जायगा। भारतवर्ष में वायु-यातायात बढ़ने की सम्भावना भी बहुत है; कारण, वायु-मार्ग के विचार से देश की प्राकृतिक स्थिति बहुत अनुकूल है; उस समय को छोड़ कर जबकि जल बरसाने वाली हवाएँ चलती हैं, यहाँ की जलवायु आदर्श है। हवाई जहाज, उनके उतरने के स्थान तथा ठहरने के स्टेशन, और प्रकाश-भवन आदि बनाने में रेलवे लाइन और रेलवे स्टेशन आदि की अपेक्षा कम खर्च होता है। अभी हवाई जहाजों के लिए कच्चे माल आदि का भारी सामान ढोना कठिन है, परन्तु जब बहुत-से हवाई जहाज चलने लगेंगे तो यह कठिनाई न रहेगी। सोने और चाँदी का माल ढोने के लिए हवाई जहाज बहुत उपयुक्त हैं। उन पर बहुत कम लोगों के हाथ लगते हैं, इसलिए चोरी का डर कम रहता है। इसी से हवाई डाक से ऐसी चीज़ें भेजी जाती हैं।

भारतवर्ष के बड़े बड़े नगर हवाई जहाज द्वारा जोड़े जा चुके हैं, बीच में स्थान-स्थान पर हवाई जहाजों के उतरने के लिए जगह तैयार की जा रही है। हवाई जहाज से यात्रा करने या डाक भेजने में समय की बहुत बचत होती है।

दिसम्बर सन् १९४० में श्री० वालचन्द हीराचन्द ने चालीस लाख रुपए की पूँजी से जहाज बनाने के लिए एक कम्पनी बनाई, जिसका नाम 'हिन्दुस्थान एअर-क्राफ्ट कम्पनी' है। कम्पनी ने बंगलौर में एक कारखाना खोला, जहाँ कि सस्ती बिजली और अच्छे फौलाद मिलने की सुविधा है। कम्पनी की पूँजी ७५ लाख रुपए हैं। इसमें मैसूर सरकार का भी अच्छा हिस्सा है। युद्ध-काल के लिए इस कम्पनी का कारोबार भारत सरकार ने अपने अधीन रखा था। इसका पहला जहाज जुलाई १९४१ में उड़ा था।

दूसरे महायुद्ध (१९३९-४५) के समय तक भारत में वायु-यातायात बहुत ही अवनत दशा में रहा। युद्ध-काल में हवाई जहाजों का काम अच्छा बढ़ा। महायुद्ध समाप्त होने के बाद हवाई यात्रा करने और हवाई डाक भेजने की सुविधा बढ़ती गई है। १ जुलाई १९४६ तक

भारत-सरकार ने कुल १४ कम्पनियाँ रजिस्टर की थीं। इनकी स्वीकृत पूँजी २७ करोड़ रुपए थी। ये कम्पनियाँ १४ मार्गों पर काम करती थीं, जिनकी कुल लम्बाई १०,५७० मील थी। इधर इस काम में खूब प्रगति हुई है। सन् १९४७ के अन्त तक २८ लाख यात्रियों को और ८ लाख ८० हज़ार पौंड सामान को १ लाख ३७ हज़ार मील ले जाया गया। यातायात की १८ कम्पनियाँ २१ रास्तों पर काम करतीं थीं। कम्पनियों की कुल लगी हुई पूँजी ४७ करोड़ रुपए है। भारतवर्ष में तीन बड़े हवाई अड्डे बम्बई, कलकत्ता और दिल्ली में हैं, जिनकी देखभाल अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर होती है। सात हवाई अड्डे अहमदाबाद, इलाहाबाद, लखनऊ, मद्रास, नागपुर पटना और विजयानगरम में हैं। इनके अलावा ३३ अड्डे इनसे छोटे हैं। यह तो प्रान्तों की बात हुई। भारतीय संघ में मिली हुई रियासतों के हवाई अड्डों की संख्या २६ है। इनकी क्रमशः वृद्धि होती जा रही है।

भारत सरकार ने वायु-यातायात की उन्नति के लिए दसवर्षीय योजना तैयार की है, जिस पर १५ करोड़ रुपए के करीब खर्च होगा। इसके अनुसार १११ पूर्ण रूप से सुसज्जित हवाई अड्डे और वायुयानों के उतरने के स्थान बनाए जायँगे। देश के भीतर सात हवाई सर्विसें होंगी। कलकत्ते से कोलम्बो, कलकत्ते से रंगून, बम्बई से कलकत्ता, दिल्ली से मद्रास, बम्बई से दिल्ली, कलकत्ते से आसाम, मद्रास से बंगलौर और कोचीन। ये सर्विसें निजी कम्पनियों द्वारा चलाई जायँगी।

देश के बंट जाने के कारण भारत-सरकार को कुछ नए कार्यक्रमों की ओर शीघ्र ध्यान देना होगा। अमृतसर का हवाई अड्डा ठीक से बनवाना और बड़ा कराना होगा क्योंकि पूर्वी पंजाब में यही एक अड्डा होगा। आसाम तक चलनेवाली डाक-सर्विस में व्यापार की सुविधाओं का भी प्रबन्ध होना आवश्यक है। इस सर्विस का रास्ता पूर्वी पाकिस्तान से न होकर भारत से ही होना अच्छा है। पाकिस्तान सरकार एक हवाई सर्विस कराची से ढाका तक आरम्भ करना चाहती है।

उसे भारत से ही होकर जाना होगा, क्योंकि कोलम्बो होकर जाने से रास्ता बहुत लम्बा और बेहद खर्चीला पड़ता है।

सन् १९४८ के प्रथम छः माह में यहाँ हवाई जहाजों ने ५८,७४,३८० मील की उड़ान की, और उनमें १,७६,७३४ आदमियों ने यात्रा की।

**डाक, तार, टेलीफ़ोन और रेडियो**—डाक और तार से भी व्यापार की वृद्धि होती है। यह कार्य सरकार द्वारा संचालित होता है। डाक और तार विभाग अपने काम के लिए हवाई जहाजों, रेलों, मोटरों, और जहाजों का उपयोग करता है। इस विभाग का सन् १९४४-४५ ई० का काम नीचे लिखे अंकों से मालूम हो जायगा :—

| | | | |
|---|---|---|---|
| डाक में भेजी गई कुल वस्तुओं की संख्या | | १,७३,०० | लाख |
| रजिस्टर्ड वस्तुओं की संख्या | | ६,०० | ,, |
| बीमे द्वारा भेजी गई वस्तुओं की संख्या | | ३४ | ,, |
| मनिआर्डरों की संख्या | | ६,४४ | ,, |
| बीमों का मूल्य | रु० | १,४७,०० | ,, |
| डाक महसूल | रु० | ११,८० | ,, |
| मनिआर्डरों का मूल्य | रु० | १,७३,०० | ,, |
| पोस्टल आर्डर बिके, उनका मूल्य | रु० | ६५ | ,, |
| वी० पी० द्वारा संग्रह किया गया | रु० | २४,७०,५० | ,, |

सन् १९४४-४५ में डाक और तार विभाग को कुल आय २९ करोड़ ३८ लाख रुपया हुई, और खर्च १९ करोड़ १३ लाख रुपया हुआ। इस प्रकार इस वर्ष १० करोड़ २५ लाख रु० का मुनाफा रहा। कुल डाकखानों की संख्या २५,८५० थी। सन् १९४४-४५ के अन्त में मेल लाइन (डाक जाने का मार्ग) १ लाख ५९ हजार मील थी, और इसमें १ लाख २७ हजार आदमी स्थायी रूप से, तथा २७ हजार अस्थायी रूप से काम करते थे। वर्ष के अन्त में तार की लाइन १,१३,४०० मील थी। इस साल देश तथा विदेशों में भेजे गए कुल

तारों की संख्या २६७ लाख थी, उसका ब्योरा इस प्रकार है—

| तार | प्राइवेट | सरकारी | प्रेस सम्बन्धी |
|---|---|---|---|
| देशी | १९८ लाख | ६३ लाख | ४ लाख |
| विदेशी | ८० ,, | ३ ,, | १ ,, |

टेलीफोन का अधिकतर सम्बन्ध एक ही देश के अन्दर भिन्न-भिन्न स्थानों से या कहीं-कहीं एक ही नगर के भीतर रहता है। बड़े-बड़े शहरों में एक जगह से दूसरी जगह जाने-आने में काफी समय लगता है; टेलीफोन के द्वारा व्यवसायी अपनी-अपनी दुकान या दफ्तर में बैठे हुए कई-कई मिनट तक बातचीत कर सकते हैं। ३१ मार्च सन् १९४३ को भारतवर्ष में डाक और तार विभाग द्वारा स्थापित टेलीफोन-एक्सचेंज कार्यालय २८०० और टेलीफोन १,२५,००० थे।

बेतार-के-तार द्वारा एक नगर से दूसरे नगर में, तथा अन्य देशों के प्रधान नगरों में, समाचार बहुत जल्द आ-जा सकता है। समुद्र-पार के स्थानों में, अथवा समुद्र में एक जहाज से दूसरे जहाज पर समाचार भेजने के लिए यही साधन काम में लाया जाता है। सन् १९४४-४५ में डाक और तार विभाग की ओर से भेजे हुए बेतार-के-तार के संदेश ३,४२,००० थे। ये संदेश अभी सरकारी ही होते हैं।

रेडियो द्वारा दूर-दूर के देशों में समाचार भेजने की व्यवस्था हो गई है। एक वक्ता का भाषण या गाना-बजाना हजारों मील दूर के आदमी, अपने-अपने घरों में इस यंत्र के पास बैठकर, अच्छी तरह सुन सकते हैं। रेडियो-कम्पनियाँ इसके द्वारा चीजों का विज्ञापन भी करती हैं। कुछ स्थानों में रेडियो द्वारा नई-नई पुस्तकों का परिचय दिया जाता है। भारतवर्ष में रेडियो का केन्द्रीय (अखिल भारतवर्षीय) हेडक्वार्टर नई देहली में है। इसके ग्यारह स्टेशन हैं—देहली, नागपुर, बम्बई, मदरास, पटना, कलकत्ता, लाहौर, लखनऊ, त्रिचनापली, ढाका और पेशावर। मार्च १९४६ के अन्त में २,०५,१३० व्यक्तियों तथा संस्थाओं ने इसका लेसन्स ले रखा था। लेसन्स डाक और तार विभाग के डायरेक्टर-

जनरल ( नई देहली ) की ओर से डाकखानों द्वारा जारी किए जाते हैं। अंगरेजी, हिन्दी, उर्दू, तामिल, और बंगला में रेडियो सम्बन्धी पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। हिन्दी पत्रिका 'सारंग' देहली से प्रकाशित होती है।

**राष्ट्रीय सरकार द्वारा इस कार्य की उन्नति**—स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय सरकार ने अपनी यातायात नीति में गाँवों की आवश्यकताओं को प्रमुख स्थान दिया है। केवल लाभ की जगहों में डाकखाने खोलने की पुरानी नीति छोड़ दी गई है। अब दो हजार से ज्यादा आबादी वाले गाँवों में डाकखाने खुलते जा रहे हैं। १६ अगस्त १९४७ को गाँवों के डाकखाने १६,९६४ थे, १ जुलाई १९४८ को उनकी संख्या बढ़ कर १८,४३८ हो गई है। इसी प्रकार शहरों के डाकखाने इस समय में ३५४८ की जगह ३७७५ हो गए। वर्धा के आस-पास एक चलते-फिरते हुए गाड़ी पर स्थित डाकखाने का भी प्रयोग हो रहा है। एक लारी लगभग ४०० मील का चक्कर लगाकर खत बांटती है, खत लेती है, और टिकट-लिफाफे आदि बेचती है।

डाक और तार विभाग में सुधार करने का प्रयत्न हो रहा है। बहुत से नगरों में खत कई बार बटने लगे हैं। अनेक स्थानों में डाक लेजाने के लिए मोटरें काम में लाई जाने लगी हैं। हवाई मार्गों के विकास के साथ-साथ हवाई डाक का भी प्रचार हो रहा है। कुछ जगहों में हरकारे प्रधान कार्यालय से शाखा-कार्यालय में तार मोटर-साइकल पर ले जाया करें, ऐसी व्यवस्था की जा रही है।

सरकार तार और टेलीफोनों का आधुनिक ढंग पर विस्तार करने का आयोजन कर रही है। योजना में ५ हजार या इससे अधिक जन-संख्या वाले प्रत्येक स्थान पर एक तार-घर की, तथा ३० हजार जनसंख्या वाले प्रत्येक स्थान पर टेलीफोन-एक्सचेंज की, प्रमुख नगरों में बेतार-के-तार तथा अन्य इसी प्रकार के साधनों की स्थापना का विचार है। भारतवर्ष में टेलीफोन के सामान बनाने का कारखाना खोलने के लिए

एक अंगरेजी कम्पनी से १५ वर्ष के लिए समझौता किया गया है। इस अवधि में कम्पनी को कुल ८० लाख रु० देना होगा, और भारत में लगभग ३१ करोड़ रु० का सामान बन जाने का अनुमान है। कारखाने के लिए बंगलोर में एक स्थान चुन लिया गया है। यहाँ पूरे टेलीफोन बनने लगेंगे।

कशमीर से नए यातायात सम्बन्ध कायम किए गए हैं। विभाजन के कारण पुराने यातायात निरर्थक थे, और आक्रमणकारियों ने उन्हें नष्ट भी कर दिया था। रियासत के भारतीय संघ में शामिल होते ही वहां का डाक और तार का प्रबन्ध भारत-सरकार को ले लेना पड़ा। जम्मू और कशमीर में नए तार-केन्द्र खोले गए। दिल्ली और जम्मू के बीच में तार की लाइन और बेतार के स्टेशन बनाए गए।

भारतीय स्वाधीनता की वर्षगांठ मनाने के लिए डाक विभाग ने चार अलग-अलग मूल्य के गांधी स्मारक टिकट जारी किए हैं। इन पर 'बापू' देवनागरी और फारसी लिपि में, तथा अन्य बातें रोमन लिपि और अंगरेजी भाषा में छपी हैं। स्वाधीन-भारत के डाक विभाग का सब काम राष्ट्र-लिपि और राष्ट्र-भाषा में होना चाहिए।

**व्यापार के साधनों की उन्नति और उसका प्रभाव**—माल ढोने की उन्नति के कारण देश के भीतर एक जगह से दूसरी जगह तथा बन्दरगाहों से माल का आना-जाना बढ़ा है। रेलों ने नई सड़कों की माँग बढ़ा दी है, व्यापार के पुराने रास्तों को बदल दिया है और प्राचीन मण्डियों को बन्द करके नए व्यापार-केन्द्र खोल दिए हैं, जो रेलवे लाइनों के किनारे बसे हैं। रेलें और माल ढोनेवाली मोटरें, पुराने ढङ्ग की बैलगाड़ियों तथा लद्दू जानवरों का काम कर रही हैं। देश के भीतरी भागों में अभी उनकी पूरी पहुँच नहीं हुई है। सामान-ढुलाई का खर्च कम हो गया है। जहाजों तथा कुछ अंश में वायुयानों ने भारतवर्ष का व्यापारिक सम्बन्ध दूर-दूर के देशों से कर दिया है। यहाँ का देशी तथा विदेशी व्यापार खूब बढ़ गया है। हम प्रायः कच्चा

माल ही बाहर भेजते और तैयार माल (या मशीनें) बाहर से मंगाते हैं। हमारे किसान पहले खासकर यहाँ के आदमियों के लिए ही आवश्यक चीजें पैदा करते थे। अब उनका ध्यान ऐसे पदार्थ पैदा करने की ओर रहता है, जिनकी कीमत अच्छी मिले, चाहे उनकी यहाँ वालों को आवश्यकता न हो, और वे केवल दूसरे देशों में ही भेजे जाने योग्य हों। आजकल बन्दरगाहों की उन्नति हो रही है, क्योंकि देश का माल बन्दरगाहों से ही विदेशों को जाता है, और विदेशी माल भी यहीं आकर देश भर में फैलता है। अस्तु व्यापार के साधनों की उन्नति तो होनी ही चाहिए, परन्तु उसके साथ ही उनका उपयोग इस तरह होते रहने की बड़ी आवश्यकता है, जिससे उनके द्वारा व्यापार की जो वृद्धि हो, वह हमारे लिए हितकर हो।

**युद्ध और व्यापार में साधन**—भारतवर्ष में व्यापार के साधन शान्ति-काल के लिए भी कम हैं, फिर युद्धकाल की बात ही क्या! पिछले युद्ध में युद्ध-सामग्री तथा सैनिकों को एक स्थान से दूसरे स्थान लाने-लेजाने में ही बहुत सी सवारी गाड़ियाँ, तथा माल गाड़ी के डिब्बे और एँजिन लग गए। सर्वसाधारण के वास्ते इनकी कमी पड़ गई। व्यापारियों को बढ़े हुए किराए पर भी मालगाड़ी के डिब्बे काफी संख्या में न मिल सके, माल के निर्धारित स्थान पर पहुँचने में बहुत अधिक समय लगा, कुछ माल तो रास्ते में खराब ही हो गया। बहुत सी अच्छी-अच्छी मोटर लारियाँ लड़ाई के काम के वास्ते ले ली जाने से, तथा पेट्रोल का नियन्त्रण होने से मोटर लारियों से भी माल ढोने का काम यथेष्ट रूप से नहीं लिया जा सका। इससे व्यापार अस्त-व्यस्त हो गया। देश में पहले यातायात का बहुत सा काम बैल-गाड़ी, ऊँट-गाड़ी, खच्चर और गधों द्वारा होता रहा है, परन्तु इनसे माल बहुत दूरी के स्थानों में ले जाना आसान बात नहीं है। फिर लम्बे फासलों के लिए इनका प्रयोग करने का हमें अब अभ्यास या आदत भी नहीं रही है। युद्ध-काल में जनता ने इनकी ओर ध्यान दिया, और जहाँ-

तहाँ इनका प्रयोग भी किया, तथापि अनेक स्थानों के आदमियों के पास बाहर के पदार्थ नहीं पहुँच सके और उन्हें भोजन वस्त्र का भयंकर कष्ट उठाना पड़ा। इससे लोगों को उस युग की याद आई जब रेल और मोटर का प्रचार न होने पर भी वे आजकल की तरह कष्ट नहीं पाते थे; कारण, उस समय प्रत्येक ग्राम और नगर यथा सम्भव स्वावलम्बी था, आदमी यातायात का काम अपने ही अधीन साधनों से, बैलगाड़ी, ऊँट, गधों आदि से ले लेते थे। अब रेल, मोटर, हवाई जहाज आदि बढ़िया-बढ़िया साधन हैं परन्तु वे यथेष्ट परिमाण में नहीं हैं, उनसे जनता की इस समय बढ़ी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। अब राष्ट्रीय सरकार इसका भरसक प्रयत्न कर रही है।



## बाइसवाँ अध्याय

# देशी व्यापार

पहले बताया जा चुका है कि आजकल अधिकाँश विनिमय-कार्य रुपए-पैसे द्वारा होता है। हम अपनी चीज़ बेचकर रुपया लेते हैं, और किसी चीज को खरीदने के लिए रुपया देते हैं। इस खरीद-फरोख्त या क्रय-विक्रय के कार्य को व्यापार कहते हैं। व्यापार खासकर दो प्रकार का होता है—देशी और विदेशी। देशी व्यापार देश की सीमा के भीतर का व्यापार है। विदेश से आनेवाले तथा विदेश को जानेवाले माल के व्यापार को विदेशी व्यापार कहते हैं।

**देशी व्यापार के भेद**—इस अध्याय में देशी व्यापार का वर्णन किया जाता है। इसके दो भेद मुख्य हैं :—(१) आंतरिक या भीतरी व्यापार, और (२) तटीय व्यापार जो समुद्र के किनारे के स्थानों में होता है।

आजकल सट्टे और जुए का भी, व्यापार से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है कि कुछ लोग इनमें और व्यापार में कोई भेद नहीं समझते। ऊपर जिन व्यवसायों का उल्लेख है, उन्हें छोड़कर जो क्रय-विक्रय केवल तेजी-मन्दी होने की सम्भावना पर, नफा होने की आशा से, किया जाता है, उसे सट्टा ('स्पेक्यूलेशन') कहते हैं। इसमें बेचे तथा खरीदे हुए माल को देना-लेना होता है, कुछ दशाओं में माल के विनिमय से होनेवाले हानि-लाभ की रकम ही दी या ली जाती है। जो सौदा बेशुमार लाभ होने की आशा से, हैसियत से अधिक किया जाता है, और जिसमें माल का देना-लेना नहीं होता, उसे जुआ कहते हैं। इसके लेन-देन की सुनवाई अदालत में नहीं होती।

**आंतरिक व्यापार और उसके केन्द्र**—देशी व्यापार में निम्न-लिखित कार्यों का समावेश होता है :—(क) देश में उत्पन्न या तैयार किए गए पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान पहुँचा कर बेचना या, उन्हें विदेशों में बेचने के लिए बड़े-बड़े बन्दरगाहों पर भेजना। (ख) विदेशों से देश के बन्दरगाहों पर आए हुए माल को देश के भीतरी भागों में पहुँचा कर बेचना।

ज्यों-ज्यों आमदरफ्त और यातायात के साधनों की उन्नति होती जाती है, भारतवर्ष का भीतरी व्यापार बढ़ता जाता है। लोगों की आर्थिक अवस्था सुधरने पर इसमें और भी अधिक प्रगति होने की आशा है। व्यापार के केन्द्र या मंडियाँ देश के भिन्न-भिन्न भागों में हैं। कलकत्ता और बम्बई मुख्य बन्दरगाह होने के अतिरिक्त महत्वपूर्ण औद्योगिक केन्द्र भी हैं। सूती माल की आयात को पश्चिम भारत में वितरण करने का कार्य बम्बई से होता है। यहाँ का व्यापार प्रधानतया भारतीयों के हाथ में है। कलकत्ते में अभी तक योरपियनों का जोर रहा है। मदरास आदि बन्दरगाहों का भी व्यापार और उद्योग में खास स्थान है। कराची (पाकिस्तान की राजधानी) का बन्दरगाह गेहूँ के व्यापार का केन्द्र है।

बन्दरगाहों के अतिरिक्त व्यापार के अन्य बड़े-बड़े केन्द्र कानपुर, देहली, अहमदाबाद, अमृतसर, आगरा, लखनऊ, नागपुर आदि हैं। कानपुर सयुक्तप्रान्त में एक बड़ा रेलवे जंक्शन है, और बम्बई तथा कलकत्ते के बीच में होने से यहाँ से देशी तथा विदेशी माल चारों तरफ भेजने में सुविधा रहती है। देहली (भारतीय संघ की राजधानी) नौ रेलवे लाइनों का जंक्शन है; यहाँ से पंजाब में तथा संयुक्तप्रान्त के पश्चिमी जिलों में खासकर रूई, रेशम और ऊन के कपड़े का खूब व्यापार होता है। अहमदाबाद, बम्बई प्रान्त में, बम्बई से दूसरे दर्जे का व्यापारी तथा औद्योगिक नगर है। अमृतसर में कालीन, चमड़े आदि का कारोबार है। आगरे में दरी, कालीन, गोटा-किनारी संगमरमर आदि का काम अच्छा होता है। इसी प्रकार और भी कितने ही नगरों का व्यापारिक तथा औद्योगिक दृष्टि से अपना-अपना महत्व है।

भारतवर्ष के भीतरी व्यापार के महत्व को बहुधा ठीक-ठीक ध्यान में नहीं लाया जाता। ऐसा अनुमान है कि यह व्यापार यहाँ के विदेशी व्यापार की अपेक्षा तीन-चार गुना है, तथापि देश की विशाल जनसंख्या को देखते हुए यह बहुत कम ही है। इसका कारण कुछ तो अधिकाँश लोगों का सादा रहनसहन है, जिससे वे अपने नज़दीक की चीज़ों से ही अपना निर्वाह कर लेते हैं, और कुछ कारण यह भी है कि जनता में इतनी आर्थिक शक्ति ही नहीं कि वह बहुत से पदार्थों को इस्तेमाल के लिए खरीद सके।

**अन्तर्प्रान्तीय सहयोग की आवश्यकता**—भारतवर्ष के देशी व्यापार में रेल आदि की कमी से जो बाधा होती है, उसका ज़िक्र पहले किया जा चुका है। दूसरी बाधा यह है कि बहुधा एक प्रान्त में अनाज की कमी होने पर दूसरे प्रान्त की सरकार वहाँ काफी उदारता से अन्न आदि नहीं भेजती; यहाँ तक कि कुछ दशाओं में एक जिले से दूसरे जिले में खाद्य पदार्थ जाने में भी बड़ी रुकावट लगादी जाती है। देशी

राज्यों से तो माल बाहर जाने की मनाही प्रायः हमेशा ही रहती है। इसका नतीजा यह होता है कि कभी-कभी एक जगह एक चीज़ की बहुत कमी होती है, और वहाँ से कुछ मील के फासले पर ही वह चीज़ बहुत सस्ती होती है। ये सब बातें राष्ट्रीय भावना के विरुद्ध हैं। भारतवर्ष के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में प्रत्येक वस्तु का निर्बाध व्यापार होना चाहिए।

**तटीय व्यापार**—तटीय व्यापार में वह सब व्यापार सम्मिलित होता है, जो समुद्र-तट के एक स्थान का, दूसरे स्थान से होता है; चाहे वह व्यापार स्वदेशी वस्तुओं का हो या विदेशी का। इस प्रकार, इसके अंतर्गत ऐसे पदार्थों के व्यापार का भी समावेश होता है, जिनके क्रय-विक्रय का देश के भीतरी भागों से कुछ सम्बन्ध न हो। परन्तु ऐसे व्यापार का परिमाण थोड़ा ही होता है। अतः तटीय व्यापार अधिकतर देशी व्यापार का भाग माना जाता है। भारतवर्ष के तटीय व्यापार का ८० फीसदी से अधिक व्यापार कलकत्ते और बम्बई से होता है, उनके पीछे का क्षेत्र बहुत घनी और उपजाऊ है। शेष व्यापार अन्य बन्दरगाहों में बँटा हुआ है। कुल तटीय व्यापार प्रतिवर्ष लगभग सत्तर करोड़ रुपए के माल का होता है। कराची का बन्दरगाह अब पाकिस्तान में है; वहाँ से लगभग बीस करोड़ रुपए के माल का तटीय व्यापार होता है।

अंगरेज सरकार ने भारतवर्ष की आर्थिक उन्नति सम्बन्धी अन्य कार्यों में यहां के तटीय व्यापार की भी उपेक्षा की। सन् १९२८ में श्री० हाजी ने भारतीय व्यवस्थापक सभा में इस विषय का प्रस्ताव उपस्थित किया था कि भारत का तटीय व्यापार भारतीय जहाजों के लिए सुरक्षित किया जाय; यदि कोई मिश्रित पूँजी की कम्पनी जहाज चलाए तो उसका संचालन, प्रबन्ध और व्यवस्था अधिकांश में भारतीयों द्वारा ही हो। सरकार को इस राष्ट्रोपयोगी प्रस्ताव में जातीय भेद-भाव की वृद्धि की गंध प्रतीत हुई, और उसने उसे टाल

दिया। पीछे सन् १९३७ में सर गजनवी का इस आशय का प्रस्ताव सिलेक्ट कमेटी में भेजा गया था, कि तटीय व्यापार में भारतीय जहाजी कम्पनियों को विदेशी कम्पनियों की किराए आदि की अनुचित प्रतियोगिता न सहनी पड़े। इस का भी कुछ अच्छा परिणाम न हुआ।

अब (अगस्त १९४७ से) भारत में राष्ट्रीय सरकार है। आशा है, अपने व्यापारी बेड़े द्वारा यह देश इस व्यापार की यथेष्ट उन्नति करेगा।

**व्यापारी और उनका संगठन**—हमारे व्यापार की प्रमुख संचालक बड़ी-बड़ी एजंसी-कम्पनियां हैं, जो अभी तक अधिकांश में विदेशी हैं। इन कम्पनियों की प्रधान शाखाएँ यहाँ के बड़े बन्दरगाहों में हैं, कुछ ने अपनी छोटी शाखाएँ भिन्न-भिन्न शहरों में खोल रखी हैं। इन कम्पनियों के नीचे का व्यापार प्रायः भारतवासियों के ही हाथ में है। इस प्रकार के व्यापार में मारवाड़ियों ने बड़ा भाग लिया है। इनके अतिरिक्त बम्बई में पारसियों, भाटियों, बोहरों और खोजा लोगों ने, पंजाब में खत्रियों और मुसलमानों ने, संयुक्तप्रान्त में बनियों ( वैश्यों ) ने, बङ्गाल और बिहार में मारवाड़ियों ने, तथा मदरास में चेटी और कोमाटियों ने बड़ी प्रवीणता दिखाई है। खेद है कि अधिकाँश व्यापारियों को व्यापार का विशेष ज्ञान नहीं होता, वे भले-बुरे उपायों से पैसा प्राप्त करने को ही व्यापार समझते हैं, और व्यापारी के नाम को लज्जित करते हैं। व्यापारियों को जानना चाहिए कि जनता की आवश्यकता की कौन-कौनसी वस्तु विदेशों में पैदा या तैयार होती है, वे चीजें यहाँ किस प्रकार प्राप्त की जा सकती हैं, जिनसे देश स्वावलम्बी हो। इसी प्रकार व्यापारी इस बात का पता लगाते रहें कि हमारे यहाँ के कौन-कौनसे उपयोगी पदार्थ ऐसे हैं, जो यहाँ बहुत अधिक होते हैं, और विदेशों में नहीं होते, अथवा कम परिमाण में होते हैं। इन पदार्थों को बाहर भेजने की व्यवस्था करने में उनका उद्देश्य न केवल धन पैदा करना, वरन् लोकहित भी होना चाहिए।

यहाँ के व्यापारिक संगठनों में योरपियन संस्थाएँ प्रमुख और प्राचीन

है—यथा एसोशिएटेड चेम्बर-आफ-कामर्स आफ इंडिया, तथा चेम्बर-आफ-कामर्स कलकत्ता ( सन् १८३४ ), बम्बई ( १८३६ ), मदरास ( १८३६ ), और कानपुर, लाहौर, कराची आदि। बम्बई की चेम्बर को छोड़कर, अन्य चेम्बरों में अधिकांश सदस्य योरपियन ही हैं। इन चेम्बरों के अतिरिक्त, कुछ संस्थाएँ व्यापार की भिन्न-भिन्न शाखाओं से सम्बन्धित हैं, जैसे जूट-मिल-एसोशिएशन या काटन-मिल-एसोशिएशन। मुख्य-मुख्य शहरों में फुटकर बेचनेवालों की भी कुछ संस्थाएँ हैं।

भारतीय व्यापारियों ने बहुत समय तक अपना संगठन नहीं किया था, इससे उन्हें बहुत हानि उठानी पड़ी, और उनकी शिकायतों पर सरकार ने कुछ ध्यान नहीं दिया। क्रमशः उनमें जागृति हुई; उन्होंने अपनी सङ्गठित संस्थाएँ बनाईं। अब करीब-करीब हर प्रान्त में उनकी चेम्बर-आफ-कामर्स स्थापित हो गई है। इनकी सब से पुरानी संस्था बंगाल नेशनल चेम्बर-आफ-कामर्स (१८८७) है। अन्य कुछ संस्थाएँ निम्नलिखित हैः—मारवाड़ी चेम्बर आफ-कामर्स ( १९०७ ); इंडियन मर्चेंट्स चेम्बर एँड ब्यूरो, बम्बई ( १९०७ ); साउथ इंडियन चेम्बर-आफ-कामर्स, मदरास ( १९०९ ); इण्डियन चेम्बर-आफ-कामर्स, कलकत्ता ( १९२५ ); और महाराष्ट्र चेम्बर-आफ-कामर्स ( १९२७ )। भारतवर्ष की व्यापारिक और औद्योगिक चेम्बरों का अखिल भारतीय संघ ( फेडरेशन ) भी है। ऐसी संस्थाओं द्वारा भारतीय व्यापार की बहुत उन्नति हो सकती है, और ये सरकार तथा रेलों पर भारतीय हित की दृष्टि से काम करने के लिए बहुत प्रभाव डाल सकती हैं। परन्तु गत वर्षों में प्रायः योरोपियन संस्थाओं का ही बोलबाला रहने से इसमें सफलता नहीं मिली। इसका एक कारण यह था कि भारतीय व्यापारियों में एकता नहीं थी, अनेक व्यापारी परस्पर में ईर्ष्या और अनुचित प्रतिस्पर्द्धा करते रहे। ये उधार देकर, माल का दाम गिराकर, ग्राहकों को बहकाकर जैसे भी बने अपना माल बेचने, नफा कमाने और दूसरे

व्यापारियों को नीचा दिखाने के इच्छुक रहे। ये सब बातें हमारे व्यापार की उन्नति में बड़ी बाधक हैं। इनका निवारण करने की ओर व्यापारिक संस्थाओं को यथेष्ट ध्यान देना चाहिए। युद्ध काल ( १६३६-४५ ) में यहाँ की व्यापारिक संस्थाओं ने अपने संगठन को मज़बूत बनाने की ओर ध्यान दिया, उन्होंने समय-समय पर सरकार को अपने सामूहिक मत से परिचित किया और अपने सदस्यों को अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का ज्ञान कराया।

**तौल-माप और सिक्कों की विभिन्नता**—हमारे अन्तर्प्रान्तीय व्यापार की वृद्धि में एक बाधा तौल-माप और सिक्कों की विभिन्नता या अलहदगी है। गत वर्षों में इनकी पृथकता कुछ घटी है, परन्तु अभी यथेष्ट सुधार नहीं हो पाया है। अधिकतर व्यापार में ८० तोले का सेर माना जाता है, तो अनेक स्थानों में कम या ज्यादह वज़न के सेर का भी प्रचार है। मध्यप्रान्त आदि में दाल चावल आदि माप कर दिए जाते हैं; इससे जब वहाँ कोई नया खरीददार पहुँचता है तो आरम्भ में उसे हिसाब समझने में कठिनाई होती है। कपड़े आदि के माप में सोलह गिरह या छत्तीस इंच के गज़ का आम चलन है। तथापि कितनी ही जगह भिन्न-भिन्न माप के 'कच्चे' गज़ का व्यवहार है। सिक्कों में 'कलदार,' रुपया देश भर में कानून-ग्राह्य है, परन्तु कई देशी राज्यों में उनका अलग-अलग मूल्यों का रुपया चलता है। इससे बहुत असुविधा होती है। राष्ट्र-हितैषियों को इस ओर समुचित ध्यान देना चाहिए, और अपनी निजी भावनाओं को कुछ अंश में त्याग कर भी व्यापारिक एकता और राष्ट्र-निर्माण कार्य में योग देना चाहिए।

**क्रय-विक्रय सम्बन्धी असुविधाएँ**—भारतीय व्यापार की एक प्रधान समस्या क्रय-विक्रय की जटिलता है। पहले कहा जा चुका है कि यहाँ अधिकतर किसान अशिक्षित और निर्धन हैं। वे माल खरीदने और बेचने के ज्ञान से वंचित होते हैं, और फल-स्वरूप उन्हें दोनों ओर से बड़ी हानि सहनी पड़ती है। पहले माल खरीदने का विचार

करें। किसान को बीज आदि खरीदना होता है, उसे अपने गाँव से बाहर का भाव मालूम नहीं होता, और मालूम भी हो तो क्योंकि, उसे माल थोड़े परिमाण में खरीदना होता है, उसके लिए किसी दूर के स्थान में जाकर उसे लाना कठिन होता है। अनेक दशाओं में तो उसके पास नकद दाम ही नहीं होते, उसे अपनी आवश्यकता की वस्तु उधार मोल लेनी होती है। अस्तु, गाँव का महाजन जिस भाव से उसे देता है, उसी भाव से वह ले लेता है।

इसी प्रकार बेचने की बात है। बहुधा किसान को लगान चुकाने के लिए खेती की पैदावार बेचने की बहुत जल्दी रहती है। वह उसके अच्छे दाम उठाने के लिए कुछ इंतजार नहीं कर सकता। फिर प्रायः उसे अपनी फसल का माल गाँववाले महाजन को ही बेचना होता है, जिसका वह प्रायः ऋणी रहता है। अधिकतर किसानों को न बाहर की मंडियों का भाव मालूम होता है, और न उन्हें बाहर जाकर बेचने का सुभीता है, इसलिए उन्हें अपने माल की जो-कुछ कीमत मिलती है, उसी में सन्तोष करना होता है। कुछ थोड़े-से किसान ऐसे होते हैं, जिन्हें अधिक पैदावार बेचनी होती है, ये पास के किसी कस्बे की मंडी में जाकर बेचते हैं। यहाँ उन्हें कई प्रकार के शुल्क या महसूल आदि देने होते हैं। चुङ्गी ( म्युनिसपल टैक्स ) के अलावा मंडी में गाड़ी ठहरने का शुल्क, दलाल की दलाली, माल की तुलाई तथा गोशाला और प्याऊ आदि का चन्दा—न-जाने उनसे क्या-क्या लिया जाता है। बेचारे किसानों को पहले तो यही निश्चय नहीं होता कि उनका माल उचित भाव से बिक रहा है और उन्हें ठीक ठीक दाम मिल रहे हैं; फिर, जब दाम मिलने लगते हैं, तो उपर्युक्त विविध शुल्क आदि में उनकी खासी रकम निकल जाती है।

क्रय-विक्रय सम्बन्धी इस हानि को दूर करने का उपाय यह है कि स्थान-स्थान पर सहकारी क्रय-विक्रय समितियाँ बनाई जायँ। समिति के सदस्य को जिस और जितने माल की आवश्यकता होती है, उसका

सूचना वह समिति को देता है। समिति बाजार के उतार-चढ़ाव का ध्यान रखते हुए इकट्ठा माल थोक भाव से खरीद लेती है, और साधारण कमीशन लेकर अपने सदस्यों को, उनकी आवश्यकतानुसार, माल दे देती है। इससे सदस्यों को बहुत किफायत रहती है। यह तो क्रय-सम्बन्धी बात हुई। इसी प्रकार, समिति अपने सदस्यों का माल बेचने का उचित प्रबन्ध कर सकती है; वह बाजार सम्बन्धी आवश्यक जानकारी प्राप्त करके माल को अन्तिम खरीददार के हाथ बेचने का प्रयत्न कर सकती है, जिससे बीच के कई दलालों की दलाली तथा अन्य नाना प्रकार के शुल्क आदि से छुटकारा होकर किसानों को अधिक-से-अधिक दाम मिलें। कुछ स्थानों में ऐसी समितियाँ बन गई हैं, उनका क्षेत्र क्रमशः बढ़ रहा है।

**दलालों की अधिकता**—हमारी व्यापार-पद्धति में एक बड़ा दोष यह है कि उसमें दलाल बहुत अधिक होते हैं, चाहे माल का उपभोग भारतवर्ष में ही हो, या वह विदेश में भेजा जाता हो। उदाहरण के लिए चावल के व्यापार का विचार करें, इसमें कितने दलाल होते हैं! साधारणतः गाँव के आदमी चावल अपने गाँव के ही महाजन के हाथ बेच देते हैं। ये महाजन उसे रेल-किनारे के बाजारों के दुकानदारों या आढ़तियों के पास पहुँचा देते हैं। ये दुकानदार या आढ़तिए उस चावल को किसी केंद्रीय मंडी के व्यापारियों के हाथ बेचते हैं, जो चावल के व्यापार के लिए विशेष प्रसिद्ध हो।* इस मंडी के व्यापारियों से चावल को भिन्न-भिन्न स्थानों के दुकानदार मंगाकर स्थानीय उपभोक्ताओं को फुटकर बेचते हैं। इस प्रकार उत्पादकों से उपभोक्ताओं तक कई आदमी इस व्यापार में भाग लेते हैं, और दलाली खाते हैं।

* यदि इस माल का निर्यात किया जाना हो तो मंडी वाले इसको बन्दरगाह पर भेजते हैं। फिर, बन्दरगाह वाले इस माल के चालान को उस एजंसी के हाथ बेचते हैं, जो विदेशों को माल भेजने का कारोबार करती है।

दलालों की अधिकता का दूसरा उदाहरण पुस्तकों का व्यवसाय है। आजकल कुछ स्थानों में साठ और सत्तर हो नहीं, पिछत्तर फी सदी तक कमीशन दिया और लिया जाने लगा है। जो आदमी इतना अधिक कमीशन लेते हैं, वे दूसरे कमीशन एजंटों को पचास फी सदी के लगभग कमीशन पर माल बेच देते हैं। ये कमीशन एजंट छोटे विक्रेताओं को प्रायः पच्चीस फी सदी कमीशन देते हैं। ये पुस्तक-विक्रेता अपने से छोटे पुस्तक-विक्रेताओं को, अथवा अध्यापक, पुस्तकाध्यक्ष लाइब्रेरियन या विद्यार्थी आदि किसी विशेष श्रेणी के ग्राहकों को, और दस-पाँच रुपए की इकट्ठी पुस्तक लेनेवाले साधारण ग्राहक को भी, छः से बारह फी सदी तक कमीशन दे देते हैं। कुछ दुकानदार तो फुटकर ग्राहकों को, चाहे वे आठ आने की ही किताब क्यों न लें, कुछ-न-कुछ कमीशन काटते हैं। अस्तु, इस व्यापार में मूल विक्रेता जिस पुस्तक पर ७५ फी-सदी कमीशन काट कर चार आने मूल्य लेता है, वह अंतिम ग्राहक यानी पाठक को एक रुपए में मिलती है; बीच के बारह आने दलालों में बँट जाते हैं, इससे पाठकों को होनेवाली हानि स्पष्ट है। वास्तव में उत्पादक और उपभोक्ता के बीच में कई-कई दलालों का पड़ना अनुचित और हानिकारक है। सहकारी विक्रय-समितियों द्वारा इस विकराल दलाली-प्रथा का निवारण किया जाना बहुत आवश्यक है, जिससे जनता की इस व्यापार के नाम से होनेवाली भयंकर लूट से समुचित रक्षा हो।

**पदार्थों का भाव-ताव करने के विषय में**—हमारे यहाँ प्रायः पदार्थों के दाम निश्चित नहीं होते; दुकानदार उसके अधिक-से-अधिक दाम माँगता है, और ग्राहक उसके कम-से-कम दाम लगाता है। बहुत देर तक वाद-विवाद और हाँ ना के बाद उक्त दोनों दामों के बीच के किसी दाम पर सौदा तय होता है। यह हमारे दैनिक जीवन की बात बन गई है, और प्रायः हम इसे दोष नहीं मानते। पाठक तनिक विचार करें, इस पद्धति में कितना समय और शक्ति नष्ट होती है!

बाजार से सौदा लाना कितना कठिन हो गया है ! भोले-भाले आदमियों की तो बात ही क्या, कभी-कभी अच्छे-अच्छे होशियार भी ठगे जाते हैं। इसे रोकने के लिए वस्तुओं के दाम निर्धारित रहने की व्यवस्था होनी चाहिए। प्रत्येक वस्तु की कीमत सुनिश्चित हो; और, जिन वस्तुओं की कीमत उन पर लिखी जानी सम्भव हो, उनकी तो लिखी हुई ही हुआ करे। कीमत निर्धारित करने में मुनाफा साधारण ही जोड़ा जाना चाहिए।*

**ग्राहकों का व्यवहार**—हम लोग प्रायः दुकानदारों के व्यवहार पर आक्षेप किया करते हैं। परन्तु क्या ग्राहक सदा ईमानदारी या नेकनीयती का परिचय देते हैं ? क्या जब कभी उन्हें अवसर मिलता है, वे दुकानदार को धोखा देने से चूकते हैं ? अनेक बार ग्राहक कम दाम देने, या अपना खोटा सिक्का दुकानदार के सिर मढ़ देने में बड़ी चतुराई समझते हैं। अगर दुकानदार पर कोई ऐसी मुसीबत आजाय कि वह अपना माल सस्ते दामों पर लुटा देने को मजबूर हो तो हम ऐसे अवसर का स्वागत ही करते हैं। उदाहरण के लिए बाढ़ या आंधी आने पर जब कोई आदमी अपने फल या शाक भाजी बहुत कम दामों पर बेचना चाहता है, तो हम उसके बताए दाम से भी कम में सौदा करने के इच्छुक रहते हैं। यदि किसी का माल नीलाम होता हो तो हम कितनी खुशी से अनावश्यक वस्तुएँ सस्ते दामों पर लाने को तैयार रहते हैं ! अगर किसी के घर में आग लग जाने से उसका सामान बिगड़ जाय तो हम नाममात्र कीमत देकर उस सामान से अपना घर भरने में कब संकोच करते हैं ! विधवाओं और अनाथों की जायदाद या सामान की पूरी कीमत चुकानेवाले वीर हममें से कितने हैं ! इस प्रकार, मानो हम इसी इन्तजार में रहते हैं कि दूसरों पर मुसीबत आए

* दुकानदारों को यथा-सम्भव त्याग भाव रखना चाहिए। निर्धन या मोहताज आदमियों को उनकी आवश्यकता के पदार्थ देते समय कुछ हानि सहकर भी उनसे विशेष रियायत की जानी चाहिए।

और हमें खूब लाभ उठाने का मौका मिले।

वर्तमान स्थिति में दुकानदार और खरीददार दोनों की भावना बिगड़ी हुई है। प्रत्येक दूसरे को ठगने का प्रयत्न करता है। इसमें सुधार होने की सख्त जरूरत है।

**हाट-व्यवस्था**—सन् १९३५ ई० में खेती के पदार्थों की बिक्री की व्यवस्था करने के लिए भारत-सरकार द्वारा एक केन्द्रीय विभाग की स्थापना हुई है। इस के काम ये हैं :—(१) कुछ खास-खास महत्व के पदार्थों के बाजारों की वर्त्तमान परिस्थिति तथा भावी उन्नति की जाँच करे और उनके सम्बन्ध में ब्योरेवार रिपोर्ट प्रकाशित करे, और (२) उन पदार्थों के भौतिक तथा रासायनिक लक्षणों की जाँच करके उनकी उचित कक्षा निर्धारित करे। इस विभाग द्वारा यह विचार किया गया है कि किस प्रकार कुछ शीघ्र बिगड़नेवाले पदार्थों को ऐसे ठंडे स्थान में सुरक्षित रखा जाए, जिससे ये बहुत समय तक खराब न हों, और दूर-दूर के स्थानों में भेजे जा सकें। इसने बहुत-से पदार्थों के बाजारों के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भी इस विषय सम्बन्धी अधिकारी नियत किए जाकर इस दिशा में कुछ काम हो रहा है। इस विभाग को जनता के सम्पर्क में आने की बहुत जरूरत है।

सन् १९३७ ई० में केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा द्वारा खेती के पदार्थों की कक्षा निर्धारित करने और निशान लगाने ('ग्रेडिंग और मार्किंग') का कानून पास किया गया था। कक्षा-निर्धारण पद्धति के आधार पर होनेवाला व्यापार क्रमशः बढ़ रहा है। इस व्यापार के पदार्थों में घी का विशेष स्थान है; कुछ अन्य पदार्थ अंडे, पशुओं की खाल, तेल, गुड़, चावल, आटा, आलू, तमाखू, रूई, सेव और आम आदि हैं।

**माल का विज्ञापन**—विज्ञापन आधुनिक व्यापार की जान है। कोई माल कितना ही अच्छा क्यों न हो, जब तक दूसरे आदमियों को

उसकी जानकारी न हो, वे उसे कैसे मँगाएँ! हमारे यहाँ विज्ञापन का प्रचार क्रमशः बढ़ रहा है। उसी का यह प्रताप है कि सुख-संचारक-कंपनी बम्बई से घड़ियाँ मथुरा मँगाकर, बम्बई के पास के स्थानों तक के ग्राहकों के हाथ बेच रही है। डोंगरे का बालामृत, पंडित ठाकुरदत्त की अमृतधारा, बाबू हरिदास की 'चिकित्सा चन्द्रोदय' पुस्तक आदि का नाम आज-दिन नगर-नगर ही नहीं, गाँवों तक में प्रसिद्ध है।

हमारे ज्यादहतर अखबार खासकर विज्ञापनों की आमदनी के ही भरोसे चल रहे हैं। इससे विज्ञापन देनेवालों, और अखबारों के मालिकों के अलावा अखबारों के ग्राहकों और पाठकों को भी लाभ है; उन्हें साधारण कीमत में काफी पढ़ने की सामग्री मिल जाती है। परन्तु इसका दूसरा पहलू भी है। कितने ही व्यापारी अपनी चीज़ का विज्ञापन देने में झूठ-सच का विचार नहीं करते। अपनी चीज़ के गुणों का बखान खूब बढ़ा-चढ़ाकर करते हैं। उसमें बहुधा नब्बे फीसदी तक झूठ होता है; हाँ, भाषा आकर्षक और लच्छेदार होती है। ग्राहक झूठे प्रलोभन में फंस जाते हैं। उनको बहुत हानि होती है। इसका परिणाम यह होता है कि अनेक आदमियों का विज्ञापनों पर विश्वास नहीं होता। वे विज्ञापनों को पढ़ते तक नहीं। अस्तु, यहाँ विज्ञापन-वृद्धि की आवश्यकता है, पर विज्ञापन का अर्थ झूठा प्रचार, और उसका उद्देश्य जैसे-भी-बने लोगों के पैसे ठगना, नहीं होना चाहिए।

**व्यापारिक सफलता**—आजकल खाने-पीने के पदार्थों में कैसी हानिकारक मिलावट रहती है, इसका उल्लेख हम 'उपभोग के पदार्थ' शीर्षक अध्याय में कर चुके हैं। व्यापारी अधिक मुनाफा पाने के लिए ग्राहकों को तरह-तरह से धोखा देते हैं। खराब तथा पुरानी चीज को अच्छी और नई कहना तो मामूली बात है। दीजानेवाली चीज को कम तोलना और लीजानेवाली को अधिक, यह भी व्यापार-कुशलता का लक्षण माना जाता है। हाथ के बुने साढ़े ग्यारह या पौने बारह गज के थान को बारह गज का कहकर बेचा जाता है। माल ऊपर कुछ-

और रहता है, तथा भीतर कुछ-और; संख्या में कुछ कमी कादी जाती है, या बीच में कुछ चीजें टूटी-फूटी या खराब रख दी जाती हैं।

इन बातों से थोड़ी देर लाभ भले ही हो; अन्त में हानि ही होती है। सफलता वही है, जिसका आधार ईमानदारी और शुद्ध व्यवहार हो। फिर, यदि बेईमानी से व्यापार करके किसी ने द्रव्य जोड़ भी लिया तो कौन विवेकशील व्यक्ति इसे अभिनन्दनीय कहेगा! द्रव्य के कुछ लाभ के बदले यदि हमें चरित्र की हानि उठानी पड़ती है तो असल में हम घाटे में ही रहते हैं। हमारा कारोबार, हमारा व्यापार सब ऐसा होना चाहिए, जिससे हमारा विकास हो। द्रव्य की अपेक्षा मनुष्यत्व कहीं बढ़कर है, व्यापार मानवी गुणों के विकास का एक साधन मात्र है, स्वयं-साध्य नहीं है। अतः व्यापार वही किया जाना चाहिए, जिसमें हमारा, समाज का, देश का, एवं मनुष्य-मात्र का हित हो।

**युद्ध और देशी व्यापार**—युद्ध के समय विदेशी माल का आयात कम होने से, देश में अधिकतर स्वदेशी माल का ही व्यापार होता है। किसानों एवं कल-कारखाने वालों का ध्यान देश की आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर रहता है। इससे स्वदेशी माल के व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है। परन्तु जबकि देश में यातायात के साधनों की कमी होती है, और अधिकतर रेल और मोटर-लारियाँ सैनिकों या सैनिक सामग्री को ही लाने-लेजाने में लग जाती हैं तो व्यापारियों को अपना माल एक जगह से दूसरी जगह भेजने में बड़ी असुविधा हो जाती है, और देशी व्यापार बहुत रुक जाता है। भारतवर्ष में पिछले महायुद्ध में ऐसा ही अनुभव हुआ है। इसका जिक्र पिछले अध्याय में किया जा चुका है। युद्ध के समय सैनिक सामग्री, रेल, जहाज, मोटर, हवाई जहाज, सैनिकों की वर्दी आदि की माँग बहुत बढ़ जाती है।

पिछले महायुद्ध का खास प्रभाव यहाँ सन् १९४१ के अन्त में

पड़ने लगा। आयात कम होने से व्यापारियों ने चीजों के दाम बढ़ा दिए, और वे माल रोकने लगे। तब सरकार ने कीमत-नियन्त्रण शुरू किया और नफाखोरी के विरुद्ध कानून बना कर कड़े दंड दिए, और राशनिंग तथा स्टैंडर्ड क्लाथ (कपड़े) की व्यवस्था की। बहुत से काम धंधों के लिए लायसेन्स लेना लाजमी कर दिया गया। इससे लायसेन्स देनेवाले अफसरों की घूसखोरी बढ़ी, और जिन लोगों का प्रकट रूप से कोई रोजगार न चला, उनमें से बहुत सों ने चोर-बाजार चेतन किया। सरकार ने घूसखोरी और चोर-बाजार को बन्द करने की कोशिश की, परन्तु वह जनता का सहयोग न पा सकने के कारण, इसमें प्रायः असफल रही। मध्य और नीचे की श्रेणी के आदमियों को बहुत कष्ट भोगना पड़ा। अस्तु; सन् १९४२ से अधिकतर व्यापार, सरकार ने अपने हाथ में अथवा नियंत्रण में ले लिया। परन्तु इससे जनता का कष्ट न मिटा।

सन् १९४५ में महायुद्ध समाप्त हो गया, और अगस्त सन् १९४७ से भारतवर्ष में राष्ट्रीय सरकार है। इस समय भी बहुत सा व्यापार सरकार द्वारा नियन्त्रित है। इसके सम्बन्ध में 'कीमत' शीर्षक अध्याय में लिखा जा चुका है।

**देशी व्यापार की वस्तुएँ और उनका परिमाण**—आदमी जिन वस्तुओं का उपभोग करते हैं, उनमें से बहुत थोड़ी सी ही वे स्वयं पैदा करते या बनाते हैं, कुछ आदमी तो कोई भी वस्तु पैदा या तैयार नहीं करते। इस प्रकार प्रायः उपभोग की सभी वस्तुओं का देशों में व्यापार होता है। तथापि देशी व्यापार की मुख्य वस्तुएँ ये हैं—गल्ला, तेलहन, घी, चीनी, गुड़, कपास, जूट, चाय, चमड़ा, खनिज पदार्थ, कोयला, नमक, मिट्टी का तेल, ईंधन, लकड़ी और कपड़ा आदि तैयार माल।

देश के भीतरी व्यापार की बहुधा ठीक कल्पना नहीं होती। विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि विदेशों को होनेवाली निर्यात के

बड़े-बड़े अंक भी इस देश की कुल उत्पत्ति का बहुत थोड़ा सा ही भाग होते हैं। हाँ, यह ठीक है कि कुल उत्पत्ति में से निर्यात को निकाल कर जो शेष रहता है, वह सब हमारे भीतरी व्यापार का सूचक नहीं होता; कारण कि उसमें से कुछ हिस्से का तो उत्पादक स्वयं ही उपभोग कर लेते हैं; यह विक्रयार्थ बाजार में नहीं जाता। इस प्रकार विविध पदार्थों की कुल उत्पत्ति में से स्वयं उत्पादकों द्वारा उपभोग किए जाने वाला तथा निर्यात होने वाला अंश निकाल दिया जाने पर जो शेष रहता है, उससे ही देशी व्यापार होता है।

तटीय व्यापार को छोड़कर, देशी व्यापार की वस्तुओं की कीमत या वजन के पूरे और विश्वसनीय अंक प्राप्त नहीं होते। सन् १९३३ से भारत-सरकार देश के भीतरी व्यापार सम्बन्धी सारांश के जो आंकड़े नए रूप में प्रकाशित करने लगी है, उनसे यही मालूम होता है कि रेलों या स्टीमरों द्वारा कुल मिलाकर एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में, या मुख्य-मुख्य बन्दरगाहों में से एक-दूसरे में कौन-कौन सी मुख्य वस्तु कितने परिमाण में आई या गई। इसमें वस्तुओं की कीमत नहीं दिखाई जाती। इससे यह भी मालूम नहीं होता कि एक प्रान्त या रियासत के एक हिस्से (ब्लाक) से दूसरे हिस्से में रेल या नहर द्वारा कितना माल आया या गया। अस्तु, उपर्युक्त हिसाब के अनुसार सन् १९३९-४० में कुछ वस्तुओं का भीतरी व्यापार निम्नलिखित हुआ—

| | | | |
|---|---|---|---|
| कोयला | ४६६५ लाख मन | जूट | ३२८ लाख मन |
| कपास | २०७ ,, ,, | बोरियाँ और | |
| सूती माल | ११३ ,, ,, | जूट का कपड़ा | ५५ ,, ,, |
| चमड़ा और खाल | ३४ ,, ,, | लोहा, फौलाद, | |
| तेलहन | ४३८ ,, ,, | उनका सामान | ४२० ,, ,, |
| गल्ला और आटा | १४३ ,, ,, | चीनी, गुड़ आदि | २९० ,, ,, |

इन वस्तुओं का यह परिमाण इससे पहले के छः सालों में सब से अधिक था। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि इस वर्ष रेलों

की आमदनी तथा काम में आनेवाले डिब्बों की संख्या भी अधिक रही।

पहले कहा जा चुका है कि सरकारी प्रकाशन से यह नहीं मालूम होता कि देशी व्यापार अब कितनी कीमत की वस्तुओं का होता है। सन् १९२०-२१ में प्रकाशित सरकारी आंकड़ों के अनुसार देशी व्यापार १५०० करोड़ रुपए का बताया गया था। अस्तु, जो अधुरे से अंक प्राप्त हैं, उनसे यह तो स्पष्ट ही है कि देश की जनसंख्या और विस्तार की दृष्टि से यह व्यापार बहुत कम है। आर्थिक उन्नति के साधनों की वृद्धि होने पर इसका परिमाण अब से कई गुना होना अनिवार्य है, और देश में राष्ट्रीय सरकार होने से अब इन साधनों की उन्नति होगी ही।

**नोट**—अगस्त १९४७ से पाकिस्तान के भागों से होनेवाला भारतीय व्यापार विदेशी माना जाता है। इसका विचार अगले अध्याय में किया जायगा।

---

## तेईसवाँ अध्याय

# विदेशी व्यापार

**प्राक्कथन**—जिस तरह एक देश के निवासी आपस में व्यापार करते हैं, उसी तरह सभ्यता का विकास, आयात-निर्यात करने के साधनों में उन्नति, और आवश्यकताओं की वृद्धि होने पर एक देश के निवासी दूसरे देश वालों से भी व्यापार करने लगते हैं। अपने देश की, जरूरत-से-अधिक चीजें दूसरे देश को देकर बदले में वहाँ की चीजें, अपनी आवश्यकतानुसार, ले ली जाती हैं। इसी को विदेशी व्यापार कहते हैं। इससे एक देश में न होनेवाली चीजें दूसरे देश से मिल जाती हैं।

**भारत का प्राचीन व्यापार**—भारतवासियों ने शिल्प और उद्योग-धंधों की उन्नति, अन्य अनेक देशों की अपेक्षा बहुत पहले

की। ऐतिहासिक प्रमाणों से यह भली भाँति सिद्ध हो चुका है कि ईस्वी सन् के हजारों वर्ष पहले से लेकर १८ वीं सदी तक भारतवर्ष अन्य देशों में विविध बढ़िया और बहुमूल्य सामान भेजता था। चीन, साइबेरिया, फारस, बैबिलन, जेनेवा, मिस्र आदि देश अपने वैभव के दिनों में भारतीय कारीगरी, व्यापार और संपत्ति से ईर्षा किया करते थे।

जैसा कि श्री० राधाकृष्ण जी झा ने लिखा है, * ईस्वी सन् के प्रारम्भ में भारतवर्ष का विदेशी व्यापार काफ़ी बढ़ चुका था। तभी तो सुप्रसिद्ध रोम-इतिहास का लेखक प्लिनी इस बात की शिकायत करता है कि कम-से-कम साढ़े पाँच करोड़ 'सेस्टर्स' (७० लाख रुपए) का सोना और चाँदी रोम से प्रतिवर्ष भारतवर्ष को जाती है। आठवीं शताब्दी से क्रमशः तुर्कों का बल बढ़ा, यहाँ तक कि सन् १४५३ ई० में कुस्तुन-तुनिया उनके हाथ आ गया। फिर धीरे-धीरे भूमध्य सागर और मिस्र पर भी इनका अधिकार हो जाने के कारण योरपवालों को इस रास्ते से व्यापार करके मनमाना लाभ उठाने में बाधा पड़ने लगी। अंत में, सन् १४९८ ई० में पुर्तगाल वालों ने 'उत्तम आशा' अंतरीप के रास्ते अफ्रीका के गिर्द होकर, भारतवर्ष आने का रास्ता ढूँढ़ निकाला और पूर्वी व्यापार पर एकाधिपत्य प्राप्त कर लिया। धीरे-धीरे हालैण्ड इङ्गलैण्ड और फ्रांस वालों ने भी अपनी-अपनी कम्पनियां खोलीं। इन सब में खूब लड़ाई-झगड़े होते रहे। अन्त में अँगरेजों की जीत हुई। उन दिनों सड़कें, बन्दरगाह, माल ढोने के साधन आदि उन्नत अवस्था में नहीं थे। सफर लम्बा था, खर्च बहुत पड़ता था। तो भी भारत का व्यापार, ( जो अधिकांश शिल्पीय पदार्थों का होता था ) कम लाभ-दायक नहीं था। सन् १६८२ ई० में ईस्ट-इण्डिया कम्पनी ने १५० प्रति सैकड़े का मुनाफा बाँटा था।

मध्यकाल में इस देश के आंतरिक कलह-फूट और आलस्य ने क्रमशः इसके आर्थिक महत्व का ह्रास कर दिया। तथापि मुगल-शासन

* 'भारत की साम्पत्तिक अवस्था' से।

के अधिकांश समय तक यहाँ के किसान और कारीगर सुखमय जीवन बिताते रहे। बादशाहों की सुरुचि तथा शौक़ीनी के कारण, इस देश का कला-कौशल और शिल्प विदेशों के लिए आदर्श बना रहा। सतरहवीं ही नहीं, अठारहवीं सदी में भी इस देश के बने हुए ऊनी, सूती और रेशमी वस्त्रों तथा खाँड, रंग, मसाले आदि अन्य चीज़ों के लिए सारा योरप लालायित रहता था। किन्तु उन्नीसवीं सदी से परिस्थिति पलटने लगी। पाश्चात्य देशों ने भौतिक विज्ञान की उन्नति, एवं कोयले और लोहे का उपयोग, करके भाप की शक्ति से कल-कारखाने चलाने शुरू किए। इससे वहाँ धीरे धीरे उत्पादन-व्यय घट गया, और वे अपनी ज़रूरत की चीजें बनाने लगे।

सन् १८६९ ई० में स्वेज नहर खुल जाने के कारण, भारत से योरप का तीन महीने का सफर सिर्फ तीन ही हफ़्ते में तय होने लगा। इससे किराए में भी बहुत बचत होने लगी। फिर भारतवर्ष में रेल निकल जाने के कारण, यहाँ के भीतरी भागों का बन्दरगाहों से सम्बन्ध हो गया। इससे योरपियन कारखानों के दलाल यहाँ के दूर दूर के देहातों में पहुँचकर, अन्न तथा कच्चा माल बन्दरगाहों पर सुगमता से लाकर विदेशों को भेजने लगे। इस प्रकार लगभग सन् १८७० ई० से भारतवर्ष ज्यादहतर कच्चे पदार्थों का निर्यात करनेवाला रह गया।

सन् १८८५ ई० के लगभग, परिस्थिति में कुछ सुधार होने लगा। भारतवर्ष की जूट और रूई की मिलों की बदौलत यद्यपि हमारे तैयार माल के निर्यात तथा कच्चे पदार्थों के आयात में कुछ थोड़ी-सी वृद्धि हुई तथापि अभी देश का अधिकाँश-आयात तैयार माल का, और अधिकाँश निर्यात कच्चे पदार्थों का ही होता है।

**विदेशी व्यापार का परिमाण**—हमारा अधिकाँश विदेशी व्यापार समुद्री मार्ग से होता है, और शेष, सीमा की राह से। पहले हम समुद्री व्यापार सम्बन्धी आवश्यक बातों का उल्लेख करते हैं। अब से सौ वर्ष पहले विदेशी व्यापार (आयात तथा

निर्यात, प्रतिवर्ष कुल मिल कर लगभग पच्चीस करोड़ रुपए के माल का होता था। विगत वर्षों में इस के मूल्य का परिमाण छः सौ करोड़ रुपए तक रह चुका है। यद्यपि किसी-किसी वर्ष उसके पहले वर्ष की अपेक्षा इस परिमाण में कुछ कमी भी हुई है, आमतौर से प्रथम योरपीय महायुद्ध के समय तक इसमें वृद्धि ही हुई। उस महायुद्ध के समय यह व्यापार कम रह कर, उसके बाद फिर बढ़ा। तथापि कई वर्षों से इसका परिमाण कम ही रहा है, इसका कारण कुछ अंश में जनता की राष्ट्रीय जागृति है, जिससे स्वदेशी उद्योग-धन्धों की उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है।

दूसरे योरपीय महायुद्ध ( सन् १९३९-४५ ) के समय यातायात की कठिनाइयों के कारण भी व्यापार कम रहना स्वाभाविक था। बहुत सी वस्तुएँ बहुत आवश्यक होने पर भी यहाँ नहीं आ सकीं। युद्ध के बाद आयात-निर्यात के अंकों में खासी वृद्धि हुई है। आगे गत दस वर्षों के अंक नीचे दिए जाते हैं; ये करोड़ रुपयों में हैं—इस हिसाब में सरकार द्वारा की जानेवाली आयात-निर्यात भी शामिल है। स्मरण रहे कि इन वर्षों में पदार्थों का भाव बहुत चढ़ा हुआ रहा है।

| सन् | आयात | निर्यात | व्यापार की बाकी |
|---|---|---|---|
| १९३८-३९ | १७७ | १८९ | +१२ |
| १९३९-४० | १५६ | १७० | +१४ |
| १९४०-४१ | १६९ | २१६ | +४७ |
| १९४१-४२ | १६१ | २०० | +३९ |
| १९४२-४३ | १७४ | २५४ | +८० |
| १९४३-४४ | ११५ | १९५ | +८० |
| १९४४-४५ | १३३ | २१० | +७७ |
| १९४५-४६ | २३२ | २२९ | — ३ |
| १९४६-४७ | २९२ | २६६ | —२६ |
| १९४७-४८ | ३३४ | ३२० | —१४ |

**व्यापार का स्वरूप**—अब हम यह बतलाते हैं कि हमारे आधुनिक विदेशी व्यापार का स्वरूप क्या है। (क) पहले भारतवर्ष से खाँड, नील, दुशाले, मलमल आदि तैयार माल विदेशों को जाता था; किन्तु अब अन्न या रुई, सन, तेलहन आदि कच्चे माल का जिसकी विदेशी कारखानों को आवश्यकता होती है, निर्यात बढ़ रहा है। विदेशों से आनेवाला माल प्रायः तैयार पदार्थों का होता है; हम अधिकतर कच्चा माल भेजते हैं, और तैयार माल मँगाते हैं। (ख) गत वर्षों में प्रायः हमारे आयात की अपेक्षा निर्यात बहुत अधिक कीमत का रहा है। हमारे निर्यात और आयात की कीमत में जो अन्तर रहा है, उसकी अपेक्षा हमारे व्यापार की बाकी की रकम बहुत कम रही है। [ इसका कारण यह है कि हमें इंगलैंड को सूद की रकम तथा सरकारी (अंगरेज) कर्मचारियों को पेन्शन आदि का बहुत सा रुपया प्रतिवर्ष देना होता था। युद्ध-काल ( १९३९-४५ ) में हमारी इच्छा के विरुद्ध सरकार हमारी व्यापार की बाकी का रुपया इंगलैण्ड में जमा करती रही। उसमें से अब यह हिसाब निपटा दिया गया है ]। व्यापार की बाकी, यहाँ कीमती धातुओं के रूप में आई है, जिसकी मात्रा बहुत मालूम पड़ने पर भी भारतीय जनसंख्या की दृष्टि से बहुत कम है। (ग) हमारे आयात का बहुत बड़ा भाग अकेले इङ्गलैण्ड से आता रहा है, जो हमारे निर्यात का अपेक्षाकृत बहुत कम भाग लेता है। (घ) व्यापार का नफा, जहाज का किराया तथा बीमे और साहूकारी आदि की अधिकतर आमदनी योरपियनों को मिलती रही है। खासकर पिछले सत्तर-पिछत्तर वर्षों में विदेशी माल अधिकाधिक मँगाने और विनिमय में कच्चे माल की निकासी करते रहने का परिणाम यह हुआ कि भारतीय जनता को इस बात की ओर ज्यादा ज़रूरत पड़ती गई कि वह अपना निर्वाह खेती पर करे।

**आयात की वस्तुएँ**—यों तो भारतवर्ष में बहुत-सी चीजों का आयात होता है, परन्तु हमें यहां कुछ मुख्य-मुख्य वस्तुओं के ही आयात

के सम्बन्ध में वक्तव्य है। ये वस्तुएँ विशेषतया निम्नलिखित हैं:—रुई और सूती माल, रेशमी और ऊनी माल, लोहे और फौलाद का सामान मशीन, मिलों का तथा रेल का सामान, मोटर, चीनी, कागज, रङ्ग, शराब और दवाएँ आदि।

**रुई और सूती माल** भारतवर्ष की आयात में प्रमुख स्थान रुई और सूती माल का है। यहाँ रुई काफी पैदा होती है, तथापि हम कुछ रुई बाहर से मँगाते हैं। इसका कारण यह है कि भारतवर्ष में जो कपास पैदा होती है, उसमें से अधिकांश की रुई का रेशा छोटा होता है। कुछ वर्षों से यहाँ लम्बे रेशे की रुई भी होने लगी है, पर वह काफी नहीं होती। इसलिए विदेशों से लम्बे रेशे की रुई मँगाई जाती है। कुछ समय से यहाँ उसकी उत्पत्ति बढ़ाई जा रही है।

अगस्त १९४७ से, भारतवर्ष से पश्चिमी पंजाब, सिंध और पूर्वी बंगाल निकल जाने से रूई के सम्बन्ध में भरतीय संघ की स्थिति अधिक शोचनीय हो गई है। इसके सुधार के लिए आवश्यक है कि यह देश स्वयं अच्छी और अधिक कपास पैदा करे। पाकिस्तान बन जाने से हमारे यहाँ रुई की कमी न रहनी चाहिए।

[ कपास की खेती उस भूमि पर न की जानी चाहिए, जिसपर अब अन्न पैदा होता है; कारण हमें अन्न भी तो काफी चाहिए। हमें (१) कपास बोए जाने वाले क्षेत्रों में वैज्ञानिक कृषि करके उसकी पैदावार बढ़ानी चाहिए; (२) पहाड़ी ढालों और घाटियों में, जहाँ कई प्रकार की खासकर लम्बे रेशे वाली कपास उपजाई जा सकती है, कपास की खेती करनी चाहिए; (३) धान काटने के बाद परती पड़ी रहनेवाली भूमि का कपास की खेती के लिए उपयोग करना चाहिए; और (४) जिन स्थानों में अच्छी कपास पैदा होने लगी है, वहाँ छोटे रेशे वाली कपास के बदले उसे पैदा करना चाहिए। —एम० पी० गांधी, 'वाणिज्य' में ]

भारतवर्ष में छोटे रेशेवाली रुई काफी मात्रा में होती है। ऐसी दशा में इङ्गलैण्ड आदि से सूती माल मँगाना बहुत अनुचित और

हानिकर है। हमें अपनी रुई से स्वयं ही अपने लिए आवश्यक परिमाण में वस्त्र तैयार करना चाहिए। यों तो मिलों में बननेवाले माल की भी वृद्धि हो सकती है, पर हाथ से बुने हुए वस्त्र का परिमाण बढ़ने की तो बहुत ही गुञ्जाइश है। गतवर्षों में चर्खा-संघ ने खादी की उत्पत्ति बढ़ाने का उद्योग किया है। राष्ट्रीय आन्दोलन से, अन्य विदेशी वस्तुओं में कपड़े के आयात में भी कुछ कमी हुई है, तथापि अभी वह विदेशों से काफी परिमाण में मँगाया जाता है। इसे बन्द करने, और भारतवर्ष को अपने वस्त्र-व्यवसाय में स्वावलम्बी बनाने में प्रत्येक देश-प्रेमी को भाग लेना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि हम छोटे रेशेवाली रुई के कपड़े का अधिक उपयोग करें, चाहे वह कुछ मोटा ही क्यों न हो।

भारतवर्ष में करोड़ों रुपए के विदेशी सूत का भी आयात होता है; कारण, यद्यपि यहाँ की मिलों ने महीन सूत कातने में पिछले वर्षों में, कुछ उन्नति की है, वे अभी तक यहाँ के महीन सूत की माँग पूरी नहीं कर सकतीं। अखिल भारतीय चरखा-संघ के उद्योग से अब यहाँ हाथ से महीन सूत भी काता जाने लगा है, और उस सूत के कपड़े भी बुने जाने लगे हैं। परन्तु अभी इस दिशा में और अधिक उद्योग होते रहने की आवश्यकता है।

**रेशमी और ऊनी माल**—भारतवर्ष में रेशमी और ऊनी माल भी बहुत परिमाण में आता है। दूसरे महायुद्ध से पहले जापान आदि से नकली रेशम का माल बहुत आया। वह देखने में तो चटकीला-भड़कीला होता है, वैसे बहुत कमजोर रहता है, जल्दी ही फट जाता है। उसमें उपभोक्ताओं की बहुत हानि होती है। आवश्यकता है कि भारतवर्ष में रेशमी और ऊनी वस्त्र-व्यवसाय को प्रोत्साहन दिया जाय। यहाँ रेशम और ऊन दोनों होते हैं, उद्योग करने पर वे और बढ़िया हो सकते हैं। सर्दी से बचने के लिए ऊनी कपड़ों की बहुत आवश्यकता है। अखिल भारतीय चर्खा-संघ तथा अन्य संस्थाएँ और व्यक्ति इस

कार्य में लगे हैं। इसे बहुत बढ़ाया जाना चाहिए।

**लोहे और फौलाद के सामान**—भारतवर्ष में कई कारखाने लोहे और फौलाद का सामान तैयार करते हैं। इस कार्य को संरक्षण मिलने से इसकी खासी उन्नति हुई है। पर अभी यहाँ की सब आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। इसके अलावा, सरकार और रेलवे कम्पनियों को भी बहुत-से सामान की ज़रूरत होती है। युद्ध-काल में यहाँ के कारखानों को उन्नति करने का अच्छा अवसर मिला। अब टाटा का कारखाना एशिया के प्रसिद्ध कारखानों में है। इसमें रेल की पटरियाँ और डिब्बों आदि का सामान बनने लग गया है, पर मशीनें और एंजिन नहीं बनते। राष्ट्रीय यातायात की वृद्धि के लिए रेलों के एँजिनों की, और उद्योग धन्धों की उन्नति के लिए मशीनों की आवश्यकता स्पष्ट है। इस मद्द में भी हमें स्वावलम्बी होना चाहिए। विदेशों से मशीनें मँगाने में एक हानि यह भी है कि अकसर वे लोग ऐसे एँजिन तथा मशीनें देते हैं, जो घटिया दर्जे की या कुछ पुराने ढंग की होती हैं, और इसलिए कम उपयोगी होती हैं। हमें जल्दी ही अपने लिए बढ़िया एँजिन और मशीनें बनानी चाहिएँ। भारतवर्ष में घरू उद्योग-धन्धों की अनुकूलता के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है, उनका प्रचार तथा उन्नति होने से हमारी मशीनों का आयात घटने में भी सहायता मिल सकती है।

**चीनी**—गत वर्षों में विशेषतया संरक्षण मिलने से, यहाँ चीनी का आयात घटा है। तथापि जर्मनी, जावा, मारिशश आदि से विदेशी चीनी आती ही रही है। युद्ध-काल में विदेशों से चीनी आना स्वभावतः कम रहा। अब यहाँ चीनी की पैदावार बढ़ाई जा रही है, वहाँ अच्छा गुड़ अधिक परिमाण में बनाया तथा उपभोग किया जाना चाहिए, क्योंकि वह चीनी की अपेक्षा सस्ता होने के अलावा अधिक पुष्टिकर भी है। अच्छे गुड़ का प्रचार बढ़ने पर चीनी का आयात कम होने में सहायता मिलेगी।

**मिट्टी का तेल और पेट्रोल**—भारतवर्ष में मिट्टी के तेल का खर्च क्रमशः बढ़ रहा है। अभी तक इस पदार्थ का अधिकांश आयात अमरीका और रूस आदि से होता था। बर्मा के भारतवर्ष से अलग कर दिए जाने के कारण, बर्मा से आने वाला तेल भी विदेशी समझा जाता है। यहाँ मोटर आदि का प्रचार क्रमशः बढ़ता जारहा है। इस लिए पेट्रोल का खर्च एवं आयात भी बढ़ रहा है।

**कागज**—भारतवर्ष में पहले हाथ का बनाया हुआ स्वदेशी ही कागज काम आता था। अब कागज की मिलें भी स्थापित हो गई हैं। ये क्रमशः बढ़ रही हैं। मिल के कागज के लिए बहुत-कुछ विदेशों से मँगाया हुआ 'पल्प' (लकड़ी का गुद्दा या लुगदी) आदि काम में लाया जाता है। हाथ से, तथा मिलों में यहाँ काफी कागज नहीं बनता, अतः विदेशी कागज मँगाना होता है। ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रचार बढ़ेगा, अखबारों तथा किताबों आदि की आवश्यकता अधिक होगी, और परिणाम-स्वरूप कागज की माँग बढ़ेगी। भारतवर्ष के जंगलों में बाँस काफी होता है, उससे कागज बनाया जा सकता है; उसके लिए मध्य-प्रान्त आदि में उद्योग हो रहा है। आशा है, हम विदेशी कागज के आयात से शीघ्र ही मुक्त हो जायँगे।

**आयात की अन्य वस्तुएँ**—उपर्युक्त वस्तुओं के अतिरिक्त हम प्रतिवर्ष करोड़ों रुपए की मोटर, शराब, तमाखू (सिग्रेट आदि), रंग, शीशे का सामान, दवाइयाँ आदि मंगाते हैं। साबुन, स्याही, छतरी, घड़ी आदि में भी काफी रुपया विदेशों को जाता है। यदि हम ध्यान दें, तो हम इनमें से कुछ पदार्थों की आवश्यकताओं को नियंत्रित कर सकते हैं, और कुछ पदार्थों को अपने देश में ही तैयार कर सकते हैं। इस प्रकार एक तो इन वस्तुओं की आयात कम होने से हमारा रुपया बच सकता है, दूसरे नए उद्योग-धन्धों से अनेक आदमियों को आजीविका का साधन प्राप्त हो सकता है।

अब, उन पदार्थों के आयात का विचार करें, जिनके, इस देश

में आने का कारण हमारी विशेष व्यापारिक परिस्थिति है। भारतवर्ष से विदेशों को जानेवाला माल अधिकाँश में कच्चा होता है। यह माल तैयार माल की अपेक्षा जगह ज्यादह घेरता है, तथा वजनी भी अधिक होता है। विदेशों से तैयार माल लाने के लिए जितने जहाजों की जरूरत होती है, यहाँ से कच्चा माल लेजाने के लिए उनसे अधिक जहाज चाहिएँ। जहाजों को खाली लाना कठिन है, इसलिए इन अधिक जहाजों में कोयला, नमक, सिमेंट आदि वजनी सामान नाममात्र के किराए पर यहाँ लाया जाता है। किराया बहुत कम होने से यह माल कीमत में यहाँ के स्वदेशी सामान से भली भाँति प्रतियोगिता कर सकता है। उसे यहाँ के व्यापारी खुशी से ले लेते हैं। हमारे इस माल के आयात में उस समय तक कमी होने की आशा नहीं, जब तक इस का मूल कारण विद्यमान है, अर्थात् जब तक हमारा निर्यात कच्चे पदार्थों का, और आयात तैयार पदार्थों का, होता है।

**हमारे निर्यात के पदार्थ; जूट और उसका सामान**—अब हम निर्यात के पदार्थों के सम्बन्ध में विचार करते हैं। इनमें प्रमुख स्थान जूट और उसके सामान का है। संसार भर में भारतवर्ष को इस का एकाधिकार रहा है। विभाजन होने के बाद कच्चे जूट का अधिकांश क्षेत्र पाकिस्तान (पूर्वी बंगाल) में, और मिलें भारतीय संघ (पश्चिमी बंगाल) में हो गई। पिछले वर्षों में जूट की मिलों ने बहुत तरक्की की है, इससे इसके गृह-उद्योग को धक्का पहुँचा है। जूट की उपयोगिता बढ़ती जा रही है; टाट, बोरी, सुतली आदि पहले से ही बनती थीं, अब कालीन, गलीचे आदि वस्त्रों में भी इसकी मिलावट की जाने लगी है। इससे इसकी माँग बढ़ रही है। मिलों के लिए तथा निर्यात के वास्ते बेचने से किसानों को जूट के दाम अधिक मिलते हैं, पर इससे उनके गृह-उद्योग का लोप हो जाने से उनकी हानि भी है। कुछ किसानों ने जूट की पैदावार का क्षेत्र बढ़ा कर, खाद्य पदार्थों की फसल का क्षेत्र कम कर दिया है; यह ठीक नहीं।

अब नकली जूट बनने लग गया है, ज्यों ज्यों उसका व्यवहार अधिक होगा, भारतवर्ष के जूट का माँग कम रह जायगी। हमें इसके लिए तैयार रहना चाहिए।

**रूई और सूती माल**—हम पहले कह चुके हैं कि भारतवर्ष में बहुत-सा कपड़ा विदेशों से आता है, तो भी हम खासे परिमाण में रूई की निर्यात करते हैं। यदि उस रूई का कपड़ा यहाँ ही बना लिया जाया करे, तो हमारा, रूई बाहर भेजने तथा विदेश से कपड़ा मँगाने—इन दोनों बातों से छुटकारा हो, और, हमारे अनेक आदमियों को वस्त्र-का एकाधिकार व्यवसाय से आजीविका का साधन प्राप्त हो। इस ओर ध्यान दिया जाने लगा है, पर अभी बहुत उद्योग होना शेष है।

यद्यपि भारतीय मिलों से बना हुआ कपड़ा, विलायती कपड़े से, कुछ मँहगा होता है, तथापि वह मोटा और मजबूत होने से, उसकी बाहर के कुछ देशों में माँग रहती है। यहाँ से कपड़ा विशेषतया लंका, मलाया प्रायद्वीप, ईरान, इराक और पूर्वी अफ्रीका में जाता है। युद्ध-काल में यह निर्यात काफी बढ़ा।

**खाद्य पदार्थ**—भारतवर्ष से खाद्य पदार्थों में विशेषतया गेहूँ का निर्यात होता रहा है। (पिछले कुछ वर्षों में तो हमें ही यह पदार्थ विदेशों से मंगाना पड़ा है) खाद्य पदार्थों का निर्यात होना उस दशा में तो बुरा नहीं है, जबकि यहाँ ये पदार्थ आवश्यकता से अधिक उत्पन्न होते हों। परन्तु जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, यहाँ के किसान अपनी निर्धनता के कारण जौ, चना, ज्वार, मकई, बाजरा आदि घटिया अन्नों पर निर्वाह करते हैं, और कुछ दशाओं में तो उन्हें ये घटिया अन्न भी काफी परिमाण में नहीं मिलते। हमारे व्यापारी बढ़िया खाद्य पदार्थों का निर्यात इसलिए नहीं करते कि ये पदार्थ इस देश की आवश्यकता से अधिक हैं, वरन् इसलिए करते हैं कि उन्हें इन पदार्थों की जो कीमत यहाँ मिल सकती है, उसकी अपेक्षा विदेशों से अधिक मिलती है। इस प्रकार बढ़िया खाद्य पदार्थों का निर्यात भारतवासियों की निर्धनता का

सूचक है।

गेहूँ के अतिरिक्त जौ, चने, बाजरे आदि का भी कुछ निर्यात होता है। जौ शराब तथा दवाइयाँ बनाने के काम में आता है। जब विदेशों में जौ कम पैदा होता है तो यहाँ से उसका निर्यात अधिक होता है।

तेलहन—भारतवर्ष से कुछ तेल भी बाहर जाता है, पर उसकी अपेक्षा तेलहन की निर्यात कहीं अधिक होती है। इसमें तीसी, तिल, अंडी, सरसों और बिनौला आदि मुख्य हैं। यह निर्यात अधिक होना देश के लिए हानिकर है; कारण, इससे खली यहाँ से चली जाती है, जो खेती के खाद तथा पशुओं के भोजन के लिए बहुत उपयोगी होती है। यदि तेलहन का निर्यात कम करके उस से यहाँ ही तेल निकालने का धन्धा बढ़ाया जाय तो एक तो उससे यहाँ के अनेक बेकार आदमियों को काम मिले; दूसरे, खली यहाँ रहने से खेती को, तथा पशुओं को भी लाभ हो।

चाय—चाय की खेती यहाँ रूप विशेष से सौ वर्ष से होने लगी है। इसका व्यवसाय अधिकतर विदेशी कम्पनियों के हाथ में है। वे इसकी उत्पत्ति बढ़ाने और यहाँ इसका प्रचार करने में खूब प्रयत्नशील रहती हैं। चाय विदेशों में भेजने के लिए, डिब्बे बाहर से मँगाए जाते हैं। भारतवर्ष में होनेवाले इसके उपभोग के सम्बन्ध में हम अपना विचार पहले प्रकट कर चुके हैं।

चमड़ा और खाल—भारतवर्ष से चमड़े और खाल का निर्यात होने का कारण यह नहीं है कि यहाँ उसकी आवश्यकता नहीं है, वरन् यह है कि यहाँ अनेक आदमी निर्धन होने के कारण जूते आदि का उपयोग नहीं कर पाते; दूसरे यहाँ चमड़े के काम को घटिया दर्जे का समझा जाता है। इसलिए बहुत से चमड़े को बाहर भेज दिया जाता है, और उसका तैयार सामान मँगाया जाता है। कुछ समय से यहाँ चमड़े के अंगरेजी ढङ्ग के कारखाने खुलने लगे हैं। यदि यहाँ चमड़े

का कुशलता-पूर्वक और काफी उपयोग किया जाय, और रबड़ आदि के जूतों का इस्तेमाल कम हो तो हमें न तो चमड़े की इतनी निर्यात करने की आवश्यकता हो, और न बहुत-सा चमड़े का सामान बाहर से मँगाना पड़े।

**ऊन**—पहले कहा जा चुका है कि हम बहुत-सा ऊनी माल विदेशों से मँगाते हैं, ऐसी दशा में हमारा ऊन का निर्यात करना अनुचित है। हमें चाहिए कि ऊन से यहाँ ही कपड़े तैयार करें; यदि हमारा तैयार किया हुआ ऊनी कपड़ा हमारी आवश्यकता से अधिक हो तो हम ऊनी वस्त्र का निर्यात करें। यहाँ पर कर्घों से बुने ऊनी वस्त्र चिरकाल से तैयार होते हैं, और यहाँ के शाल, कालीन आदि दूर-दूर के देशों तक प्रसिद्ध हैं। कुछ समय से ऊन की मिलों ने भी खासी उन्नति की है। ऊनी वस्त्र के व्यवसाय को बहुत बढ़ाने की आवश्यकता है।

**धातुएँ**—यहाँ धातुओं के विविध पदार्थ न बनाए जाकर, वे धातुएँ ही विदेशों को भेज दी जाती हैं। प्राचीन काल में भारतवर्ष लोहा ढालने तथा धातुओं की विविध वस्तुएँ बनाने के लिए संसार भर में प्रसिद्ध था; पर पिछली सदी से यह देश साधारण चीजों के लिए भी दूसरों का मुंह ताकनेवाला बन गया। अब कुछ सामान यहाँ बनने लगा है। देश में नाना प्रकार की जो मशीनें काम में लाई जाती हैं, वे अब भी प्रायः सभी विदेशी हैं। आवश्यकता है कि धातुओं का, विदेशों में निर्यात न किया जाय, उनका यहाँ ही अधिक-से-अधिक उपयोग हो।

**व्यापार की बाकी**—दो देशों के आयात और निर्यात की कीमतों के अंतर को 'व्यापार की बाकी' कहते हैं। इसका भुगतान करने के लिए सोना-चाँदी या सिक्का मँगाना, अथवा भेजना पड़ता है। इसलिए हरेक देश की इच्छा यही रहती है कि व्यापार की बाकी उसके नाम न निकले। भारतवर्ष की व्यापार की बाकी के सम्बन्ध में पहले,

व्यापार का स्वरूप बताते हुए, लिख आए हैं। इस बाकी का भुगतान पहले सरकारी हुंडियों द्वारा किया जाता था, अब स्टर्लिंग पौंड द्वारा किया जाता है। इसके सम्बन्ध में 'विनिमय की दर' शीर्षक अध्याय में लिखा जा चुका है।

**सीमा की राह से व्यापार**—समुद्र के रास्ते होनेवाले व्यापार के अतिरिक्त, हमारा कुछ व्यापार सीमा-पार के राज्यों से भी होता है। पहले पश्चिमोत्तर सीमा पर अफगानिस्तान, दीर, स्वात, बजौर, मध्य एशिया और ईरान से, तथा उत्तर और उत्तर-पूर्व में नेपाल, भूटान और तिब्बत से, और पूर्वी सीमा पर शान राज्य, पश्चिम चीन और श्याम से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था। सन् १६३६ में बर्मा, और १६४७ में पाकिस्तान का पृथक् राज्य बन जाने से हमारे इस व्यापार का पश्चिमोत्तर तथा पूर्वी और पूर्वोत्तर क्षेत्र बदल गया है। हमारी इन सीमाओं पर अब अन्य विविध राज्य न रहकर पाकिस्तान और बर्मा ही हैं। उत्तर में नेपाल और तिब्बत आदि ही मुख्य हैं, इनमें सब से अधिक व्यापार नेपाल से होता है। यहाँ से विशेषकर चावल, तेलहन, घी, बैल, भेड़, बकरे आते हैं, और बदले में कपड़ा, चीनी, नमक, धातु के बर्तन इत्यादि जाया करते हैं।

**पाकिस्तान से होने वाला व्यापार**—अगस्त १६४७ से, पकिस्तान का निर्माण होजाने से उसके साथ होने वाला भारतीय व्यापार विदेशी व्यापार माना जाता है। पाकिस्तान में कोयले और लोहे की बहुत कमी है, इसलिए तैयार माल की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह खासकर भारतवर्ष पर निर्भर है। मई सन् १६४८ के समझौते के अनुसार भारत पाकिस्तान को निश्चित मात्रा में कोयला, कपड़ा, तथा सूत, इस्पात, कच्चा लोहा तथा कतरन, परतदार लोहे की चादरें, कागज तथा गत्ता, कुछ रासायन तथा फार्मेसी की वस्तुएँ, एस्बेस्टास सीमेंट की चादरें, रंग, रोगन तथा वार्निश, चमड़ा तथा जूते, जूट की वस्तुएँ, ऊनी तथा बंटे हुए, ऊन का सामान, सरसों का तेल, मूंगफली

का तेल, साबुन, (टायलट) तम्बाकू तथा चाय की पेटियाँ देगा। इसके बदले में पाकिस्तान ने भारत को कच्चा जूट, कच्ची रुई, खाद्यान्न, खड़िया मिट्टी, कच्ची खालें तथा चमड़ा, नमक, पोटाशियम नाइट्रेट तथा ५५० पशु देना स्वीकार किया है।

**युद्ध और विदेशी व्यापार**—हमारे विदेशी व्यापार की दृष्टि से युद्ध दो प्रकार का होता है :—(१) जब उसका क्षेत्र परिमित हो, उससे यहाँ के आयात-निर्यात में बाधा न हो; और (२) जब उसका क्षेत्र इतना व्यापक हो कि आयात-निर्यात में बहुत बाधाएँ हों। इनमें से पहले प्रकार के युद्ध के समय अन्य देशों को, जो युद्ध का सामान बनाने में बहुत संलग्न होते हैं, हमारे खाद्य पदार्थों आदि की बहुत जरूरत होती है। इससे हमारा निर्यात बढ़ता है; और उसके बदले में कुछ तो उन देशों का सामान आता है, और बहुत-कुछ उनकी कीमत द्रव्य-रूप में यहाँ आती है। इस प्रकार भारतवर्ष को बहुत आर्थिक लाभ होता है। पहले योरपीय महायुद्ध (१९१४-१८) में ऐसा ही हुआ। उस समय इङ्गलैण्ड और मित्र-राष्ट्र जर्मनी को घेर लेने में बहुत सफल हो गए थे, और भारतवर्ष के कच्चे माल का बाजार प्रायः पूर्ववत् बना रह सका। जर्मन पनडुब्बियों के होते हुए भी उस समय सभी महत्वपूर्ण जलमार्गों पर अंगरेजों का प्रभुत्व था, इसलिए हमारे निर्यात में विशेष बाधा नहीं हुई थी।

परन्तु युद्ध का दूसरा रूप भी हो सकता है, जबकि उसका क्षेत्र व्यापक हो, सभी ओर के अनेक देश उसमें ग्रस्त हों और भारतवर्ष के निर्यात-कार्य में भयंकर बाधा उपस्थित हो। दूसरे योरपीय महायुद्ध (१९३९-४५), में पीछे जाकर ऐसा ही हो गया। आरम्भ में यह बात न थी। यद्यपि युद्ध के प्रथम वर्ष में योरप के कुछ देशों में हमारा माल जाना बन्द रहा, अन्य देशों में वह पहले से अधिक गया। उदाहरण के लिए इङ्गलैण्ड, ब्रिटिश उपनिवेशों, अमरीका, और मिश्र ने यहाँ का माल अधिक खरीदा। स्विटज़रलैंड, स्पेन, टर्की, अरब, इराक, ईरान,

थाईलैंड, और अफ्रीका में भी भरतीय माल अधिक मँगाया गया। अन्य पदार्थों की अपेक्षा जूट, दवाइयाँ, रबर, रूई, सूत, कोयला फल, चमड़ा, लोहा तथा अन्य खनिज पदार्थों का निर्यात अधिक हुआ। निदान, कुल मिलाकर १६३६-४० (युद्ध के प्रथम) में भारत का निर्यात २०३ करोड़ रुपए का हुआ, जबकि इस से पूर्व १६३८-३६ में वह १६३ करोड़ रु० का हुआ था।

किन्तु यह स्थिति बहुत समय तक न रही। धीरे-धीरे जर्मनी ने लगभग समस्त योरपीय महाद्वीप पर अपना प्रभुत्व जमा लिया, इससे वहाँ हमारे माल का बाजार न रहा। साथ ही विशेषतया भूमध्य सागर में अंगरेजों का प्रभुत्व कम हो जाने से उस ओर का समुद्री मार्ग खतरे से खाली न रहा। इसके अतिरिक्त, जापान के युद्ध-क्षेत्र में आजाने से, प्रशान्त महासागर के रास्ते से भी माल जाने-आने में बहुत जोखम हो गई। इन सब कारणों से निर्यात व्यापार बढ़ने के स्थान पर घट गया। यहाँ कपास, जूट, तेलहन आदि का स्टाक बढ़ गया। सन् १६४०-४१ में निर्यात १८७ करोड़ के माल का हुआ। पीछे निर्यात् बढ़ी भी तो वह कीमत की दृष्टि से ही। यदि हम यह स्मरण रखें कि उस समय पदार्थों की कीमत बहुत चढ़ी हुई थी, तो वास्तव में वह निर्यात् बढ़ा हुआ नहीं कहा जा सकता। कुल मिला कर, महायुद्ध हमारे विदेशी व्यापार को हानि पहुँचाने वाला ही हुआ। इसका एक खास कारण यह था कि भारत-सरकार ने पहले से यहाँ के व्यापार की उन्नति के लिए यथेष्ट तैयारी नहीं की थी, और युद्ध आरम्भ हो जाने पर भी उसने भारतीय हित का विशेष विचार नहीं किया।

**युद्धोत्तर व्यापार; पौंड पावना**—महायुद्ध की बात कह चुकने पर अब आगे का विचार करना है। युद्ध-काल में इंगलैंड ने भारत का बहुत सा माल (सस्ते भाव से, नियंत्रित कीमत पर) खरीदा, परन्तु भारत इंगलैंड से बहुत कम माल पा सका। उधर, इंगलैंड ने व्यापार की बाकी भी न चुकाई। वह हिसाब निपटाने का कार्य स्थगित करता रहा। इस

प्रकार वहाँ हमारा रुपया जमा होता गया। युद्ध से पहले इंगलैंड ने भारतवर्ष के नाम बहुत सी रकमें लिख रखी थीं, जिनकी भारतीय नेताओं को स्वतंत्रता पूर्वक जांच करने का अवसर नहीं दिया गया था। इस प्रकार भारत इंगलैंड का लगभग चार सौ करोड़ रुपए का कर्जदार ठहराया हुआ था। इस रकम को चुका देने पर हमारे १६०० करोड़ रुपए इंगलैंड की तरफ निकलते रहे। यह पौंड पावना (स्टर्लिंग कोष) इंगलैंड पर भारत का ऋण है।

इंगलैण्ड ने इसे चुकाने में बहुत आनाकानी की। उसने इसमें, भारत के हिस्से के युद्ध-व्यय की आड़ में, बहुत कमी करने का आग्रह किया। बातचीत चली। कुछ समझौता हुआ। इंगलैण्ड इस रकम को नकदी में चुकाने को तैयार नहीं हुआ। कुछ रकम तो अंगरेजों को भारतवर्ष की ओर से दी जानेवाली पेन्शन आदि के उपलक्ष में कम कर दी गई है, कुछ रकम की इंगलैंड मशीनें तथा अन्य सामान देगा, और कुछ का वह भारत को अमरीका का माल दिलाने की व्यवस्था करेगा। यह सब काम इंगलैण्ड की सुविधानुसार होगा। हम चाहते थे कि हमारी रकम हमें बहु-राष्ट्र सम्बन्धी व्यापार के लिए दी जाय, या डालर में बदल दी जाय, जिससे अमरीका से या अपनी पसन्द के अन्य किसी भी देश से बढ़िया मशीनें या ऐसी चीज़ें ली जा सकें, जो बहुत ही ज़रूरी, हों और भारत में न बन सकती हों। पर अब, हमें इस रकम में से कुछ का सामान इंगलैण्ड से भी लेना होगा। सरकार को चाहिए कि भारत को इस परिस्थिति में हानि कम-से-कम हो, इसका ध्यान रखे।

**व्यापारियों के स्वार्थ-साधन से देश की हानि**—खेद है, भारतवर्ष के बहुत से चतुर चालाक व्यापारी विलासिता के विदेशी माल की एजन्सी प्राप्त करने के लिए लिखा-पढ़ी ही नहीं, दौड़धूप करते रहते हैं उनका यह काम अपने स्वार्थ के लिए देश को हानि पहुँचाने का है। इसी तरह एक बात और भी विचार करने की है।

कुछ विदेशी व्यापारी भारतवर्ष में अपने कारखाने खोल रहे हैं, कितने ही भारतीय पूँजीपति उनसे कुछ साझेदारी का समझौता करना चाहते हैं। इस से देश की आर्थिक पराधीनता बढ़ेगी। आवश्यकता है कि विदेशियों को इस देश के शोषण करने में सफल न होने दिया जाय; और भारतीय पूँजीपति उनके इस घातक कार्य में 'कुल्हाड़ी का बेंटा बन कर' सहयोग न दें। इन बातों में सावधान रहने से ही हम युद्धोत्तर व्यापार को देश के लिए यथेष्ट लाभकारी बना सकेंगे।

**आयात-निर्यात सम्बन्धी विशेष वक्तव्य**—आयात और निर्यात के विवेचन से यह साफ जाहिर है कि भारतवर्ष अधिकांश में तैयार माल अन्य देशों से मँगाता है। इसके विपरीत, यहाँ से निर्यात अधिकतर कच्चे पदार्थों का होता है। यदि भारतवर्ष में घरू उद्योग-धन्धों तथा कल-कारखानों की यथेष्ट उन्नति हो जाय तो कच्चे पदार्थों का यहाँ अधिक उपयोग होने लग जाय, उन्हें इतने परिमाण में बाहर भेजने की आवश्यकता न रहे, यहाँ का निर्यात कम हो जाय, और साथ ही हमारी तैयार माल की आवश्यकता यहाँ के बने पदार्थों से पूरी होने लगे, हमें इतने आयात की आवश्यकता न रहे। इस प्रकार हमारे निर्यात और आयात दोनों का ही परिमाण घट जाय। विदेशी व्यापार के परिमाण का घटना कोई चिन्ताजनक बात नहीं है। कारण, सिर्फ व्यापार के अंकों के बढ़ने से ही किसी देश की सुख-समृद्धि सिद्ध नहीं होती। यह बात भारतवर्ष के विषय में विशेष रूप से लागू होती है। सौ वर्ष पहले की अपेक्षा अब हमारे विदेशी व्यापार का परिमाण कितना अधिक है, यह पहले बताया जा चुका है। पर कौन यह कहने का दुस्साहस करेगा कि आज दिन भारतवासी पहले से अधिक सुखी हैं! हम अपना कच्चा माल सस्ते भाव से विदेश भेज देते हैं और उस माल की तैयार की हुई मँहगी वस्तुएँ दूसरे देशों से खरीदते हैं। यह अनुचित है। हमें अपने आयात और निर्यात दोनों की सूक्ष्म जाँच करके, उन्हें बहुत कुछ कम करना चाहिए।

आयात के सम्बन्ध में खासकर यह बात ध्यान में रखने की है कि हमें मशीन या औजार आदि वे ही चीजें विदेशों से मँगानी चाहिएँ, जो अत्यन्त आवश्यक हों, जो हमारा उत्पादन बढ़ाने में सहायक हों, या जिनसे हमारे यातायात की उन्नति हो। भोजन वस्त्रादि रोजमर्रा की जरूरतों के लिए हमें स्वावलम्बी होना चाहिए, और अपनी कृषि तथा उद्योग-धन्धों की यथेष्ट उन्नति करनी चाहिए। अभी कुछ समय तक हमें मशीनों या कल-पुर्जों को विदेशों से मँगाना होगा। ये चीजें हमें अधिकतर अमरीका, कनाडा और आस्ट्रेलिया से अच्छी मिलेंगी। कनाडा, आस्ट्रेलिया का भुगतान तो हमारे पौंड पावने या स्टर्लिङ्ग कोष से हो ही जायगा। अमरीका के भुगतान के लिए हमें कुछ डालर इंगलैंड से मिलेगा, फिर जैसा पहले कहा गया है, भारतवर्ष अन्तर्राष्ट्रीय कोष और बैङ्क का सदस्य है, उसमें भी हमें डालर मिलना चाहिए।

निर्यात के सम्बन्ध में हमें ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि हमारा निर्यात-कार्य पूर्णरूप से हमारे अधिकार में रहे। जिन जहाजों, बीमा कम्पनियों और बैङ्कों आदि से हम काम लें, वे सब हमारे हों, अथवा हमारे नियन्त्रण में हों। हमारा निर्यात न तो खाद्य पदार्थों का होना चाहिए, जिनकी हमें ही आवश्यकता होती है, और न ऐसे कच्चे पदार्थों का हो जिनका हम उपयोग कर सकें। हमें विदेशों को अपनी बचत की ही चीजें भेजनी चाहिएँ। मध्य एशिया, अफ्रीका तथा सुदूर पूर्व आदि के जिन देशों को हमारे तैयार माल की आवश्यकता है, उन्हें हम तैयार माल भेजने का प्रयत्न करते रहें। हम किसी देश में अपना माल खपाने के लिए कोई जोर ज़बरदस्ती न करें और न वहाँ विलासिता की वस्तुएँ भेजकर मुनाफा कमाने की इच्छा रखें। निदान, दूसरे देशों से हमारा व्यापारिक सम्बन्ध इस प्रकार हो कि हमारा और उनका, दोनों का ही हित हो किसी का आर्थिक शोषण न हो।

**विदेशी बहिष्कार और विश्वबन्धुत्व**—अपनी आयात कम

करने के लिए देश में उद्योग-धंधों की उन्नति करने के अलावा हमें चाहिए कि अत्यन्त आवश्यक पदार्थों को छोड़कर हम विदेशी वस्तुओं के वहिष्कार का उपाय काम में लावें। विदेशी वहिष्कार की बात कुछ लोगों को अखरेगी। वे हमें विश्वबन्धुत्व का उपदेश करेंगे। हमारा भी आदर्श यही है कि संसार के सब देश एक दूसरे के साथ एक विशाल परिवार के सदस्यों की तरह प्रेम और समानता का व्यवहार करें। कोई देश किसी को अपने अधीन न करे। इस समय जो राष्ट्र दूसरों को अपने अधीन करने के लिए नाना प्रकार के नीच प्रयत्न कर रहे हैं, उसका एक प्रमुख कारण यह है कि उन्हें अपने अधीन देशों में अपना माल खपाने, तथा उनका आर्थिक शोषण कर सकने की आशा है। जब उनकी यह आशा न रहेगी, जब उन्हें विश्वास हो जायगा कि प्रत्येक देश स्वावलम्बी है और विदेशी माल का वहिष्कार करता है तो उन राष्ट्रों की साम्राज्य-विस्तार की लालसा भी कम हो जायगी। इस प्रकार यदि हम विदेशी वस्तुओं के सस्तेपन के लोभ में न पड़ें और स्वदेशी वस्तुओं से ही काम चलाने लगें—चाहे वे कुछ महँगी क्यों न हों—तो हम संसार को युद्ध-संकट से दूर करने में भी बहुत सहायक हो सकते हैं, और स्वयं भी शांति का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। सच्चे विश्वबन्धुत्व का आदर्श चरितार्थ करने का यही मार्ग है।

**विदेशों में भारतवर्ष का गौरव**—यह इतिहास-प्रसिद्ध है कि किसी देश का झंडा इतना तलवार के पीछे नहीं चलता, जितना व्यापार के पीछे चलता है। भारतवर्ष में अंगरेज पहले व्यापार करने आए थे, पीछे उनका यहाँ राज्य स्थापित हो गया, जो गत वर्ष (१९४७) तक बना रहा। खेद है कि भारतवर्ष में व्यापार के लिए, शिक्षित और योग्य व्यक्ति आगे कम आते हैं। यदि हम विदेशों में भारतवर्ष का गौरव स्थापित करना चाहते हैं तो यह हमारी ईमानदारी और सद्व्यवहार से ही हो सकता है। हमें ऐसा व्यापार करना

चाहिए कि भारतवर्ष में बने हुए ( 'मेड-इन-इंडिया' ) का अर्थ शुद्ध, खरा, बेमिलावट का, और बढ़िया हो जाय। जो आदमी अपने स्वार्थ के लिए विदेशों में खराब और घटिया, अथवा वजन या संख्या में कम माल भेजते हैं, वे अपनी साख तो खोते ही हैं, देश को भी बदनाम करते हैं। हमारी देशभक्ति का तकाजा है कि हम अपने शुद्ध और निष्कपट व्यवहार से देश-देशान्तर में भारतवर्ष का गौरव बढ़ानेवाले हों।



## चौबीसवाँ अध्याय

# विदेशी व्यापार की नीति

इस अध्याय में विदेशी व्यापार की नीति के सम्बन्ध में विचार करना है। व्यापार-नीति कहने से भी विदेशी व्यापार की ही नीति का आशय लिया जाता है। इसके मुख्य दो भेद हैं (१) मुक्त द्वार व्यापार या बेरोक-टोक व्यापार करने की नीति और (२) संरक्षण नीति।

**मुक्तद्वार-व्यापार-नीति**—मुक्तद्वार-व्यापार का अर्थ यह है कि आयात-निर्यात पर कर लगाने में स्वदेशी-विदेशी का भेद-भाव न रहे। अपना माल अन्य देशों में स्वतन्त्रतापूर्वक जाने दिया जाय, और दूसरे देशों का माल अपने देश में बेरोकटोक आने दिया जाय। इस नीति के पक्षवालों का कहना है कि मुक्तद्वार व्यापार होने की दशा में व्यापारी विदेशी व्यापारियों से प्रतियोगिता करते हैं। इससे उनमें अपना माल सस्ता तैयार करने की शक्ति और योग्यता आ जाती है। ( संरक्षण-नीति में यह बात नहीं होने पाती )। फिर, प्रकृति ने प्रत्येक देश को सभी आवश्यक सामग्री नहीं प्रदान की है; यदि हम अन्य देशों से आनेवाले माल पर अधिक कर लगावेंगे, तो दूसरे देशवाले अपने यहाँ जानेवाले हमारे माल पर वैसा ही कर लगाकर हमसे बदला लेंगे; इससे हमारी उनकी आपस में तनातनी रहेगी।

**संरक्षण-नीति**—संरक्षण-नीति वह है, जिससे विदेशी वस्तुओं की आयात बन्द करके अथवा बहुत कम करके स्वदेशी उद्योग-धन्धों की उन्नति में सहायता पहुँचाई जाय। इस नीति के समर्थकों का मत है कि उन्नत विदेशी व्यापार के सामने स्वदेशी उद्योग-धन्धे नष्ट हो जाते हैं, और देश के निवासी सस्ती विदेशी चीज़ें बर्तने के आदी हो जाने के कारण साहसहीन हो जाते हैं। इसका इलाज राष्ट्र की संरक्षण-नीति से ही हो सकता है। इस नीति से स्वदेशी उद्योग-धंधे वाले उत्साहित होकर आवश्यक माल तैयार करते हैं, और वह, कुछ समय बाद क्रमशः सस्ता भी पड़ने लगता है। इस प्रकार देश अपनी आवश्यकता स्वयं पूरी करने के योग्य बन जाता है।

संरक्षण के कई उपाय हैं—( १ ) उस वस्तु की आयात पर प्रतिबन्ध लगाना, अर्थात उसे अन्य देशों से न आने देना, ( २ ) भारी आयात-कर लगाकर बाहर से आनेवाली वस्तुओं को बहुत महँगा करना, ( ३ ) भेद-भाव का व्यवहार करना; इसमें कुछ देशों से आने वाली वस्तुओं पर कम, और अन्य देशों से आनेवाली वस्तुओं पर अधिक आयात-कर लिया जाता है, ( ४ ) आयात का परिमाण निश्चित करना, ( ५ ) आयात के लिए अधिकार-पत्र लेने का नियम करना, ( ६ ) आयात का सरकार द्वारा एकाधिकार कर लेना। इन उपायों से विदेशी व्यापार में बहुत कमी हो जाती है, देश के उद्योग-धन्धों की उन्नति होती है और वे क्रमशः स्वावलम्बी हो जाते हैं।

**इन नीतियों का व्यवहार**—ये बातें तो केवल सिद्धान्त की हैं। वास्तव में प्रत्येक स्वाधीन देश अपनी व्यापार-नीति, अपनी परिस्थिति के अनुसार स्थिर करता है, और उसे आवश्यकतानुसार बदलता भी है। बहुत-से राष्ट्र जो अब मुक्तद्वार-व्यापार की तारीफ कर रहे हैं, वे कुछ समय पहले तक अपने व्यापार की संरक्षण-नीति से रक्षा करते थे। महायुद्ध के समय में उन्होंने फिर संरक्षण-नीति से लाभ उठाया।

उदाहरण के लिए, अमरीका जैसा समृद्धशाली देश भी विदेशी माल को अपने यहाँ हमेशा बेरोक-टोक नहीं आने देता। आवश्यकता होने पर वह अपने आयात पर १० से लेकर ४० फी-सैकड़े तक कर बैठा देता है। इसके सिवा, वह अपने यहाँ स्थापित व्यापारिक कम्पनियों को, विदेशों में माल ले जाने के लिए बहुत प्रोत्साहन देता है। संरक्षण-नीति की, यह एक आँखें खोलनेवाली बात है।

**भारत की व्यापार-नीति**—अपने पराधीनता काल में भारतवर्ष की कोई स्वतंत्र व्यापार नीति नहीं रही है, उसे इंगलैंड की इच्छानुसार चलना पड़ा और बेहद हानि उठानी पड़ी। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में, जब इंगलैंड में अच्छा माल तैयार नहीं होता था, और वह संरक्षण-नीति का समर्थक था, तब उसकी उस नीति से भारत का तैयार माल वहाँ जाने से रुका, और यहाँ के उद्योग धन्धे नष्ट हुए। पीछे, जब वहाँ विविध प्रकार का औद्योगिक माल तैयार होने लग गया, उसकी मुक्तद्वार-व्यापार-नीति से भारतवर्ष के कम उन्नत उद्योग-धन्धों को धक्का पहुँचा। इस प्रकार हर हालत में पराधीन भारत घाटे में ही रहा। पहले योरपीय महायुद्ध के बाद सरकार को भारतीय हित की ओर कुछ ध्यान देना आवश्यक हो गया। सन् १६२१ ई० की आर्थिक जाँच-समिति की रिपोर्ट के आधार पर यहाँ टेरिफ-बोर्ड की नियुक्ति होने, तथा उसकी सिफारिश के अनुसार लोहे और फौलाद के सामान, कागज, कपड़े, सीमेंट और चीनी की आयात पर संरक्षण-कर लगाए जाने की बात हम उद्योग-धन्धों के प्रसंग में कह आए हैं।

**साम्राज्यान्तर्गत रियायत**—बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से इंगलैंड साम्राज्यान्तर्गत रियायत ('इंपीरियल प्रेफ्रेंस') नीति की बात सोचने लगा। इसका अभिप्राय यह होता है कि ब्रिटिश सामाज्य भर में, साम्राज्य के देशों में बनी हुई चीजों पर कर बिलकुल न लगे, अथवा अन्य देशों की चीज़ों पर लगनेवाले कर की अपेक्षा कम लगे। संक्षेप में यह, साम्राज्य के लिए मुक्तद्वार व्यापार-नीति, और बाहर के

लिए संरक्षण-नीति है। इस नीति के सिद्धांत सन् १६०२ ई० की उपनिवेश-परिषद् में निश्चित हुए थे। तब से इंगलैंड की निरन्तर यह कोशिश रही कि उपनिवेशों और भारतवर्ष में जर्मनी, जापान और अमरीका के माल की खपत न होने पावे। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् उसकी यह इच्छा और भी प्रबल हो गई, और भारतवर्ष को इस नीति से जकड़ देने का प्रयत्न किया गया।

ओटावा (केनेडा) में होनेवाली सन् १६३१ ई० की साम्राज्य-परिषद की बात लीजिए। उसमें तीन वर्ष के लिए यह 'समझौता' हुआ कि जो वस्तुएँ भारत से इंगलैंड अथवा किसी उपनिवेश को भेजी जायँ, उन पर कर में कुछ प्रतिशत के हिसाब से, अन्य (अर्थात् साम्राज्य से बाहर के) देशों की अपेक्षा, रियायत दी जाय। इसी प्रकार इंगलैंड और उसके उपनिवेशों से जो चीज़ें भारत में आवें उन पर भारत-सरकार कुछ रियायत किया करे। इस समझौते को भारतीय व्यवस्थापक सभा का विरोध होते हुए भी सन् १६३६ में भारत सरकार ने, फिर मान लिया और वह सन् १६३६ तक रहा। सन् १६३६ में फिर समझौता कर लिया गया।

इस बीच में भारतवर्ष और इंगलैंड में दो समझौते और हुए सन् १६३३ में मोदी-लीस समझौता, और १६३५ में न्यूनतापूरक समझौता। इनमें अन्य बातों के साथ इंगलैंड द्वारा भारतवर्ष की रूई लेजाने की बात भी थी।

सन् १६३६ के व्यापारिक समझौते के अनुसार (१) भारतवर्ष ने इंगलैंड से आनेवाले कुछ सामान पर साढ़े सात प्रतिशत और कुछ पर १० प्रतिशत आयात-कर की रियायत की, (२) इंगलैंड ने, भारत में जितना उसका कपड़ा आवे, उसके हिसाब से भारत की रूई लेने का निश्चय किया, (३) भारत और साम्राज्यान्तर्गत अन्य देशों में, कर में रियायत करने का निश्चय हुआ, और (४) इंगलैंड ने भारत के कुछ माल को आयात-कर लिए बिना और कुछ को १० से २० प्रतिशत कर

की रियायत पर लेना स्वीकार किया।

इस समझौते को (और इससे पहले के समझौते को) भारतीय व्यवस्थापक सभा ने स्वीकार नहीं किया था। वायसराय ने इसे अपने विशेषाधिकार से कानून का स्वरूप दिया था। इससे स्पष्ट है कि ब्रिटिश सरकार भारतवर्ष से साम्राज्यांतर्गत-रियायत-नीति के आधार पर व्यापार करने की अत्यन्त इच्छुक रही है।

**साम्राज्य-सम्बन्धी व्यापार का स्वरूप**—साम्राज्यान्तर्गत रियायत-नीति के प्रभाव को समझने के लिए भारतवर्ष के आयात-निर्यात के स्वरूप को जान लेना आवश्यक है। प्रायः ग्रेट-ब्रिटेन ही नहीं, समस्त ब्रिटिश साम्राज्य को भारतवर्ष से जितने मूल्य का माल जाता है, उसकी अपेक्षा यहाँ ब्रिटिश माल अधिक मूल्य का आता है। इसके विपरीत, साम्राज्य से बाहर के देश अपना माल यहाँ भेजते कम, और हमारा माल लेते अधिक हैं। इस प्रकार इन, साम्राज्य से बाहर के, देशों के साथ व्यापार करने में भारतवर्ष को विशेष लाभ है।

जो देश अधिक कच्चा माल बाहर भेजता है, उसे विदेशी व्यापार में मुकाबले का डर नहीं रहता। कारण कच्चे माल की आवश्यकता सब को रहती है। इस प्रकार मुकाबला न होने से कोई देश उस पर अन्य देशों की अपेक्षा अधिक कर नहीं लगा सकता। परन्तु बना हुआ माल भेजनेवाले देश को सदा ही यह भय बना रहता है कि कोई उसके माल पर बहुत कर न बैठा दे। दूसरे योरपीय महायुद्ध से पहले भारतवर्ष ऐसा देश था, जहाँ से ज्यादहतर कच्चा माल ही बाहर जाता था। अतः भारत को प्रतियोगिता या विरोध का भय नहीं हो सकता था।

ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत उपनिवेशों से भारत का व्यापार बहुत कम होता है, इसीलिए उससे हानि-लाभ भी विशेष नहीं। इसके अतिरिक्त आयात-निर्यात की वस्तुएँ ऐसी हैं कि भारतवर्ष विशेष हानि उठाए बिना ही उपनिवेशों से स्वेच्छानुसार व्यवहार कर सकता है।

**साम्राज्यांतर्गत रियायत से भारतवर्ष की हानि**—भारतवर्ष को साम्राज्यांतर्गत रियायत की नीति से ये हानियाँ हैं—

(क) कर कम लगने से यहाँ इङ्गलैंड का माल अन्य देशों के माल से सस्ता पड़ता है, और यहाँ का बाजार पूर्ण रूप से इङ्गलैंड के हाथ चला जाता है।

(ख) यहाँ जो माल बाहर से तैयार होकर आता है, उसमें बाहर के देशों में बदाबदी है, जिसके कारण हमें चीज़ें सस्ती मिलती हैं। पर 'रियायत' की नीति से इंगलैंड को बदाबदी का डर नहीं रहता, और हमें उसकी चीज़ें अधिक दाम पर खरीदनी पड़ती हैं।

(ग) जिन देशों के माल पर, इङ्गलैंड के लाभ के लिए, हम अधिक कर लगाते हैं, वे भी हमसे बदला लेने के लिए, भारत के निर्यात-व्यापार पर अधिक कर लगाते हैं, या हम अपना माल इंगलैंड के व्यापारियों को उनकी मनचाही कीमत पर बेचते हैं।

(घ) इस समय हमारी आयात का बड़ा भाग इङ्गलैंड से ही आता है। उस पर कर कम हो जाने से भारत-सरकार की आमदनी में बहुत घाटा होता है।

**जापान और बर्मा से व्यापारिक समझौते**—साम्राज्यान्तर्गत रियायत व्यापारिक समझौते का एक रूप है। अब हम अन्य व्यापारिक समझौतों का विचार करते हैं। बहुधा कोई देश भिन्न-भिन्न देशों से ऐसा समझौता किया करता है कि तुम अमुक परिमाण में मेरी ये वस्तुएँ खरीदोगे तो मैं इतने परिमाण में तुम्हारी ये वस्तुएँ खरीदूँगा। ऐसी बातें स्वतंत्र देशों में ही होती हैं। प्रथम योरपीय महायुद्ध के पहले भारत की दूसरे देशों से स्वतंत्र रूप में व्यापार-चर्चा करने की कोई बात ही न थी; इस देश के व्यापार-संगठन का कर्ता-धर्ता इंगलैंड ही था। सन् १६१६ के शासन-सुधारों के समय इंगलैंड को भारत को आर्थिक विषयों में भी कुछ स्वाधीनता स्वीकार करनी पड़ी। इससे हमारा दूसरे देशों से व्यापारिक संधियाँ करने का कुछ रास्ता खुला।

सन् १९३४ और १९३७ में भारत ने जापान से व्यापारिक समझौते करके उसके उस वैमनस्य को दूर करने का प्रयत्न किया, जो १९३२ के ओटावा समझौते से हुआ था। उपर्युक्त समझौतों के अनुसार भारत ने जापान के कपड़ों के, और जापान ने भारत की रुई के आयात पर कर लगाने में रियायत करने का निश्चय किया। इससे भारत की रुई की खपत का सवाल हल हुआ।

सन् १९३५ के शासन-विधान के अनुसार बर्मा भारत से अलग किया गया, तब से ही भारत का उससे व्यापारिक समझौता होने की बात चली थी। समझौता सन् १९४१ में हुआ, उस समय युद्ध चल रहा था, इसलिए उस समझौते से विशेष लाभ नहीं हुआ।

**स्वतन्त्र भारत और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार**—गत दो वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में शांति एवं सामञ्जस्य की स्थापना के लिए जो प्रयत्न हुए हैं, उनमें भारत ने भी भाग लिया है। इन प्रयत्नों का अन्तिम उद्देश्य एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-संस्था स्थापित करना है। इस संस्था का एक अधिकार-पत्र होगा, जिसमें आयात-कर कम करने की तथा किन्हीं देशों की विशेष रियायतें बन्द करने की व्यवस्था रहेगी।

अक्तूबर १९४७ में जिनेवा में भारत सरकार ने आस्ट्रेलिया, कनाडा, चीन, फ्रांस, अमरीका, इंगलैंड और पाकिस्तान आदि छोटे-बड़े २२ राष्ट्रों से व्यापारिक समझौता किया। इसके अनुसार भारत ने उन्हें निम्नलिखित सिद्धान्तों पर आयात-कर सम्बन्धी रियायतें दी हैं—

(१) रियायतें ऐसी होनी चाहिएँ, जिनसे देश की आर्थिक व्यवस्था की हानि न हो, बल्कि लाभ हो।

(२) ऐसी वस्तु पर रियायत न दी जाय, जिस पर तीन वर्ष के भीतर पुनर्विचार की आवश्यकता पड़े।

(३) रियायतों से देश की अधिक राजस्व-हानि न हो।

अब तक देश विशेष से वस्तु विशेष मंगाने के विषय में भारत ने

जो नीति अपना रखी थी, उसे शिथिल करके अन्य देशों को भी सुविधाएँ प्रदान की जायँगी।

भारत ने निम्नलिखित मुख्य व्यापारिक वस्तुओं के आयात पर कर सम्बन्धी रियायतें दी हैं—दूध और दूध की बनी हुई चीजें, डिब्बा-बन्द खाद्य पदार्थ, फल और शाक, निर्दिष्ट रासायनिक पदार्थ, निर्दिष्ट कोलतार के रंग, निर्दिष्ट प्रकार की मशीनें, मोटर गाड़ियाँ, रेडियो सेट, टाइपराइटर, नेत्र-चिकित्सा-यन्त्र, कच्ची ऊन तथा घरेलू शीतकारक यन्त्र।

भारत को निम्नलिखित मुख्य व्यापारिक वस्तुओं के निर्यात पर कर सम्बन्धी रियायतें दी गई हैं—जूट और जूट की बनी हुई चीजें, सूती वस्त्र, काजू, अभ्रक, लाख, नारियल के रेशे की चटाइयाँ, खेल का सामान, कालीन, मसाले, सुगन्धित तेल, चाय और तम्बाकू।

**भारत की आयात-नीति**—भारत-सरकार ने आयात में न्यूनता या वृद्धि विदेशी विनिमय मुद्रा के उपलब्ध परिमाण के अनुसार की है। सन् १६४८ के आरम्भ से ही आयात के लिए पर्याप्त डालर-विनिमय-मुद्रा मिलना कठिन हो गया था। अतः डालर वाले देशों से तथा स्विटज़रलैंड, पुर्तगाल और स्वीडन आदि अन्य दुर्लभ-मुद्रा वाले देशों से आनेवाले माल पर कड़ा नियन्त्रण लगाया गया। केवल बड़ी-बड़ी मशीनों के लिए ही लाइसेन्स देने का निश्चय किया गया। जुलाई १६४८ में सरकार ने निश्चय किया कि पौंडवाले तथा अन्य सुलभ-मुद्रा वाले देशों से आयात होनेवाली कतिपय श्रेणियों की वस्तुओं पर से नियन्त्रण तुरन्त हटा लिया जाय।

**केन्द्रीय निर्यात-नीति**—पिछले वर्ष भारत की निर्यात-नीति पर दो बातों का प्रभाव रहा है—(१) विदेशी विनिमय से देश के साधनों को सुरक्षित रखने और उन्नत करने की आवश्यकता, और (२) विश्व की निर्यात-मंडियों में भारत की स्थिति दृढ़ बनाने की आवश्यकता। विशेषकर प्रशान्त तथा लालसागर के इलाकों और सुदूरपूर्व की मंडियों

को निर्यात करने की ओर ध्यान दिया गया, जहाँ योरपियन देशों और जापान का मुकाबला न रहने के कारण भारत के लिए अच्छा व्यापारिक भविष्य है। इस बात पर जोर दिया गया कि देश की अन्तर्राष्ट्रीय देनदारियों की कमी को पूरा करने के लिए हमें ७५ करोड़ से १०० करोड़ रुपए तक की कीमत का सामान निर्यात करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। चालू वर्ष ( १९४८ ) में निर्यात को बढ़ाने के उद्देश्य से वस्तुओं का अनियन्त्रण करने तथा लाइसेन्स देने में बहुत छूट दी गई। दुर्लभ-मुद्रा के क्षेत्रों में भारतीय सामान का निर्यात करने की विशेष व्यवस्था की गई।

**व्यापार-नीति और अन्तर्राष्ट्रीयता**—इस अध्याय में तथा पिछले अध्याय में हमने यह बतलाया है कि हमें अपनी आयात और निर्यात में किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए, तथा आवश्यकतानुसार उन पर किस प्रकार नियन्त्रण करना चाहिए। इन बातों को पढ़ कर कुछ लोग हम पर अन्तर्राष्ट्रीयता-विरोधी होने का आक्षेप कर सकते हैं। परन्तु स्मरण रहे कि हमें किसी भी सुन्दर शब्द के मोह-जाल में न पड़कर, गम्भीर विचार करना चाहिए। हमें वह 'विश्वबन्धुत्व' या 'अन्तर्राष्ट्रीयता' अभीष्ट नहीं है, जो हमें परावलम्बी बनाए। प्रत्येक व्यक्ति की भाँति राष्ट्र को भी जीवित जागृत रहना चाहिए और इसलिए अपने जीवन-निर्वाह के आवश्यक पदार्थ स्वयं उत्पन्न तथा तैयार करने चाहिएँ; विशेषतया, जबकि उस देश में आवश्यक कच्चे पदार्थ काफी उत्पन्न होते हों, या उत्पन्न होने की अनुकूलता हो। कोई भी राष्ट्र अपने जीवन-निर्वाह के लिए परावलम्बी रहकर अन्तर्राष्ट्रीय एकता स्थापित करने में विशेष उपयोगी नहीं हो सकता।

हम किसी को हानि पहुँचाना या किसी का शोषण करना नहीं चाहते, तो हम यह भी नहीं चाहते कि दूसरे राष्ट्र हमें अपने स्वार्थ या पूँजीवाद का शिकार बना कर हमारे विकास को रोकें। अन्य क्षेत्रों

की भांति, व्यापार-क्षेत्र में भी हमारी नीति 'जीओ, और जीने दो' की होनी चाहिए।

**विशेष वक्तव्य**—पिछली सदी में भारत का अधिकांश व्यापार इंगलैंड के साथ रहा है, उसका एक मुख्य कारण, भारत पर इंगलैंड का प्रभुत्व होना, था। अब भारत स्वतंत्र है, पर अभी वह पिछले संस्कारों से मुक्ति नहीं पा सका। हम पहले बता आए हैं कि इंगलैंड ने इसे पौंड पावने के पाश में फँसा रखा है। इसलिए अभी कुछ समय भारत बहुत सा सामान 'स्टर्लिंग ब्लाक' से, अर्थात् ब्रिटिश साम्राज्य आदि के कुछ खास-खास देशों से लेने के लिए मजबूर है। ऐसी परिस्थिति में वह मनचाही तरक्की नहीं कर पा रहा है। पर कुछ समय में इसमें यथेष्ट सुधार हो जायगा।

स्वतंत्र भारत अब अन्य कई देशों से व्यापारिक संधि कर अपना निर्यात्-व्यापार बढ़ाने की चेष्टा कर रहा है। इंगलैंड, अमरीका और योरप के देशों के अलावा, वह खासकर दक्षिण पूर्व तथा सुदूर पूर्व के देशों से व्यापार बढ़ाने की कोशिश में है। भारत सरकार का एक विभाग व्यापारिक जानकारी और आंकड़ों सम्बन्धी कार्य करता है। साथ ही इंगलैंड, अमरीका, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका और अफगानिस्तान आदि देशों में भारत के व्यापारिक राजदूत हैं, जो वहाँ भारत के व्यापारिक हितों का ध्यान रखते हैं। आशा है, थोड़े ही अर्से में स्वतंत्र भारत अन्य क्षेत्रों की तरह विदेशी व्यापार के क्षेत्र में भी समुचित उन्नति कर सकेगा, और साथ ही अपनी उत्कृष्ट व्यापार-नीति से संसार में अपनी महत्ता स्थापित करेगा।

# छठा भाग

# वितरण

---

## पच्चीसवाँ अध्याय

## लगान

वितरण किसे कहते हैं, और उसमें किन-किन विषयों का विचार होता है, यह हम इस पुस्तक के पहले भाग में बता चुके हैं। यहाँ उन विषयों की व्योरेवार चर्चा करने के लिए पहले 'लगान' का विचार करते हैं।

**लगान का प्रारम्भ**—भूमि, खेत जंगल या खान आदि को व्यवहार में लाने का अधिकार प्राप्त करने के लिए उसके स्वामी को जो रकम या अनाज आदि दिया जाता है, उसे लगान कहते हैं। प्राचीन काल में मनुष्य कम थे, और भूमि उनकी आवश्यकता से अधिक। उस समय प्रत्येक आदमी उसका अपनी इच्छानुसार उपयोग कर सकता था। किसी आदमी का किसी भूमि पर अधिकार नहीं था। जनसंख्या की वृद्धि के साथ भूमि की माँग भी बढ़ती गई। परन्तु भूमि का क्षेत्र परिमित ही रहा। अतः जिसके अधिकार में जो भूमि आगई, वही उसका स्वामी बनने लगा। अब अगर किसी के पास आवश्यकता से अधिक भूमि हो गई तो उसने उसके उपयोग का अधिकार दूसरे को देकर उसके बदले में उपज का कुछ हिस्सा लेना आरम्भ किया, जिसे लगान कहते हैं। इस प्रकार लगान लेने की रीति निकली।

**लगान के भेद**—अर्थशास्त्र की दृष्टि से लगान के दो भेद हैं—

(१) कुल लगान, जिसे बोलचाल में केवल लगान ही कहते हैं; (२) आर्थिक लगान। कुल लगान में आर्थिक लगान के अलावा भूमि में लगे हुए मूलधन (इमारत, कुआँ तथा भूमि की उन्नति के लिए खर्च हुई रकम) का सूद, भूमि की देखभाल या प्रबन्ध करनेवाले गुमाश्ते आदि का वेतन, तथा जमीन के मालिक का विशेष लाभ मिला रहता है। किसी खेत के आर्थिक लगान का हिसाब इस प्रकार लगाया जाता है कि खेत की संपूर्ण उपज के मूल्य में से उसकी खेती के सब प्रकार के लागत-खर्च निकाल दिए जाते हैं; तदुपरांत जो रकम शेष रहती है, वह उस खेत का आर्थिक लगान मानी जाती है।

भारतवर्ष में (कुल) लगान आर्थिक लगान से अधिक लिया जाता है, इसके तीन भेद हैं—(१) बन्दोबस्त के समय सरकार द्वारा निश्चित किया हुआ लगान; यह नकदी में होता है। (२) जमीन का मालिक का इकरारनामे द्वारा, नकदी में निश्चित किया हुआ लगान। (३) बँटाई प्रथा से मिलनेवाला लगान। बँटाई प्रथा संक्षेप में इस प्रकार है—जमीन का मालिक अपनी जमीन में दूसरे आदमी को एक फसल बोने देता है। वह आदमी अपना बीज बोता है, और अपने बैलों से तथा अपने परिश्रम से खेती करता है। अगर उसके पास अपने बीज या बैल नहीं होते तो वह इन्हें जमीन के मालिक से या दूसरों से लेकर उनकी व्यवस्था करता है। निदान, खेती करने का सब भार उसी पर रहता है। फसल तैयार होनेपर जो अनाज इकट्ठा होता है, वह जमीन के मालिक और खेती करनेवाले में, उनके किए हुए समझौते के अनुसार बँट जाता है। प्रायः दोनों आधा-आधा अनाज लेलेते हैं, और भूसे को खेती करनेवाला लेता है। इसी तरह, अनाज के अलावा दूसरी चीज़ों की खेती में बँटाई की रीति बर्ती जाती है।

**लगान पर दस्तूर और आबादी आदि का प्रभाव**—पहले कहा गया है कि लगान का प्रादुर्भाव इस लिए हुआ कि भूमि की मांग

उसकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक है। उत्पत्ति के अन्य साधनों में और भूमि में यह अन्तर है कि जबकि अन्य साधनों की पूर्ति बढ़ाई जा सकती है, भूमि प्रायः सीमित ही है; साधारणतया उसकी पूर्ति बढ़ाई नहीं जा सकती। तथापि भूमि का लगान उसकी मांग और पूर्ति के नियम से मुक्त नहीं होता। 'कीमत' के अध्याय में हम यह बता चुके हैं कि वस्तुओं की कीमत उनकी माँग और पूर्ति के अधीन होती है। यही बात लगान के बारे में भी है। आरम्भ में लगान दस्तूर द्वारा निश्चित रहता है। पीछे जब किसी क्षेत्र में आबादी या कारखानों की वृद्धि होने से, अथवा पास से रेल निकलने आदि के कारण ज़मीन की माँग बढ़ती है तो लगान बढ़ने लगता है। आबादी कम होने या कारखानों के टूट जाने की दशा में लगान कम हो जाता है।

**भारतवर्ष में लगान**—पहले यहाँ किसानों और भू-स्वामियों के आपसी सम्बन्ध बहुत अच्छे रहे हैं। उनमें लगान के विषय में प्रतियोगिता नहीं होती थी। उस समय लगान दस्तूर के अनुसार चलता रहता था। किसान पैदावार का निर्धारित अंश भू-स्वामी को दे देता था। जब तक कोई किसान दस्तूर के अनुसार लगान देता रहता था, तब तक वह बेदखल नहीं किया जाता था। पीछे समय-समय पर युद्ध, मँहगाई और बीमारियों के कारण भारतवर्ष के किसी उपजाऊ हिस्से की आबादी कम हो गई तो वहाँ के जमींदार दूर-दूर के किसानों को अपनी भूमि की ओर आकर्षित करने के लिए आपस में स्पर्द्धा या प्रतियोगिता, और किसानों के साथ रियायत करने लगे। इससे वहाँ लगान सम्बन्धी दस्तूर टूट गया। इसी प्रकार जब जनता की वृद्धि होने या उपज का क्षेत्र विस्तृत होने से भूमि की माँग बढ़ी, तो लगान की दर बढ़ना और इस विषय का दस्तूर या परम्परा टूट जाना स्वाभाविक था।

क्रमशः लगान में भू-स्वामी और किसान की प्रतियोगिता होने लगी। अंगरेजों की अमलदारी में भारतवासियों के घरू उद्योग-धंधों का भयंकर ह्रास हुआ। अधिकाधिक आदमी खेती द्वारा निर्वाह करने को

बाध्य हुए। इस प्रकार भूमि की माँग बढ़ती गई। भू-स्वामियों ने लगान बढ़ाना आरम्भ कर दिया। किसानों की उपेक्षा से भूमि कम उपजाऊ होती गई। परिस्थिति बहुत खराब होती देखकर सरकार ने लगान-कानूनों द्वारा किसानों के अधिकारों की रक्षा करने का प्रयत्न किया। इन कानूनों का उद्देश्य यह था कि किसान पर लगान का अनुचित भार न पड़े और उसे जमींदार जब चाहे, बेदखल न कर सके। अस्तु, अब भारतवर्ष में लगान प्रायः कानूनों द्वारा निश्चित होता है।

**भारतवर्ष में मालगुजारी-प्रथा**—भारतवर्ष में तीन प्रकार की मालगुजारी प्रथा है—(१) ज़मींदारी प्रथा। इस प्रथा के अनुसार अपने समस्त क्षेत्र (गाँव का हिस्सा, एक गाँव, या कई गाँव) की मालगुजारी सरकार को देने की ज़िम्मेदारी जमींदार की होती है। वह खुद खेती न करके जमीन किसानों को उठा देता है और किसानों से भूमि के उपयोग के बदले 'लगान' वसूल करता है। राज्य और किसानों का आपस में सीधा सम्बन्ध नहीं होता। (२) ग्राम्य या महलवारी प्रथा। इसके अनुसार गाँव की जमीन के सब मालिक मिलकर सरकारी मालगुजारी चुकाने के लिए जिम्मेवार होते हैं। जिन लोगों के पास जमीन भू-स्वामियों से किराए पर ली हुई होती है, उनका मालगुजारी चुकाने से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। (३) रय्यतवारी प्रथा। इस प्रथा के अनुसार किसान अपनी-अपनी ज़मीन की मालगुज़ारी चुकाने को स्वयं जिम्मेवार होते हैं। उनके और सरकार के बीच में कोई मध्यस्थ नहीं होता।

**जमींदारी प्रथा की उत्पत्ति**—भारतवर्ष के कई भागों में आजकल भूमि की उपज के तीन हिस्सेदार होते हैं—किसान, जमींदार, और सरकार। इनमें से किसान और सरकार तो अति प्राचीन काल से हैं; परन्तु इन दोनों के बीच में जमींदार कब और कैसे आ गए, यह विषय बहुत विचारणीय एवं महत्वपूर्ण है। सुदीर्घ हिन्दू-शासन में जमींदार

नाम के व्यक्ति की चर्चा किसी भी प्राचीन ग्रंथ में—वेद, श्रुति, स्मृति, पुराण आदि में—नहीं मिलती। 'जमींदार' शब्द का प्रयोग मुसलमानों के शासन-काल में आरम्भ हुआ। उस समय ज़मींदार एक सरकारी कर्मचारी होता था, जो मालगुजारी वसूल करके सरकारी खजाने में दाखिल करता था। उसे अपने इस काम के लिए राज्य से वेतन मिलता था। मुगल साम्राज्य का ह्रास होने पर ये कर्मचारी क्रमशः स्वतंत्र होते गए। पीछे इनका अधिकार पैत्रिक हो चला। ये लोग सरकार को निर्धारित रकम देते और जनता से मनमाना द्रव्य वसूल करते। इन्होंने भूमि पर अपना अधिकार और गाँव में अपना प्रभाव जमा लिया। यह जमींदारी प्रथा विशेषतया बंगाल में पैदा हुई, पीछे अन्य प्रान्तों की सरकारों के कमजोर पड़ने पर यह दूसरे भागों में भी फैलती गई।

अठारहवीं सदी के पिछले हिस्से में ईस्ट-इंडिया कम्पनी यहाँ की परिस्थिति से लाभ उठाकर राजनैतिक विषयों में भी प्रभुत्व प्राप्त करने लगी। सन् १७६५ ई० में लार्ड क्लाइव ने दिल्ली के बादशाह से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त की। इससे कम्पनी को यह अधिकार मिल गया कि वह इन प्रान्तों की मालगुजारी वसूल करे, और केवल उसका एक निर्धारित अंश (छब्बीस लाख रुपए) शाहआलम को दिया करे। यह व्यवस्था हो जाने पर उक्त प्रान्तों के प्रत्येक जिले के किसी प्रधान नगर में नीलाम द्वारा जमीन का बन्दोबस्त किया जाने लगा; जो व्यक्ति नीलाम में मालगुजारी की सब-से अधिक बोली बोलता, उसे किसानों से लगान वसूल करने का अधिकार मिलने लगा। यह अधिकार केवल एक साल के लिए होता था। अगले साल फिर नए सिरे से जमीन का नीलाम होता था। इस प्रकार किसानों से लगान वसूल करने का अधिकार कुछ पैसेवालों के हाथ में चला गया, जो ज़मींदार कहलाने लगे। किसानों के सिर पर जमींदार-नामक वर्ग

लाद दिया गया। *

**बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त**—इस व्यवस्था में जमींदारों ने किसानों से लगान वसूल करने में खूब ज्यादतियाँ कीं। इसका परिणाम यह हुआ कि जमीन परती पड़ी रहने लगी, काश्तकार भूखों मरने लगे। तब अधिकारियों को यह खयाल आया कि यह स्थिति अच्छी नहीं; जब जमीन जोती ही न जायगी, तो मालगुजारी कहाँ से ली जायगी। अन्त में लार्ड कार्नवालिस ने सोचा कि जब तक जमींदारों को यह विश्वास न हो जायगा कि उनकी ज़मीन से आगे जो फायदा होगा, उसका सब अंश उन्हीं को मिलेगा, तब तक वे ज़मीन का सुधार न करेंगे, और जमीन जोतने या जुतवाने में भी उत्साह न दिखाएँगे। इसलिए उन्होंने बंगाल में ( जिसमें उस समय बिहार और उड़ीसा भी सम्मिलित थे ) सन् १७९३ ई० में मालगुज़ारी का स्थायी बन्दोबस्त कर दिया। सरकार को इतनी मालगुजारी मिलने का कानून बन गया, जो उस समय वसूल किए जानेवाले लगान का ९० फी-सैकड़ा थी। हाँ, यह निश्चय हो गया कि जमीन के सुधार से अधिक आमदनी होने पर सरकार का हिस्सा बढ़ाया न जा सकेगा; उसका सब लाभ ज़मींदारों को होगा। स्मरण रहे कि बन्दोबस्त जमींदारों से किया गया, जब कि वास्तव में होना चाहिए था किसानों से।

जस्टिस फील्ड के शब्दों में 'रैयत को बाध्य किया गया कि वे अपने अधिकार त्याग दें; या यदि उन अधिकारों की रक्षा करना चाहें, तो अपने से कहीं अधिक शक्तिशाली और विवेकहीन लोगों ( ज़मींदारों ) से खर्चीली मुकदमेबाज़ी करें। बंगाल के किसानों को अपना अधिकार खो देना पड़ा, क्योंकि वे बहुत ही गरीब और हम लोगों की (अंग्रेज़ी)

* इसका एक मुख्य हेतु यह भी था कि सर्वसाधारण पर अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए सरकार भूमि पर कुछ लोगों का विशेष अधिकार स्वीकार करना आवश्यक समझती थी, जिससे ये लोग अपने विशेष स्वार्थों के कारण सरकार का साथ दें, तथा भारतवर्ष में अंगरेजी राज्य की जड़ जमाने में सहायक हों।

कानूनी कार्यवाइयों के अनुसार सबूत पहुँचाने के तरीकों से सर्वथा अनजान थे। उनके हक साबित करनेवाले कागज़ात जिन पटवारियों के हाथ में रहे थे, उनका पद तोड़ दिया गया था, और जिन जमींदारों के हाथ में थे, उन्होंने उन कागज़ात को दबा दिया था।'

**स्थायी बन्दोबस्त के गुण-दोष** स्थायी बन्दोबस्त के पक्ष में ये बातें कही जाती रही हैं:—(१) इससे सरकार को निश्चित और स्थायी आय हो जाती है, तथा उसे बारबार लगान निश्चित करने तथा वसूल करने की आवश्यकता नहीं होती। (२) सामाजिक दृष्टि से जमींदार रैयत के स्वाभाविक नेता बनने और उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य आदि कार्यों में सहायता करने योग्य हो गए हैं। (३) आर्थिक दृष्टि से इससे कृषि सम्बन्धी उन्नति और जनता की सुख-समृद्धि की वृद्धि हुई है; इससे आदमी अकाल आदि के संकट का सामना करने में अधिक क्षमतावान हो गए हैं। (४) इससे अस्थायी बन्दोबस्त की दशा में होनेवाली बुराइयाँ दूर हो गई हैं; उदाहरण के लिए नए बन्दोबस्त में होनेवाला बेशुमार खर्च और किसानों की परेशानी; बन्दोबस्त की अवधि के अंतिम दिनों में लगान-वृद्धि से बचने के लिए किसानों की उदासीनता के कारण होनेवाली खेती की हानि, मालगुज़ारी-विभाग के कर्मचारियों की स्वेच्छाचारिता आदि।

अब स्थायी बन्दोबस्त के विपक्ष की बात लीजिए:—

(क) इससे सरकार को मिलनेवाली आय स्थायी और निश्चित तो रहती है, पर कृषि से होनेवाली आय बढ़ने के साथ सरकार अपने हिस्से को नहीं बढ़ा सकती, जैसा कि वह दूसरी आमदनी के सम्बन्ध में करती है। इस प्रकार सरकार बहुत-सी आय से वंचित रहती है, और उस सीमा तक सार्वजनिक उपयोगिता के कामों में खर्च करने में असमर्थ रहती है।

(ख) यद्यपि कोई-कोई जमींदार उदार और परोपकारी होता है, परन्तु स्थायी बन्दोबस्त से जो यह आशा की गई थी कि ज़मींदार

सामूहिक रूप से समाज का नेतृत्व, और सार्वजनिक शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की उन्नति करनेवाले होंगे, वह आशा पूरी नहीं हुई।

(ग) बंगाल की सुख-समृद्धि का श्रेय स्थायी बन्दोबस्त को न होकर दूसरी बातों को है; जैसे किसानों की, काश्तकारी (टिनेंसी) कानूनों द्वारा रक्षा; जलवायु का बहुत कुछ निश्चित होना; आमदरफ़्त के साधनों का होना; जूट का प्रायः एकाधिकार; और कलकत्ते से होनेवाला व्यापार-व्यवसाय आदि।

(घ) अब इतने वर्षों के अनुभव और कार्य के बाद नया बन्दोबस्त करने में पहले की तरह बेहद खर्च, तथा किसानों को उतनी असुविधा नहीं होती। स्थायी बन्दोबस्त की दशा में लगान जितना कड़ाई से लगाया जाता है, अस्थायी बन्दोबस्त की दशा में उतनी सख्ती नहीं की जाती।

सरकार को राष्ट्र-हित सम्बन्धी नए-नए कार्य करने हैं, और उनके वास्ते अधिकाधिक धन की आवश्यकता होती है। इसलिए कितने ही विचारशीलों का मत है कि जनता पर कर-भार उचित मात्रा में होने के लिए, और सरकार को यथेष्ट आय प्राप्त होने के लिए, आवश्यकता इस बात की है कि स्थायी बन्दोबस्त का संशोधन कर नया बन्दोबस्त किया जाय। यद्यपि ऐसा करने में सरकार की पूर्व प्रतिज्ञा की बात बाधक है, तथापि किसी श्रेणी विशेष के स्वार्थ के लिए जनसाधारण के हितों की चिरकाल तक बलि नहीं दी जा सकती।

सन् १९३९-४० में सरकार ने एक कमीशन मालगुजारी-प्रथा के विविध पहलुओं पर, विशेषतया स्थायी बन्दोबस्त के सम्बन्ध में, विचार करने के लिए नियुक्त किया। इसके बहुमत की रिपोर्ट यह रही कि सरकार सब जमीन को खरीद ले; और स्थायी बन्दोबस्त के आधार पर भूमि-स्वत्व न रहे।

**अस्थायी बन्दोबस्त**—पहले कम्पनी का विचार था कि बंगाल की तरह अन्य प्रान्तों में भी स्थायी बन्दोबस्त कर दिया जाय। परन्तु

पीछे उसने सोचा कि जमीन की उपज दिन-दिन बढ़ती जाती है, और उसके साथ सरकारी मालगुजारी भी बढ़ाई जा सकती है। इसलिए उसने अस्थायी प्रबन्ध ही जारी रखा। उत्तर-भारत में यह निश्चय किया गया कि जमीन से मालगुजार को लगान के रूप में जो आमदनी हुआ करे, उसका ८३ फी-सदी सरकार ले, और शेष केवल १७ फी सदी जमींदार को मिले। जब जमींदार इतनी ज्यादा मालगुजारी देने में असमर्थ रहे, तो सरकार ने अपना हिस्सा क्रमशः घटाकर, सन् १८५५ ई० में ५० फी-सदी ठहराया। सन् १८६४ ई० में यही नियम भारतवर्ष के कुछ अन्य प्रान्तों में कर दिया गया। इस समय सरकार लगान की रकम का ४० से ५० प्रतिशत तक मालगुजारी के रूप में लेती है।

मालगुजारी का परिमाण निश्चित होने से लाभ ज़मींदारों को, और उनमें भी केवल बड़े बड़े जमींदारों को, हुआ।* अब, किसानों के बारे में सुनिए। क्रमशः जनसंख्या वृद्धि और औद्योगिक ह्रास के कारण अधिकाधिक भूमि में खेती होने लगी, और भूमि की माँग बढ़ती गई। परन्तु भूमि की मात्रा परिमित ही थी। जमींदारों ने अपनी भूमि का लगान बढ़ाना शुरू कर दिया। इससे किसान बहुत कष्ट पाने लगे। सरकार ने इस विषय की ओर पहले-पहल सन् १८५६ ई० में ध्यान दिया। सन् १८८५ में बंगाल-टिनेंसी (काश्तकारी) कानून पास हुआ। इससे काश्तकारों के अधिकारों की रक्षा की गई। यह व्यवस्था की गई कि जो किसान किसी भूमि में १२ वर्ष तक काश्त करले, उसे उस भूमि पर मौरूसी अधिकार प्राप्त हो जायँ। पश्चात् विविध कानूनों से इसमें आवश्यक संशोधन किया गया; लगान के बहुत अधिक न बढ़ाए जाने की भी व्यवस्था की गई। अन्य प्रान्तों में भी समय-समय पर काश्तकारी कानून बनाया गया। अस्थायी बन्दोबस्त वाले प्रान्तों में

* बड़े जमींदारों को अपनी आय में से ४०-५० प्रतिशत देना कठिन नहीं होता, परन्तु छोटे जमींदार को इतने परिमाण में मालगुजारी देना बहुत अखरता है।

सरकारी मालगुजारी एक बार केवल तीस, बीस या इससे कम सालों के लिए निश्चित की गई। इस अवधि के उपरान्त नया बन्दोबस्त हुआ है, जिसमें बहुधा मालगुजारी बढ़ती ही रही है।

अस्थायी बन्दोबस्त दो प्रकार का है—(क) जमींदारी, ताल्लुकदारी, महलवारी या ग्राम्य—इसमें जमींदार या ताल्लुकदार आदि अपने हिस्से की, अथवा गाँववाले मिलकर कुल गाँव की, मालगुजारी सरकार को चुकाने के लिए उत्तरदायी होते हैं। (ख) रैयतवारी—इसमें सरकार सीधे काश्तकारों से सम्बन्ध रखती है।

**बन्दोबस्त का हिसाब**—बन्दोबस्त की भिन्न-भिन्न प्रणालियों का मोटा हिसाब इस प्रकार है :—(१) स्थायी बन्दोबस्त; बंगाल में, बिहार के ५/६ आसाम के आठवें और संयुक्तप्रान्त के दसवें भाग और उत्तरी मदरास में। (२) महलवारी या ग्राम्य बन्दोबस्त; संयुक्तप्रान्त में ३० वर्ष और पंजाब तथा मध्यप्रान्त में २० वर्ष के लिए मालगुजारी निश्चित कर दी जाती है। (३) रैयतवारी बन्दोबस्त; बम्बई, सिन्ध, दक्षिणी मदरास, और आसाम में, एवं बिहार के कुछ भाग में। बम्बई, और दक्षिणी मदरास में ३० वर्ष में, तथा अन्य प्रान्तों में जल्दी-जल्दी बन्दोबस्त होता है।

सरकारी मालगुजारी नकदी में ली जाती है, जिन्स (उपज) के रूप में नहीं। वर्षा न होने या अधिक होने से, या किसी दूसरे कारण से फसल खराब हो जाने पर जब पैदावार कम हो जाती है, तो मालगुजारी का कुछ अंश छोड़ने का नियम है। परन्तु प्रायः यह शिकायत रही है कि छूट, नुकसान के हिसाब से कम होती है; और, वैसे भी मालगुजारी वास्तविक उपज की दृष्टि से अधिक ही ली जाती रही है। भारतीय किसानों की दरिद्रता और कर्जदारी का एक मुख्य कारण यही माना गया है।

**मालगुजारी और लगान निर्धारित करने की विधि**—भारतवर्ष के अस्थायी बन्दोबस्त वाले भागों में मालगुजारी और लगान

निर्धारित करने के तीन तरीके हैं—(१) संयुक्तप्रान्त में मौरूसी काश्तकारों का लगान उस लगान के आधार पर निश्चित किया जाता है, जो गैर-मौरूसी काश्तकार ने पिछले बन्दोबस्त में जमींदारों को दिया है। लगान का करीब आधा भाग मालगुजारी ली जाती है। (२) मध्यप्रान्त में लगान का निश्चय भूमि के गुण और स्थिति की जाँच करके किया जाता है; और, मालगुजारी लगान की करीब आधी होती है। (३) बम्बई प्रान्त में बन्दोबस्त-अफसर यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि प्रत्येक खेत में पिछले बन्दोबस्त के समय जो उपज हुई, उसकी कीमत क्या थी, और उसमें लागत-खर्च क्या हुआ था। उपज की कीमत में से लागत-खर्च निकाल देने पर जो रकम शेष रहती है, साधारणतया उसका लगभग आधा भाग आगामी बन्दोबस्त तक के लिए मालगुजारी निश्चित की जाती है।

भारत के सब प्रान्तों में मालगुजारी की दर निश्चित करने का एक ही ढंग होना अच्छा है, और उसके लिए अंतिम अर्थात् बम्बई प्रान्त-वाली विधि सर्वोत्तम है। परन्तु उसमें भी कुछ सुधार होना आवश्यक है। वर्तमान समय में अनेक स्थानों में खेती बेमुनाफे की होती है। यदि किसान उसके कुटुम्ब के उन लोगों की मज़दूरी का ठीक-ठीक हिसाब लगाया जाय, जो खेती पर काम करते हैं तो बहुत-से खेत ऐसे निकलेंगे, जिनकी आमदनी लागत-खर्च से कम होगी।* इस प्रकार के खेत जोतनेवालों से तो मालगुजारी या लगान लिया जाना किसी दशा में उचित नहीं कहा जा सकता।

**बन्दोबस्त की अवधि**—अस्थायी बन्दोबस्त कितने समय के लिए हुआ करे, इस विषय में कुछ लोगों का मत है कि दस साल के

* ऐसी दशा में किसान भूमि को रखते ही क्यों हैं? इसका उत्तर यह है कि उनके पास स्थायी आजीविका का और कोई साधन न होने से वे भूमि के थोड़े-बहुत सहारे को छोड़ना नहीं चाहते। फिर, भूमि के, पैत्रिक सम्पत्ति होने के कारण भी किसानों को उसका मोह रहता है।

बाद नया बन्दोबस्त हो जाया करे; दूसरे लोग चाहते हैं, एक बार जो बन्दोबस्त हो, वह सौ साल तक कायम रहे। थोड़े समय के पक्ष में ये बातें हैं:—(१) राज्य और समाज को उस बढ़ी हुई आमदनी का उचित हिस्सा मिल जाता है, जो साधारण उन्नति के कारण हो जाती है, जिसके लिए किसी को खास मेहनत नहीं करनी पड़ती। साथ ही, इससे समय-समय पर लगान की थोड़ी-थोड़ी वृद्धि होने से, किसानों का भार विशेष नहीं बढ़ता। (२) उत्पत्ति का परिमाण या उसका मूल्य कम हो जाने की दशा में, लगान की दर कम करना, और इस प्रकार किसानों का भार हलका करना आसान होता है।

इसके विरोध में यह कहा जाता है कि सुदीर्घ काल के लिए बन्दोबस्त हो जाने की दशा में, लगान देनेवाला बारबार के परिवर्तनों से बच जाता है, वह अपने साधनों की वृद्धि कर सकता है। वह लगान-वृद्धि की आशंका से मुक्त रहते हुए कृषि की उन्नति करता है। अस्तु, यदि लगान विचार-पूर्वक वैज्ञानिक पद्धति से निश्चित किया जाय तो बन्दोबस्त की अवधि उपर्युक्त दोनों प्रकार के मेल पर निर्भर रहेगी। साधारण तौर से तीस-चालीस वर्ष में नया बन्दोबस्त होते रहना ठीक ही है।

**किसानों के भेद**—भारतवर्ष के विविध प्रान्तों के काश्तकारी कानूनों के अनुसार किसानों की कई श्रेणियाँ हैं। आगे संयुक्तप्रान्त के किसानों के भेद बताए जाते हैं, इससे उनकी कुछ जानकारी होजायगी।

(१) स्थायी दर से लगान देनेवाले किसान। ये लोग जब तक अपना लगान बराबर चुकाते रहते हैं, बेदखल नहीं किए जा सकते। उन्हें अपनी जमीन को बन्धक रखने और बेचने का पैत्रिक अधिकार रहता है।

(२) भूतपूर्व जमींदारी हकवाले किसान। ये पहले भूमि के मालिक थे। इन्हें सीर पर खेती करने का पैत्रिक अधिकार होता है और लगान अपेक्षाकृत कम देना होता है।

(३) मौरूसी काश्तकार। इन्हें अपनी भूमि पर पूर्ण अधिकार होता है। इनका लगान बन्दोबस्त के समय निश्चित कर दिया जाता है। उसे सरकारी अधिकारियों की आज्ञानुसार ही घटाया बढ़ाया जा सकता है। जब तक ये जमींदार को लगान देते जाते हैं, उन्हें बेदखल नहीं किया जा सकता।

(४) कानूनी काश्तकार। अवध को छोड़कर शेष संयुक्तप्रान्त में कानूनी काश्तकार अपनी जमीन का आजीवन काश्तकार होता है। उसके मरने के बाद उसके उत्तराधिकारी को ५ साल तक उस भूमि को जोतने का अधिकार होता है। छुठे साल जमींदार उसे बेदखल कर सकता है। परन्तु यदि जमींदार उसके उत्तराधिकारी को छुठे साल भी ज़मीन जोतने दे तो वह उत्तराधिकारी कानूनी काश्तकार बन जाता है।

(५) गैर-मौरूसी कश्तकार। इन किसानों को खेतों पर कोई विशेष अधिकार नहीं होता। यह साधारणतया जमींदारों की 'सीर' या खुद-काश्त जमीन जोतते हैं। जमींदार इनका लगान घटा-बढ़ा सकता है, और इन्हें आसानी से बेदखल कर सकता है।

(६) शिकमी-दर-शिकमी काश्तकार। इनके पास अपनी निज की जमीन नहीं होती। ये दूसरे किसानों की ज़मीन बँटाई पर या निश्चित किए हुए लगान पर जोतते हैं। किसान इनका लगान घटा-बढ़ा सकता है। इन्हें सहज ही बेदखल किया जा सकता है।

संयुक्तप्रान्त का नया लगान कानून—समय-समय पर विविध प्रान्तों में किसानों की दशा सुधारने के लिए कानून बनाए गए हैं। उदाहरण-स्वरूप हम यहाँ संयुक्तप्रान्त के उस लगान-कानून की मुख्य बातें आगे देते हैं, जो जनवरी १९४० में लागू किया गया। यह कानून बन जाने से आगरा और अवध प्रदेश की लगान-प्रथा में कोई अन्तर नहीं रहा। इस कानून के अनुसार—

(१) शिकमी या सीर के काश्तकारों को छोड़कर प्रत्येक काश्तकार

मौरूसी काश्तकार होगा।

(२) किसी जमींदार को ५० एकड़ से अधिक सीर रखने का अधिकार न होगा। सीर के काश्तकार को पाँच साल के पहले बेदखल नहीं किया जायगा।

(३) काश्तकारों को अपने खेत में पेड़ लगाने और मकान, कुआँ, या पक्की नाली आदि बनवाने का अधिकार होगा।

(४) बकाया लगान के लिए बेदखल किए जाने के सम्बन्ध में काश्तकार को दो साल का समय दिया जायगा; यदि काश्तकार इस बीच में पिछला शेष तथा उस समय का लगान अदा कर देगा तो वह बेदखल नहीं किया जायगा।

(५) जमींदार किसानों से नज़राना, भेंट, बेगार आदि न ले सकेगा उसका सम्बन्ध उनसे वैसा ही होगा, जैसा सरकार का उससे है।

(६) लगान पैदावार के पाँचवें हिस्से से अधिक न होगा। लगान सीधे जमींदार को दिया जा सकता है, मनिआर्डर द्वारा भेजा जा सकता है, या तहसील में जमा कराया जा सकता है। जब लगान जमींदार को दिया जायगा, तो किसान को उससे उसकी रसीद लेने का अधिकार होगा।

(७) मौरूसी काश्तकार का लड़का अपने पिता की जमीन का अधिकारी होगा।

इस कानून से किसानों को बहुत सी सुविधाएँ मिल जाती हैं, फिर भी इसमें कुछ सुधारों की आवश्यकता है। इसके अनुसार उन किसानों को भी लगान से मुक्त नहीं किया गया है, जिनकी जमीन से केवल लागत-खर्च ही निकलता है, या वह भी नहीं निकलता, अर्थात् जो मुनाफे की खेती करते हैं। उन्हें लगान से मुक्त रखा जाना चाहिए, इस सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है।

**जमींदारी प्रथा के दोष**—जमींदारों से यह आशा की गई थी कि वे किसानों को अपने परिवार का अंग समझेंगे और देश-हित के लि

समाज का नेतृत्व ग्रहण करनेवाले होंगे। खेद है कि अधिकाँश जमींदारों ने अपनी उपयोगिता का परिचय नहीं दिया। प्रायः वे आराम-तलबी और कुछ दशाओं में तो विलासिता का जीवन बिताते रहे हैं। कितने ही ज़मींदार तो गाँवों को छोड़कर, अपने शौक पूरा करने के लिए नगरों में आ बसे। इनसे ग्रामसुधार की क्या आशा की जाय! जमींदारी प्रथा से ये हानियाँ हैं :—

(१) जमींदार बिना श्रम किए धन पाते हैं; और उसका उपयोग वे अधिकाँश अपने व्यक्तिगत सुख के लिए करते हैं, समाज-हित के विचार से नहीं। इधर सरकार को राष्ट्र-निर्माणकारी कार्यों के लिए धन की बहुत आवश्यकता है।

(२) जमींदार गैर-मारूसी किसानों से मनमाना लगान वसूल करते हैं, और उन्हें पट्टा होने के समय बेदखल करने की धमकी देते हैं।

(३) जमींदार त्योहारों तथा विवाह-शादी के अवसरों पर किसानों से नज़राना तथा अन्य अनेक कर लेते हैं।

(४) जमींदार किसानों से रसद और बेगार लेते हैं।

(५) प्रायः किसान ज़मींदारों के गुमाश्तों या कारिन्दों के अत्याचारों के शिकार होते हैं, तथा उन्हें मुकदमेबाज़ी आदि में फँसना होता है।

(६) अधिकाँश जमींदार प्रतिक्रियावादी और सुधार-विरोधी होते हैं।

**जमींदारी प्रथा हट रही है**—ऊपर बताए हुए दोषों के कारण, जमींदारी प्रथा का बहुत समय से विरोध होता रहा है। कांग्रेस इस प्रथा को हटाने के लिए प्रतीज्ञाबद्ध रही है। प्रायः इस विषय में तो कोई मत-भेद ही नहीं रहा कि यह प्रथा हटा दी जाय; विचारणीय विषय यही रहा कि इसे किस प्रकार हटाया जाय, जमींदारों को मुआवजा दिया जाय या नहीं, मुआवजा दिया जाय तो किस हिसाब से दिया जाय, और जमींदारी प्रथा हटाने के बाद भूमि की

व्यवस्था क्या हो। अब बंगाल, संयुक्तप्रान्त, बिहार, और मद्रास की व्यवस्थापक सभाओं के सामने जमींदारी-उन्मूलन के कानून सम्बन्धी प्रस्ताव मौजूद हैं। उनमें जमींदारों की क्षति-पूर्ति सिद्धान्त मान लिया गया है। केन्द्रीय सरकार ने भयंकर रूप से बढ़े हुए मुद्रा-प्रसार और उसके कारण होने वाली महँगाई को रोकने के लिए, प्रान्तीय सरकारों को उनकी बड़े-बड़े खर्चवाली योजनाओं की पूर्ति के लिए, कोई आर्थिक सहायता न देने की जो घोषणा की है, उसके फल-स्वरूप सम्भव है कि ज़मींदारी हटाने का काम कुछ समय स्थगित रहे। परन्तु यह कार्य बहुत समय तक नहीं टल सकता।

आगे संयुक्तप्रान्त का उदाहरण देते हुए जमींदारी-उन्मूलन सम्बन्धी विविध प्रश्नों पर प्रकाश डाला जाता है।

**संयुक्तप्रान्त की बात**—संयुक्तप्रान्त की व्यवस्थापक सभा ने जमींदारी प्रथा को हटाने के प्रश्न पर विचार करने के लिए अगस्त १९४६ में एक कमेटी नियुक्त की थी। उसकी रिपोर्ट प्रकाशित हो गई है। कमेटी की योजना अमल में आने से किसानों में सामाजिक सुरक्षा का भाव जागृत होगा और उन्हें उन्नत कृषि-कार्य की प्रेरणा मिलेगी। भूमि का शासन और प्रबन्ध तथा मालगुजारी इकट्ठा करने का काम गाँव वालों के हाथ में होगा। कमेटी द्वारा की गई मुख्य सिफारिशें इस प्रकार हैं :—

(१) जमींदार की सीर और खुदकाश्त बनी रहेगी और इसके सम्बन्ध में जमींदारों को वही अधिकार होंगे जो अन्य कृषकों को मिलेंगे। जमींदारों के बाग भी उनके पास बने रहेंगे।

(२) जो सीर और खुदकाश्त किसानों को लगान पर दे दी गई हैं, वे संयुक्तप्रान्तीय-काश्तकारी कानून की धाराओं के अनुसार शासित होंगी।

(३) किसानों की काश्त और बाग स्वामित्व सम्बन्धी समस्त मध्यवर्ती अधिकार रद्द कर दिए जायँगे।

(४) जंगल, ऊसर भूमि, आबादी, मार्ग, समान रूप से प्रयोग लाए आने वाले कुओं, तालाबों, नालों और ग्रामीण बाजारों पर गाँव की जनता का स्वामित्व होगा और वही उनकी व्यवस्था करेगी।

(५) जमींदारों को श्रेणी-बद्ध दर पर उनकी भूमि के लिए मुआवजा दिया जायगा। १०,००० रु० तक मालगुजारी देनेवाले जमींदारों को उनकी एक साल की आय का २५ गुना से ८ गुना तक क्रम से मुआवजा दिया जायगा। १०,००० रु० से अधिक मालगुजारी देने वाले जमींदारों को प्रथम दस हजार का ८ गुना और शेष का ३ गुना मुआवजा दिया जायगा।

कुल मुआवजा लगभग १३७ करोड़ रुपए होगा। यह बॉड (ऋण-पत्र) के रूप में भी दिया जायगा, जो चालीस वर्ष के लिए होंगे और जिनके सूद की दर ढाई रु० प्रति सैकड़ा होगी।

जमींदारी प्रथा का अन्त होने पर प्रान्तीय सरकार को १८०५ लाख रु० की खालिस आय होगी; इस समय आय ७७७ लाख रु० की होती है। इस प्रकार सरकार को १,०२८ लाख रु० की अतिरिक्त आय होगी।

कमेटी ने यह भी सिफारिश की है कि दातव्य तथा धार्मिक वक्फों और ट्रस्टों को इस प्रकार की आर्थिक सहायता दी जायगी, जो कि उनके वर्तमान सामाजिक तथा दातव्य कार्यों में होनेवाले खर्च के अनुरूप हो।

**मुआवजे का सवाल**—जमींदारी प्रथा हटाने पर ज़मींदारों को कुछ मुआवजा दिया जाय, इस विषय पर सब लोग सहमत नहीं रहे हैं। खासकर समाजवादी विचार-धारा वालों का मत है कि जमींदारों ने पिछले डेढ़ सौ वर्षों में उचित से अधिक लाभ उठा लिया है। उन्होंने भूमि की कोई उन्नति नहीं की, और काश्तकारों के हित के कार्य नहीं किए—इस लिए उन्हें कोई मुआवजा नहीं मिलना चाहिए। परन्तु इसके विरुद्ध यह विचारणीय है कि प्रथम तो जमींदारों में इतने स्वार्थ-त्याग

की भावना नहीं है। फिर ज़मींदारों के पास निर्वाह का कोई साधन न रहने देना कैसे ठीक कहा जा सकता है! कुछ ज़मींदार ऐसे भी हैं, जिन्होंने काफी कीमत चुका कर ज़मींदारी खरीदी है, और उससे यथेष्ट लाभ नहीं उठाया है। इस प्रकार मुआवज़ा देना ही ठीक जंचता है।

**मुआवज़े का आधार**—मुआवज़े का आधार क्या हो, इस विषय में भी मत-भेद रहा है। ज़मींदार या उनके समर्थक आदि कुछ लोगों का मत है कि ज़मींदारों को उनकी ज़मींदारी की कीमत बाज़ार भाव से मिलनी चाहिए। पर यह सर्वथा अव्यावहारिक है। ऐसा करने से कोई लाभ नहीं होता, और ज़मींदारी हटाने का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। दूसरा मत यह है कि ज़मींदारों को आधुनिक लगान का एक आनुपातिक भाग दिया जाय। स्मरण रहे कि जब सन् १७९५ में ज़मींदारी प्रथा कायम की गई तो ज़मींदारों को लगान के दस फीसदी से अधिक नहीं मिलता था। पीछे समय-समय पर ज़मींदारों का हिस्सा बढ़ाया गया; इसका कारण यह नहीं था कि ज़मींदारों को अधिक आय का अधिकार था, वरन् इसका कारण राजनीतिक परिस्थितियाँ थीं। विदेशी सरकार की स्वाभावतः यह इच्छा रहती है कि कुछ आदमियों को प्रलोभन देकर अपना समर्थक बनाए रखे। अस्तु, मुआवज़े के आधार के सम्बन्ध में तीसरा मत यह है ज़मींदारों को एक साल में जितना लाभ होता है, उसका १५-२० गुना दिया जाय, जिससे वे अथवा उनके उत्तराधिकारी पन्द्रह-बीस वर्ष के अन्दर अपने को नए युग के अनुसार बनालें। संयुक्तप्रान्त में ज़मींदारों को दी जानेवाली मुआवज़े की रकम १३७ करोड़ रु० है, और इस प्रान्त की आय, १९४७-४८ के आय-व्यय-अनुमान पत्र के अनुसार ६९८ लाख रुपए है। मुआवज़े की रकम इसके लगभग २० गुनी है।

यह तो स्पष्ट ही है कि छोटी ज़मींदारी वालों को उनकी वार्षिक आय का जितने गुना मुआवज़ा मिलना चाहिए; बड़ी ज़मींदारी वालों

को उतने गुना दिए जाने की आवश्यकता नहीं है। संयुक्तप्रान्त की ज़मींदारी उन्मूलन कमेटी ने इस जमींदारों को दस श्रेणियों में बाँट कर उनके लिए वार्षिक आय का निम्नलिखित गुना मुआवजा देने की सिफारिश की है—

| श्रेणी | मालगुजारी | | | | मुआवजा आय का |
|---|---|---|---|---|---|
| १ | २५ रु० तक देनेवाले | | | | ~~२५~~ २५ गुना |
| २ | २५ से | ५० रु० | ,, | ,, | २२॥ ,, |
| ३ | ५० से | १०० रु० | ,, | ,, | २० ,, |
| ४ | १०० से | २५० रु० | ,, | ,, | १७॥ ,, |
| ५ | २५० से | ५०० रु० | ,, | ,, | १५ ,, |
| ६ | ५०० से | २००० रु० | ,, | ,, | १२॥ ,, |
| ७ | २००० से | ३५०० रु० | ,, | ,, | १० ,, |
| ८ | ३५०० से | ५००० रु० | ,, | ,, | ६ ,, |
| ९ | ५००० से | १०००० रु० | ,, | ,, | ८ ,, |
| १० | १०,००० से अधिक | | ,, | ,, | प्रथम दस हजार का ८ गुना, और शेष का ३ गुना |

**भुगतान की पद्धति**—ज़मींदार स्वभावतः यह चाहते हैं कि उन्हें मुआवज़े की कुल रकम एकसाथ दे दी जाय। परन्तु यह सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रान्तीय सरकारों को कितने ही राष्ट्र-निर्माणकारी कार्य करने हैं, फिर, यह भी आशा नहीं की जा सकती कि जमींदार एक-साथ बड़ी-बड़ी रकमें पाकर उसका लोकहित की दृष्टि से उपभोग करें, सम्भव है, कितने ही ज़मींदार तो उस रकम को जल्दी ही भोग-विलास में खर्च कर डालें, और पीछे अर्थ-हीन दरिद्र जीवन व्यतीत करने को विवश हो जायँ। इन बातों का विचार करके संयुक्त प्रान्तीय जमींदारी-उन्मूलन कमेटी ने बड़ी-बड़ी रकमों को चालीस वर्ष की किश्तों में देने की सिफारिश की है।

**ज़मींदारी उठने के बाद कृषि-प्रणाली कैसी हो?**—एक महत्वपूर्ण

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जमींदारी प्रथा उठ जाने के बाद कौनसी कृषि-प्रणाली ऐसी होगी, जिससे कृषि तथा किसानों की उन्नति हो। ऐसी प्रणाली आगे दी हुई तीन प्रणालियों में से ही कोई हो सकती है—(१) सामूहिक कृषि-प्रणाली, (२) सहकारी कृषि-प्रणाली, और (३) वैयक्तिक स्वामित्व कृषि-प्रणाली।

सामूहिक कृषि-प्रणाली में सब भूमि राज्य की मानी जाती है। खेती करनेवालों को उनके कार्य के अनुसार मेहनताना मिलता है। यह प्रणाली सब से पहले रूस में प्रचलित हुई, और वहाँ अच्छी सफल भी हुई। इस प्रणाली से खेती में सुधार बहुत हो सकता है; कारण, सरकार सब आवश्यक खर्च लगाती है, विशाल खेतों में बड़े-बड़े यंत्रों द्वारा आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से काम होता है। पर यह प्रणाली हमारे देश में व्यापक रूप से काम में नहीं लाई जा सकती; क्योंकि भारतीय किसानों में वैयक्तिक स्वामित्व की भावना बहुत दृढ़ है। फिर यहाँ जन संख्या काफी अधिक होने से यंत्रों का बहुत अधिक उपयोग अभीष्ट नहीं है। कुछ विशेष दशाओं को छोड़कर यहाँ खेती के काम में मशीनों का उपयोग करना जनता में बेकारी का भयंकर रोग बढ़ाना है।

सहकारी कृषि-प्रणाली में किसान मिलकर खेती करते हैं। वे अपने-अपने खेत के मालिक होते हुए भी बीज या बैल आदि खरीदने, खेती करने, तथा फसल काटने और पैदावार बेचने आदि में एक-दूसरे के साथ सहयोग करते हैं। भारतवर्ष में सहकारिता का प्रचार हो रहा है, पर अभी उसमें यथेष्ट सफलता नहीं मिली ; सहकारी समितियों के अनेक सदस्य अपनी जिम्मेदारी का पूरा विचार नहीं रखते। ऐसी दशा में सहकारी कृषि-प्रणाली अभी बहुत बड़े पैमाने पर नहीं चल सकती ; हाँ, इस दिशा में प्रयत्न होता रहना चाहिए।

वैयक्तिक कृषि-प्रणाली में हरेक आदमी अपनी-अपनी खेती करता है। उसमें वह खूब जी लगाता है। इस प्रणाली की सफलता के लिए यह आवश्यक है किसान के पास भूमि इतनी कम या ऐसी खराब न हो

कि उससे उसके परिवार का निर्वाह ही न हो सके। साथ ही किसी आदमी के पास भूमि इतनी अधिक भी न होनी चाहिए कि वह उसमें खुद खेती न करके दूसरों के द्वारा कराने लगे, और इस प्रकार वह ज़मींदार का रूप धारण करले।

**भावी भूमि व्यवस्था ; किसानों का सीमित अधिकार**—कमेटी ने वैयक्तिक कृषि-प्रणाली को अच्छा मानकर किसानों को भूमि का स्वामी स्वीकार किया है। कोई व्यक्ति किसी वस्तु का स्वामी तभी कहा जा सकता है जब उसको उसे बेचने, दूसरे को देने, गिरवी रखने या उसके आधार पर ऋण लेने का अधिकार हो। कमेटी ने किसान को यह अधिकार दिया है। परन्तु उसने इस बात का ध्यान रखा है कि इस अधिकार का ऐसा दुरुपयोग न हो, जिससे समाज का और स्वयं किसान का अहित हो। प्रायः देखा गया है कि किसान ने रुपए की आवश्यकता होने पर अपनी ज़मीन बेच डाली, इससे एक ओर तो वह बेकार हो गया; दूसरे, कुछ दशाओं में खरीददार के पास आवश्यकता से अधिक भूमि हो गई, और उसने उसे जोतने के लिए मज़दूर रखे या उसे दूसरे आदमियों को मुनाफे पर उठा दिया और इस प्रकार वह शोषक बन गया।

यह शोचनीय परिस्थिति न आने देने के लिए, कमेटी ने किसान के भू-स्वामित्व पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए हैं, और उन प्रतिबन्धों को अमल में लाने का अधिकार ग्राम-पंचायतों को दिया है। कमेटी की सिफारिश है कि भूमि की बिक्री तथा मूल्य-निर्धारण पंचायत द्वारा हो, और पंचायत उसी किसान को अपनी भूमि बेचने की इजाजत दे, जिसके पास बिक्री के बाद १० एकड़ भूमि रहे, जो कि एक परिवार के लिए आवश्यक मानी गई है। पंचायत इस बात का भी ध्यान रखे कि भूमि ऐसे ही आदमी के हाथ बेची जाय, जिसे उसकी आवश्यकता हो; कोई आदमी अपने पास ३० एकड़ से अधिक भूमि न रखे। भूमि की बिक्री पंचायत द्वारा होने से यह भी लाभ होगा कि इस प्रसंग में 'पगड़ी'

या नजराना आदि देने की कुप्रथा न रहेगी।

किसानों के भू-स्वामित्व पर दूसरा महत्वपूर्ण प्रतिबन्ध यह लगाया गया है कि यदि वह स्वयं खेती करने योग्य है तो वह अपनी भूमि न तो शिकमी काश्तकारों को ही उठा सकता है, न किसी को बँटाई पर दे सकता है, और न बिना बोई छोड़ सकता है। यदि उसने ऐसा किया तो पंचायत उस भूमि को अपने अधिकार में कर लेगी, और जिसे उचित समझेगी, दे देगी। केवल नाबालिगों, विधवाओं, बीमारों, फौज में गए सैनिकों या कैदी किसानों को ही अपनी भूमि शिकमियों को देने का अधिकार दिया गया है, और वे भी शिकमी से अपनी मालगुजारी का ड्योढ़ा ही लगान ले सकते हैं, इससे अधिक नहीं।

**पंचायतों के विशेष अधिकार** पंचायतों के भूमि सम्बन्धी कुछ अधिकारों का उल्लेख ऊपर हुआ है। इनके अतिरिक्त, उन्हें कुछ अन्य अधिकार भी रहेंगे। उन्हें बंजर या ऊसर भूमि के अलावा ऐसी सब भूमि का स्वामित्व होगा, जिसका उपभोग गाँव के सब निवासी करते हैं, जैसे तालाब, कुएँ, चरागाह और बाजार आदि। पंचायतों को ही लगान अर्थात् भूमि-कर वसूल करने, कृषि की उन्नति की योजनाएँ अमल में लाने, तथा गाँव के विकास की योजनाएँ बनाने का अधिकार दिया गया है। स्मरण रहे कि अब जो पंचायतें बनाई जा रही हैं, वे न केवल गाँवों के आर्थिक जीवन का संचालन करेंगी, वरन् गाँवों की सर्वांगीण उन्नति की जिम्मेदार होंगी।

**जमींदारी उठा देने का प्रभाव कितने व्यक्तियों पर पड़ेगा?**—पहले कहा जा चुका है कि भारतवर्ष में अधिकांश व्यक्तियों के पास भूमि बहुत कम है। वे सिर्फ नाम के ही जमींदार हैं। उन पर जमींदारी प्रथा उठा देने का विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। संयुक्तप्रान्त के उदाहरण से इस विषय का अच्छी तरह अनुमान हो सकता है। इस प्रान्त की

ज़मींदारी-उन्मूलन कमेटी ने हिसाब लगा कर बताया है कि प्रान्त के समस्त ज़मींदारों में से ६८.५ प्रतिशत को तो किसान ही समझना चाहिए, क्योंकि उनमें कोई ऐसा नहीं है, जो २५० वार्षिक मालगुजारी से अधिक देता हो। ऐसे कृषक जमींदारोंकी संख्या २०,१७,००० है। (परन्तु इनके पास कुल मिलाकर केवल ४२ प्रतिशत भूमि है)। जमींदारों की कुल जनसंख्या का ८६ प्रतिशत भाग उन किसानों का है, जो वार्षिक मालगुजारी २५ रु० से भी कम देते हैं। इनकी संख्या १७,११,००० है। छोटे ज़मींदारों का पारिवारिक व्यय ज़मींदारी से, जिसकी आय अत्यल्प होती है, नहीं चल पाता; बल्कि सीर तथा खुदकाश्त से चलता है। इसलिए जमींदारी उठा देने का उनके हितों पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़ेगा।

कमेटी ने बताया है कि २५० रु० से अधिक मालगुजारी देनेवाले ज़मींदार केवल ३०,००० है, अर्थात् कुल ज़मींदार-संख्या के डेढ़ फीसदी। परन्तु इनके पास भूमि ५८ प्रतिशत है। जमींदारी प्रथा उठा देने का यथार्थ प्रभाव उन बड़े जमींदारों की ही आर्थिक और सामाजिक स्थिति पर पड़ेगा जो ५,००० रु० या अधिक वार्षिक मालगुजारी देते हैं। इनकी संख्या प्रान्त में केवल ८०४ है। प्रान्त की कुल जनता में, तथा ज़मींदारों की संख्या में इनका अनुपात क्रमशः .००००१४ तथा .०००४ है। परन्तु इन्होंने प्रान्त की चौथाई भूमि दबा रखी है। कमेटी ने अनेक दृष्टान्त और आंकड़े देकर सिद्ध किया है, कि भूत काल में इन लोगों ने इतना धन संचित कर लिया है कि ये उससे पीढ़ियों तक काम चला सकते हैं। फिर भी कमेटी ने उनको क्षति-पूर्ति की भी व्यवस्था की है।

**रैयतवारी प्रथा का विचार**—ऊपर संयुक्तप्रान्त का उदाहरण देते हुए, जमींदारी-उन्मूलन सम्बन्धी आवश्यक प्रश्नों पर प्रकाश डाला गया है। आशा है, स्वतंत्र भारत के जमींदारी प्रथा वाले सब प्रान्तों में इसी प्रकार की, अथवा इससे मिलती-जुलती व्यवस्था होगी। परन्तु

स्मरण रहे कि वर्तमान रैयतवारी प्रथा भी निर्दोष नहीं है। इसमें भी सुधार होने की आवश्यकता है। श्री० किशोरलाल मश्रूवाला का कथन है —'रैयतवारी प्रथा, ज़मींदारी प्रथा की अपेक्षा, राज्य तथा प्रजा के बीच एक मध्यस्थ कम होने के कारण, अच्छी हो सकती है, परन्तु सिद्धान्त से वह किसी भी दूसरी अनुपस्थित-भूस्वामी-प्रणाली से भिन्न नहीं है। कृषक तथा जनता के दृष्टिकोण से, ज़मींदार के स्थान पर, राज्य के अनुपस्थित भूस्वामी बन जाने से कोई भलाई नहीं होनेवाली है। रैयतवारी प्रणाली में सरकार, अनुपस्थित भूस्वामी से किसी भी प्रकार कम नहीं है, जिसका केवल लगान वसूल करने तथा अवसर पड़ने पर उसे बढ़ा देने में ही स्वार्थ रहता है। किसान को, लगान नकद अथवा जिन्स के रूप में चुकाने की जिम्मेदारी के बिना, निर्वाह-वेतन दिया जाना चाहिए। जब तक राज्य भूमि के, जिसका कि वह स्वामी होने का दावा करता है, सुधारने की जिम्मेदारी अपने सिर पर नहीं लेता तथा स्वयं मौसम तथा खेती की खराबी का उत्तर-दायित्व वहन करते हुए किसान को, उसकी भूमि का वास्तविक ध्यान न करते हुए, उसका निर्वाह-वेतन नहीं दिलाता, वह अनुपस्थित भूस्वामि से किसी भी हालत में अच्छा नहीं है, बल्कि उससे भी बुरा है; कारण कि यह एक अव्यक्तिगत लालफीताशाही शासन ही तो है।"*

**लगान की उचित व्यवस्था**—पहले बताया जा चुका है कि किसानों से लगान बहुत अधिक लिया जाता रहा है। आजकल मुद्रा-प्रसार तथा पैदावार की कीमत बढ़ी हुई होने के कारण किसानों को लगान का यह परिमाण नहीं अखरता, परन्तु यह तो विशेष परिस्थिति है। साधारणतया उसके घटाए जाने की आवश्यकता है ही। संयुक्तप्रान्तीय ज़मींदारी-उन्मूलन कमेटी ने जमींदारी प्रथा के उठाए जाने पर, काश्तकारों के लगान घटाए जाने पर भी विचार किया है और निम्नलिखित

* 'लोक जीवन' में प्रकाशित एक लेख से संकलित।

सिफारिश की है :—जिस किसान के पास एक एकड़ भूमि होगी, उसे रुपए में ६ आना लगान की छूट मिलेगी, २ से ४ एकड़ वालों को ४ आना; ४ से ६ एकड़ वालों को २ आना; ६ से ६ एकड़वालों को एक आना प्रति रुपया छूट मिलेगी। ६ एकड़ से अधिक भूमि वालों का लगान नहीं घटाया जायगा।

अब हम वे सुधार बतलाते हैं, जो अभी, जमींदारी प्रथा के रहते हुए ही, अमल में आजाने चाहिएँ :—

(१) बेमुनाफे की खेती करनेवालों से कोई लगान न लिया जाय। जिस खेती से किसान की और उसके परिवार के लोगों की मजदूरी आदि लागत खर्च निकल आने पर मुनाफा रहे, उस पर ही लगान लिया जाय। वह, आर्थिक लगान से अधिक न हो। जैसे-जैसे मुनाफे की आय का परिमाण बढ़े, लगान की दर अधिक हो।

(२) किसान अपनी ज़मीन पर खुद ही खेती करे, न तो वह उसे किसी दूसरे आदमी को काश्त करने के लिए दे और न किसी को बँटाई पर ही दे। हाँ, नाबालिग या विधवा को दूसरों के द्वारा खेती कराने का अधिकार रहे।

(३) रैयतवारी प्रान्तों में किसान मालगुज़ारी देने से मुक्त किए जायँ। किसी किसान के पास औसत दर्जे की पाँच एकड़ से कम जमीन न हो। इतनी ज़मीन की खेती की आय से किसान और उसके परिवार का निर्वाह होने की आशा की जाती है। जिन किसानों की आय अधिक हो, उनसे आय की तरह कर लिया जाय, जिसकी दर आय के परिमाण के अनुसार बढ़ती हुई हो।

इस व्यवस्था के अमल में आने से मामूली आमदनी वाले बहुत से ग्रामवासियों की आर्थिक कठिनाइयाँ दूर हो जायँगी। उनके लिए, जब तक ऐसा न होगा, देश में स्वराज्य स्थापित होने का विशेष अर्थ नहीं है।

———

## छब्बीसवाँ अध्याय

# मज़दूरी

श्रम या मेहनत करनेवाले को उसके श्रम के बदले में जो धन दिया जाता है, उसे 'मज़दूरी' कहते हैं। मासिक मज़दूरी प्रायः वेतन या तनख्वाह कहलाती है। सर्वसाधारण में मज़दूरी की अपेक्षा 'वेतन' शब्द अधिक आदर-सूचक है; परन्तु अर्थशास्त्र में ऐसा कोई भेद नहीं। अपनी भूमि पर, अपने ही औज़ारों से काम करनेवाले बढ़ई, लुहार आदि को, जो मज़दूरी दी जाती है वह सब वास्तव में मज़दूरी ही नहीं होती, उसमें उनकी भूमि का लगान तथा उस मूलधन का सूद भी मिला होता है, जो इन कारीगरों का अपने औज़ार खरीदने में लगा है।

**नकद और असली मज़दूरी**—आजकल श्रमजीवियों को उनके श्रम का प्रतिफल प्रायः रुपए-पैसे में चुकाया जाता है। इसे नकद मज़दूरी कहते हैं। यदि मज़दूरी अन्न-वस्त्र आदि पदार्थों में दी जाय, तो पदार्थों के परिमाण को मज़दूरों की असली मजदूरी कहा जाता है। इसमें मकान, शिक्षा, या मनोरञ्जन आदि, वे विशेष सुविधाएँ भी मिली होती हैं, जो मज़दूरों को उनके मालिकों की ओर से प्राप्त होती हैं। नकद मज़दूरी से श्रमजीवियों की दशा का ठीक अनुमान नहीं होता। उदाहरण के लिए अगर मोहन को रोजाना १) मिलता है और उसके नगर में गेहूँ का भाव तीन सेर का है, तथा सोहन को रोजाना १।) मिलता है और उसके नगर में गेहूँ का भाव दो सेर का है, तो सोहन को नकद मज़दूरी अधिक होने पर भी असली मज़दूरी मोहन को ही अधिक मिलती है। इसी तरह अगर दोनों को अपनी विविध आवश्यकताओं का सामान बराबर मिलता है, परन्तु मोहन को रहने

का मकान आदि मुफ्त मिलता है, अथवा काम करने के घंटों के बीच में अवकाश या मनोरञ्जन का ऐसा अवसर मिलता है, जो सोहन को नहीं दिया जाता, तो भी मोहन की ही असली मज़दूरी अधिक मानी जायगी। यह स्पष्ट है कि दो श्रमजीवियों में से, जिसे असली मजदूरी अधिक मिलती है, उसकी दशा दूसरे से अच्छी होगी।

भारतवर्ष में पहले अधिकतर मजदूरी अन्न में चुकाई जाती थी। आचार्य कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में नकद और असल दोनों प्रकार के वेतन की व्यवस्था की है। वह साधारण तौर से प्रत्येक ऐसे श्रमी के लिए जो एक ही व्यक्ति या संस्था का कार्य करे, कुछ नकद वेतन निश्चित करता है, तो साथ ही कुछ भोजनादि भी ठहराता है। उसकी व्यवस्था के अनुसार, श्रमी अपने खाने-पीने की आवश्यकता से बेफ़िक्र रहता था, और नकद वेतन से अपनी ज़रूरतें पूरी कर सकता था। इस दशा में, पदार्थों के मूल्य के घटने-बढ़ने का श्रमजीवियों की आय पर बहुत कम प्रभाव पड़ता था। बहुत से देहातों में अब भी यही दशा है; कृषि-श्रमजीवी अपनी मजदूरी अन्न के रूप में ही पाते हैं। परन्तु आधुनिक सभ्यता के विकास से, नगरों या औद्योगिक गाँवों में मजदूरी नकद रुपए-पैसे के रूप में ही दी जाती है। इससे श्रमजीवियों पर जीवन-रक्षक पदार्थों की तेजी-मंदी का बहुत प्रभाव पड़ता है।

नकद वेतन में प्रायः न तो इस बात का विचार किया जाता है कि वह श्रमजीवी के गुज़ारे के लिए पर्याप्त है या नहीं, और न इसी बात का कुछ नियंत्रण रहता है कि श्रमजीवी अपने वेतन के द्रव्य का किस प्रकार उपयोग करता है; वह उससे भोजन-वस्त्र खरीदता है या विलासिता की वस्तुएँ। अनेक मजदूर सबेरे से शाम तक मजदूरी करके अपने मालिक से कुछ गिने-गिनाए पैसे पाते हैं, जो उनके निर्वाह के लिए काफी नहीं होते; फिर, वे उन में से भी काफी पैसे शराब आदि में खर्च कर डालते हैं।

**मजदूरी—समय के और कार्य के हिसाब से**—मज़दूरी दो

प्रकार से दी जाती है—समय के हिसाब से, और कार्य के हिसाब से। समय के हिसाब से दी जानेवाली मजदूरी को रोजन्दारी भी कहते हैं, इसमें यही विचार किया जाता है, कि मजदूर ने कितने घंटे या कितने दिन काम किया है; यह हिसाब नहीं लगाया जाता कि काम कितना हुआ है। अगर दो आदमियों की मजदूरी समय के हिसाब से ठहरी है, तो उन्हें बराबर समय काम करने की दशा में बराबर मजदूरी दी जायगी, चाहे उनके काम के परिमाण में कुछ अन्तर ही क्यों न हो। काम के हिसाब से दी जानेवाली मजदूरी में काम के परिमाण का हिसाब लगाया जाता है। अगर दो मजदूरों ने दस-दस दिन काम किया है, तो जिसका काम अधिक हुआ है, उसे दस-दिन की मजदूरी दूसरे (की दस दिन की मज़दूरी) से अधिक दी जायगी। प्रायः यह समझा जाता है कि कुछ कामों का ठेका दे देना ही अच्छा है। इसमें यह ठहर जाता है कि इतना काम करने पर मज़दूर को इतनी मज़दूरी दे दी जायगी। इस दशा में इस बात की देख भाल की जरूरत नहीं रहती कि मज़दूर ठीक मेहनत से काम करता है या नहीं; मजदूर को अपना काम करने की खुद ही फिक्र रहती है। हाँ, कभी-कभी वह अपने काम का परिमाण बढ़ाने के लिए उसे बहुत जल्दी या घटिया दर्जे का भी कर डालता है।

**मजदूरी की दर**—हम पहले बता आए हैं कि पदार्थों की कीमत माँग और पूर्ति के नियम के अनुसार निश्चित होती है। यह नियम मज़दूरी के सम्बन्ध में भी लागू होता है। उदाहरण लीजिए। अंगरेज़ों ने जब भारतवर्ष में व्यापार करना आरम्भ किया था तो यहाँ अंगरेजी जाननेवालों का अभाव था। उस समय जो भारतवासी मामूली अँगरेजी सीख लेता था—मिडिल भी पास कर लेता—उसे ७०-८० रु० मासिक वेतन मिलना आसान था; तरक्की भी खूब होती थी। पीछे अंगरेज़ी जाननेवालों की संख्या क्रमशः बढ़ी; यहाँ तक कि मिडिल-पास की तो बात ही क्या, कितने ही बी० ए०-पास भी साधारण समय में ४०-

५० रु० मासिक नहीं पा सके। इस समय रुपए का मूल्य पहले की अपेक्षा बहुत कम है। इसलिए अब नकद वेतन बढ़ा हुआ होने पर भी वह असली वेतन के विचार से पहले की अपेक्षा बहुत कम ही है।

माँग-और-पूर्ति-नियम के व्यवहार की दृष्टि से मज़दूरी और अन्य पदार्थों में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। प्रथम तो यह स्पष्ट है कि अनेक पदार्थों की तुलना में मज़दूरी बहुत ही शीघ्र क्षय होनेवाली वस्तु है। श्रमजीवी का जो समय व्यर्थ चला जाता है, वह चला ही जाता है। इसलिए निर्धन श्रमजीवी अपने श्रम को जिस कीमत पर बने, बेच देना चाहता है। उसकी यह उत्सुकता मजदूरी की दर घटाने में सहायक होती है। फिर, मज़दूरों की पूर्ति में जल्द परिवर्तन नहीं होता। माँग होने पर अनेक पदार्थ प्रायः शीघ्र ही बाजार में पहुँचाए जा सकते हैं। उनकी दर बहुत समय तक चढ़ी नहीं रहती; परन्तु श्रमजीवियों को अपना घर और गाँव ( या नगर ) तुरन्त छोड़ने की इच्छा नहीं होती; पूर्ति होने में बहुधा देर लग जाती है। इसलिए नए कल-कारखाने खुलने के समय, आरम्भ में कभी-कभी बहुत समय तक मज़दूरी की दर, अन्य स्थानों की अपेक्षा, चढ़ी रहती है। इसी के साथ यह भी बात है कि जो श्रमजीवी एक बार वहाँ आकर रहने लग जायँगे, वे सहसा वहाँ से जायँगे नहीं। इसलिए अगर बाद में किसी घटना-वश श्रमजीवियों की माँग कम रह जाय, तो वहाँ उनकी पूर्ति जल्दी न घटने से मज़दूरी की दर का अन्य स्थानों की अपेक्षा, बहुत समय तक कम रहना संभव है।

अनुभव-हीन और अशिक्षित श्रमजीवियों के सम्बन्ध में तो यह बात और भी अधिक लागू होती है। उन बेचारों को अकसर यह मालूम ही नहीं होता कि किस जगह उनके श्रम की माँग अधिक है, उन्हें अपने श्रम के बदले कितनी अधिक मज़दूरी मिल सकती है। जब ठेकेदार आदि के द्वारा श्रमजीवियों को उनके श्रम की माँग का समाचार मालूम भी होता है, तो उन्हें परिस्थिति का यथेष्ट परिचय

नहीं मिलता। इसलिए मज़दूरों को उनकी कार्य-क्षमता के लिहाज से प्रायः कम मज़दूरी मिलती है। बहुधा ऐसा हो सकता है कि एक मज़दूर किसी कार्य के लिए एक स्थान में जितनी मज़दूरी पाता है, उससे कहीं अधिक मज़दूरी पास के दूसरे स्थान में, वैसे ही कार्य के लिए मिल रही हो। मज़दूरनियों के सम्बन्ध में यह बात और भी अधिक ठीक है। अज्ञान और स्थानांतर-गमन की कठिनाइयाँ उनके मार्ग में, पुरुष-मज़दूरों की अपेक्षा, बहुत अधिक होती हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि यदि सब श्रमजीवियों में स्वतन्त्र रूप से प्रतियोगिता हो सके—अज्ञान और स्थानांतर-गमन आदि की बाधाएँ न हों—तो भिन्न-भिन्न स्थानों में ही एक काम के लिए असली मज़दूरी में विशेष अन्तर न रहे।

**अलग-अलग व्यवसायों के वेतन में फरक क्यों होता है?** किसी व्यवसाय में, दूसरे व्यवसाय की अपेक्षा मज़दूरी की दर कम या अधिक होने के कई कारण हो सकते हैं, जैसे—

(१) व्यवसाय की प्रियता।

(२) व्यवसाय की शिक्षा।

(३) व्यवसाय की स्थिरता।

(४) व्यवसाय में विश्वसनीयता आदि किसी विशेष गुण की आवश्यकता।

(५) निश्चित वेतन के अलावा, कुछ और मिलने की आशा।

(६) व्यवसाय में सफलता का निश्चय।

(७) मज़दूरों की संख्या।

(८) मज़दूरों का संगठन।

अब हम इन कारणों में से एक-एक पर विचार करते हैं। याद रहे कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इन कारणों में से दो या अधिक का प्रभाव एक-साथ इकट्ठा भी पड़ जाता है।

१—जिस व्यवसाय को लोग अच्छा समझते हैं, जिसके करने से

समाज में प्रतिष्ठा होती है, उसके करनेवाले बहुत मिल जाते हैं। इसलिए उन्हें कम वेतन मिलता है। कुछ आदमी सरकारी दफ्तरों की नौकरी इस विचार से अच्छी समझते हैं कि लोग उन्हें 'बाबूजी' कहा करें, और वे कुर्सी पर बैठकर काम करनेवाले 'सभ्य पुरुषों' की गणना में आसकें। उन्हें वेतन कम मिलता है। इसके विपरीत, महाजनों या साहूकारों के यहाँ काम करने से, जनसाधारण में प्रतिष्ठा कम होने के कारण, उनके यहाँ लिखा-पढ़ी करनेवाले अधिक वेतन चाहते हैं। अब यह विचार-धारा क्रमशः बदल रही है।

[ टट्टी साफ करना, नालियाँ धोना आदि कार्य बहुत घृणित एवं अप्रिय हैं। सिद्धान्त से ऐसे कार्य के लिए बहुत अधिक वेतन मिलना चाहिए। परन्तु इसमें भारतवर्ष का जाति भेद बाधक है। समाज, मेहतर आदि को पैतृक कार्य छोड़कर कोई दूसरा काम नहीं करने देता। इसलिए उन्हें कम वेतन पर ही संतोष-करना पड़ता है। ]

२—जिस काम की शिक्षा प्राप्त करने में कठिनाई अथवा खर्च अधिक होता है, उसे सीखनेवाले बहुत कम होते हैं। इसलिए उन कामों के करनेवाले अधिक वेतन पाते हैं। उदाहरण के लिए डाक्टरी, एँजिनियरी आदि का काम सीखने में कई-कई वर्ष लग जाते हैं, और रुपया भी बहुत खर्च होता है। किन्तु बहुत कम आदमियों की स्थिति ऐसी होती है कि इतने समय बे-रोज़गार रहकर और इतना खर्च करके ऐसा काम सीख सकें। यही कारण है कि डाक्टर, एँजिनियर आदि का वेतन बहुत होता है।

३—कारखानों में बहुत से कारीगर ४०-५० रु० मासिक पर काम करते हैं। परन्तु यदि कोई गृहस्थ उन्हें ( या उनकी योग्यतावालों को) दो-चार दिन के लिए अपने यहाँ काम करने को रखे, तो वे उस अनुपात से वेतन लेना कदापि स्वीकार न करेंगे। सम्भव है, दो या ढाई रुपए रोज माँगे। कारण स्पष्ट है। उन्हें निरन्तर ऐसा काम मिलने का निश्चय नहीं होता, इस विचार से वे अधिक वेतन लेते हैं।

४—डाकखाने, बैङ्क या खजाने आदि का काम ऐसा है, जिसमें विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं होती; हाँ, विश्वसनीयता आदि गुणों की बहुत ज़रूरत होती है, और ये गुण बहुत कम लोगों में मिलते हैं। अतः इन कार्यों के करनेवालों में जैसी योग्यता चाहिए, वैसी ही योग्यता के अन्य कार्यकर्त्ताओं की अपेक्षा खजानची आदि को अधिक वेतन मिलता है।

५—गत वर्षों में कुछ आदमी सोचते थे कि यदि हम पुलिस विभाग में काम करने लगें तो जन-साधारण का हमसे काम पड़ेगा, उन पर हमारा रोब-दाब रहेगा, और समय-समय पर 'ऊपर की आमदनी' ( जो भेंट या रिश्वत का एक सुन्दर नाम है ) मिलने के अवसर आते रहेंगे। इसलिए वे बहुधा अन्य काम में ४०-५० रु० मासिक की जगह छोड़ कर पुलिस की ३०-३५ रु० की नौकरी स्वीकार कर लेते थे। कहावत प्रचलित हो गई, 'छः के चार कर दे, पर नाम दरोगा धरदे।' यही बात रेल तथा अदालतों की नौकरी के सम्बन्ध में रही है। अब इसमें कुछ परिवर्तन होने लगा है।

६—बहुत-से आदमी ४०-५० रु० मासिक वेतन पर काम कर रहे हैं। ये लोग उद्योग करें तो सम्भव है, किसी व्यापार में लग कर अपनी आमदनी बहुत बढ़ा सकें। परन्तु इसका कोई भरोसा नहीं। यह जोखिम की बात है; व्यापार चले या न चले। इसलिए उसके बखेड़े में न पड़कर वे कम, परन्तु बँधे हुए निश्चित वेतन पर ही सन्तोष करते हैं।

७—मजदूरी की दर का देश की आबादी से घनिष्ट सम्बन्ध है। लम्बे युद्धकाल या नए उपनिवेशों को छोड़कर, साधारणतया किसी जगह मनुष्यों की संख्या जितनी अधिक होती है, मज़दूरी की दर वहाँ उतनी ही कम हो जाती है। इसलिए विविध देशों में समय-समय पर जनसंख्या कम करने के उपाय किए जाते हैं। अविवाहित रहकर, बड़ी उमर में विवाह करके, जान-बूझकर सन्तान कम पैदा करके, अथवा कुछ आदमी

विदेशों में भेजकर जनसंख्या की वृद्धि रोकी जाती है। शिक्षा, सभ्यता और सुख की वृद्धि से सन्तानोत्पत्ति कम होती है। भारतवर्ष की जनसंख्या के सम्बन्ध में विशेष विचार पहले किया जा चुका है।

८—मजदूरों के संगठन का भी उनके वेतन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। प्रायः कारखाने वालों या अन्य मालिकों की यह इच्छा रहती है, कि वेतन कम-से-कम दिया जाय। निर्धन मजदूरों को प्रायः मालिक की दी हुई वेतन स्वीकार करनी होती है। परन्तु जब मज़दूर अपना संगठन कर लेते हैं, तो वे अपने चन्दे आदि से ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं कि मालिक पर प्रभाव डालकर कुछ अच्छी वेतन प्राप्त करलें।

**मजदूरी पर सामाजिक और धार्मिक स्थिति का प्रभाव—** भारतवर्ष में आर्थिक विषयों पर सामाजिक तथा धार्मिक बातों का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। गाँवों में खेतों पर काम करनेवाले मजदूरों, बढ़ई और लुहार आदि की मजदूरी बहुत-कुछ रिवाज के अनुसार चली जाती है। नाई, धोबी, कुम्हार आदि के विषय में भी यही बात है। कुछ अंश में शहरों में भी रिवाज का प्रभाव दिखाई देता है; हाँ, अब कम होता जाता है।

घर के काम के लिए नौकर रखते समय आदमी उनकी जाति का विचार विशेष रूप से करते हैं। मिसाल के तौर पर हिन्दुओं में अधिकतर ब्राह्मण रसोइया रखने का चलन है; दूसरा आदमी कुछ कम वेतन पर भी रसोई बनाने के लिए नहीं रखा जाता। इसी तरह पानी भरने के लिए प्रायः अहीर या कहार आदि रखा जाता है। कोई हरिजन कम वेतन पर ही काम करना स्वीकार करे तो उसे अनेक घरों में इस काम के लिए नहीं रखा जायगा।

**रहनसहन का दर्जा और मजदूरी**—रहनसहन के दर्जे के विषय में, चौदहवें अध्याय में लिखा जा चुका है। उसका भी मज़दूरी पर बहुत प्रभाव पड़ता है। बात यह है कि हरेक आदमी स्वभावतः यह चाहता है कि उसके रहन-सहन का दर्जा ऊंचा होता जाय, वह

कभी नीचा न हो; उसके नीचे होने से आदमी को कष्ट होता है, तथा समाज में प्रतिष्ठा घटने की आशंका होती है। इसलिए मज़दूर यही चाहता है कि मुझे कम-से-कम इतनी मजदूरी तो अवश्य मिले—जितनी मेरे परिवार के निर्वाह के लिए तथा मेरा रहन-सहन का दर्जा बनाए रखने के लिए आवश्यक है। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक काम करने वाले दो ऐसी श्रेणियों के मज़दूर होते हैं, जिनका रहन-सहन का दर्जा अलग-अलग होता है। ऐसी दशा में नीचे दर्जे के रहन-सहन वाले मजदूर अपेक्षाकृत कम मज़दूरी पर काम करने को तैयार हो जाते हैं। इससे उनका दूसरी श्रेणी के मज़दूरों से विरोध होता है।

प्रायः जिन मजदूरों का रहन-सहन का दर्जा वास्तव में ऊंचा होता है, उनका स्वास्थ्य अच्छा रहता है। और उनकी कार्य-क्षमता भी अधिक होती है। इससे उन्हें मज़दूरी अधिक मिलने की सम्भावना होती है।

**युद्ध और वेतन**—युद्ध-काल में युद्ध-सामग्री तैयार करने की आवश्यकता बहुत बढ़ जाती है; शस्त्रास्त्र, तोप, बन्दूक, हवाई जहाज, टैंक, टारपीडो, जहाज, रेल, मोटर, सैनिकों की वर्दी, डेरे, थैले आदि अनेक चीज़ें चाहिएँ। इनके बनाने के लिए कारखानों का उत्पादन बढ़ाया जाता है, या नए कारखाने खोले जाते हैं। इनमें यथेष्ट मज़-दूरों को आकर्षित करने के लिए उन्हें अच्छा वेतन दिया जाता है। जो आदमी युद्ध सम्बन्धी उद्योगों में भाग लेते हैं, उनमें से कुछ तो ऐसे होते हैं, जो पहले बेकार थे, उन्हें अब रोजगार मिल जाता है। इनके अतिरिक्त, बहुत-से आदमी दूसरे धन्धों को छोड़ कर युद्ध सम्बन्धी कारखानों में आ जाते हैं। जिन धन्धों के आदमी काम छोड़ कर यहाँ आते हैं, उनमें नए आदमियों की माँग बढ़ती है। इस प्रकार, विविध धन्धों में श्रमजीवियों की माँग में, और उसके साथ ही वेतन में वृद्धि होती है।

जैसा कि पहले कहा गया है, युद्ध के फल-स्वरूप पदार्थों की

कीमत बढ़ जाती है। बढ़ी हुई कीमतों का समाज की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के आदमियों पर कैसा प्रभाव पड़ता है, इसका विचार पहले किया जा चुका है। बहुधा लोगों की वेतन उस अनुपात से कम बढ़ती है, जिस अनुपात से पदार्थों की कीमत बढ़ा करती है। इससे सर्वसाधारण जनता का कष्ट बढ़ जाता है। प्रायः प्रत्येक दीर्घ-कालीन युद्ध के कुछ समय आगे-पीछे मजदूरों के असंतोष की सूचना देनेवाली घटनाएँ अनिवार्य रूप से आती हैं।

अब हम भिन्न-भिन्न प्रकार के श्रमियों को मिलने वाली मज़दूरी तथा उनकी आर्थिक स्थिति का विचार करते हैं।

**कृषि-श्रमियों की मजदूरी**—कृषि-श्रमियों के तीन भेद किए जा सकते हैं—(१) खेत-मज़दूर, जो खेतों में जुताई, बुआई, निराई, कटाई आदि करते हैं; (२) कारीगर, जो खेती के औजार तथा किसानों के काम में आनेवाली अन्य उपयोगी वस्तुएँ बनाते हैं (३) साधारण श्रमी जो अन्य कार्य करते हैं। इनमें से दूसरे और तीसरे प्रकार के श्रमजीवियों को अपेक्षाकृत अच्छी मजदूरी मिल जाती है। पहले प्रकार के श्रमियों की दशा सब से खराब है। इन्हीं को लक्ष्य में रख कर, कृषि-श्रमियों के विषय में कुछ बातों का उल्लेख पाँचवें अध्याय में किया गया है। इन्हें मजदूरी अधिकतर जिन्स में मिलती है; और प्रायः फसल के दिनों में कुछ अच्छी मिलती है। परन्तु कुछ को तो उन दिनों में भी इतनी मजदूरी नहीं मिलती, जिससे अपना निर्वाह अच्छी तरह कर सकें। दूसरे दिनों में तो इनकी दशा बहुत ही खराब हो जाती है। बेकारी की हालत में उन्हें जो-भी काम मिल जाय, उसे करने को ये तैयार रहते हैं। इनमें से कुछ को, पास की मिलों या कारखानों में साधारण श्रम का कार्य मिल जाता है; कुशल श्रम की आवश्यकता वाले कार्य करने की इनमें योग्यता नहीं होती। अस्तु, साल भर का कुल हिसाब लगाने पर इनकी औसत मजदूरी बहुत ही कम रहती है। इनकी मजदूरी बढ़ाने के लिए आवश्यक है कि ग्राम-

उद्योग-धंधों की वृद्धि की जाय, जिससे ये लोग अवकाश के समय का, अपने घर पर रहते हुए भी समुचित उपयोग कर सकें, और कुछ और आय प्राप्त कर सकें।

**खानों और कारखानों के श्रमजीवियों की मज़दूरी**—भिन्न-भिन्न खानों तथा कारखानों में, और एक ही खान या कारखाने सम्बन्धी भिन्न-भिन्न कामों में मज़दूरी का परिमाण भिन्न-भिन्न होता है। हमारे अधिकतर श्रमी अकुशल होते है, उनसे इतना काम नहीं होता, जितना औद्योगिक देशों के कुशल श्रमी कर सकते हैं। फलस्वरूप इन्हें वेतन भी साधारण ही मिलता है; हाँ, कृषि-श्रमियों की तुलना में, नकदी के विचार से, इनकी मज़दूरी बहुत अधिक होती है। परन्तु शहर के रहन-सहन तथा मकान-किराए आदि का खर्च भी बहुत अधिक होने से (एवं निम्न श्रेणी के वातावरण के कारण शराबखोरी आदि के व्यसन में फँस जाने से) उन्हें उतना लाभ नहीं होता। इन की मज़दूरी बढ़ाने के लिए इनकी कार्य-कुशलता का बढ़ाना बहुत आवश्यक है। इसके वास्ते इनके काम के घंटे कम करने के साथ, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि ये अपना कुछ समय व्यावहारिक तथा मानसिक और नैतिक ज्ञान बढ़ाने में लगा सकें।

**कारीगरों या स्वतन्त्र श्रमियों की मज़दूरी**—देश में अधिकतर लोगों की आर्थिक दशा अच्छी न होने के कारण उनकी आवश्यकताएँ कम हैं। फिर, उन में से भी कितनी ही आवश्यकताओं की पूर्ति मशीनों से बने सस्ते माल से हो जाती है। इसलिए कारीगरी की वस्तुओं की माँग कम है। इससे कारीगरों की मज़दूरी कम होनेवाली ठहरी। फिर अनेक कारीगर भी ऐसी हीन अवस्था में हैं कि वे जल्दी-से-जल्दी अपनी चीज़ तैयार करके उसके दाम उठाने की फिक्र में रहते हैं, इससे उनकी कार्य-कुशलता का यथेष्ट उपयोग तथा विकास नहीं हो पाता। देश की आर्थिक अवस्था में सुधार होने तक, कारीगरों की मज़दूरी बढ़ने की विशेष आशा नहीं है।

**शिक्षितों का वेतन**—यहाँ शिक्षित आदमियों को सरकारी नौकरी या दफ्तर आदि का काम अधिक पसन्द होता है, और इसका क्षेत्र बहुत परिमित होने से ऐसी नौकरी चाहनेवालों में बहुत प्रतियोगिता होती है। एक साधारण सी जगह खाली होने की सूचना प्रकाशित होने पर उसके लिए सैकड़ों आदमी उम्मेदवार हो जाते हैं। ऐसी दशा में वेतन कम हो तो क्या आश्चर्य ! अस्तु, यहाँ शिक्षितों का वेतन बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा-पद्धति इस तरह की हो कि शिक्षित व्यक्ति एकमात्र नौकरी के आसरे न रह कर विविध कार्यों में लगा करें।

**स्त्री-श्रमियों का वेतन**—यद्यपि भारतवर्ष में स्त्रियों का कार्यक्षेत्र विशेषतया सन्तान-पालन और घर का कार्य माना जाता है, कुछ स्त्रियों को आर्थिक आवश्यकताओं अथवा स्वाभिमान की भावना से अपनी आजीविका के लिए कोई काम करना आवश्यक होता है। प्रायः उन्हें कई बाधाओं का सामना करना पड़ता है। प्रथम तो उन्हें शारीरिक शक्ति, शिक्षा या योग्यता कम होने के कारण थोड़े से ही व्यवसायों में काम मिल पाता है। सामाजिक रिवाज या दस्तूर के कारण वे कई प्रकार के कामों को नहीं कर पातीं। फिर, बहुधा समान काम होते हुए भी उन्हें पुरुषों की अपेक्षा कम वेतन दिया जाता है। कन्या-पाठशालाओं में पढ़ाने के लिए स्त्री-अध्यापिका को पुरुष-अध्यापक की अपेक्षा वेतन अधिक भी मिलता है; पर इसका कारण है कि स्त्री-अध्यापिकाएँ अभी कम मिलती हैं।

'समान काम के लिए समान वेतन'—यह तत्व अब व्यापक रूप से अमल में आना चाहिए। इसमें स्त्री-पुरुष का भेद रखना अनुचित है। स्त्रियों की वेतन में सुधार करने के लिए यह भी आवश्यक है कि विविध व्यवसायों का वर्गीकरण करके कम परिश्रम वाले कुछ कार्यों में स्त्रियों को प्राथमिकता दी जाय। उन व्यवसायों के अध्यक्षों को बाध्य किया जाय कि वे उनमें, जब तक कोई विशेष कारण न हो,

स्त्रियों को ही नियुक्त करें। स्त्री-श्रमियों के संगठन बढ़ने की भी आवश्यकता है।

**न्यूनतम मजदूरी**—औद्योगिक देशों में मजदूरी का बाज़ार सुव्यवस्थित है। खासकर जहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के धंधों में काम करने-वालों के संघ बन गए हैं, और निश्चित नियमों के अनुसार काम होता है, वहाँ एक धन्धे के मजदूर एक नियत वेतन से कम पर मिल ही नहीं सकते। कुछ देशों में तो कानून द्वारा यह तय हो गया है कि मजदूरों को इतनी मजदूरी अवश्य ही मिले, जिससे उसका और उसके आश्रितों का निर्वाह हो सके। इसे न्यूनतम मजदूरी कहते हैं। कुछ समय हुआ 'दि ह्यूमन नीड्स आफ लेबर'—नामक एक अंग्रेजी पुस्तक प्रकाशित हुई थी। उससे मालूम होता है कि इङ्गलैंड के राउंटी महाशय ने प्रथम महायुद्ध से पहले वहाँ, यार्क नगर में, नीचे लिखे नियमों के अनुसार मजदूरी निश्चित की थी—

(१) यह मान लिया गया कि प्रत्येक कुटुम्ब में प्रायः एक पुरुष, एक स्त्री और तीन बालक रहते हैं।

(२) मजदूरी इतनी चाहिए कि मजदूर उससे अपने कुटुम्ब का साधारण रीति से पालन-पोषण कर सकें। (राउंटी महाशय स्त्री और बच्चों की मजदूरी को कुटुम्ब की आमदनी में शामिल नहीं करते। उनका कहना है कि कुटुम्ब के बढ़ने पर स्त्रियों को अपने घरों का काम करने के बाद, न तो समय ही रहता है, और न शक्ति ही। इसलिए उनसे मजदूरी नहीं कराई जानी चाहिए। और, लड़कों से तो स्कूलों में पढ़ने के अलावा मजदूरी कराना बहुत ही अनुचित है।)

(३) मजदूरों का निवास-स्थान काफी हवादार होना चाहिए, और उसमें एक कुटुम्ब के लिए कम-से-कम एक बड़ा कमरा, तीन सोने के कमरे और एक रसोई-घर होना चाहिए।

(४) मजदूरों के अन्य आवश्यक खर्चों का भी विचार किया जाना चाहिए।

इस प्रकार उन्होंने, सन् १६१४ ई० में, एक मजदूर की मजदूरी पाँच शिलिङ्ग या लगभग तीन रुपए नौ आने निश्चित की थी। भारतवर्ष में विशेषतया ग्रामों में रहनसहन का दर्जा निम्न श्रेणी का है। यहाँ योरपीय महायुद्ध से पहले एक श्रमी के साधारण भोजन-वस्त्र का न्यूनतम खर्च तीन आने अनुमान किया गया था। उसके परिवार के (उसके आश्रित) अन्य व्यक्तियों की आवश्यकताओं में कुछ भेद होते हुए भी, उनके कुल परिमाण के मूल्य का अनुमान उतना ही अर्थात् तीन-तीन आने किया जा सकता है। इस प्रकार पाँच व्यक्तियों के कुटुम्बवाले आदमी के भोजन-वस्त्र के लिए पन्द्रह आने की आवश्यकता थी। यदि अन्य आवश्यकताओं के लिए केवल एक आना भी और रखा जाय, तो राउंटी महाशय के पूर्वोक्त नियमों के अनुसार ग्रामवासी भारतीय श्रमी की दैनिक मजदूरी प्रथम योरपीय महायुद्ध से पहले कम से कम एक रुपया, और नगर-निवासी की इससे अधिक होनी चाहिए थी।

**ग्राम-उद्योग-संघ और चर्खा संघ का प्रयोग**—मजदूरों के न्यूनतम वेतन की ओर, सरकारी एवं गैर-सरकारी संस्थाओं की यहाँ प्रायः उपेक्षा ही रही है। ऐसे वातावरण में किसी का इस दिशा में कदम बढ़ाना निस्सन्देह बड़े साहस का काम है। अखिल-भारत ग्राम-उद्योग-संघ और चर्खा-संघ ने सन् १६३५ ई० में म० गांधी की प्रेरणा से कम-से-कम मजदूरी के प्रश्न का न केवल विचार करके, वरन् उसे व्यावहारिक स्वरूप देकर अपनी नीति में जो परिवर्तन किया, वह परिमाण में कम दिखाई देने पर भी बहुत महत्वपूर्ण है। ग्राम उद्योग-संघ के २२ अगस्त १६३५ के प्रस्ताव के ये शब्द बड़े मार्के के हैं कि 'संघ की संरक्षता में तैयार होने या बेची जानेवाली तमाम चीजों के लिए हर कार्यकर्त्ता को आठ घन्टे के पूरे काम के हिसाब पर कम-से-कम इतनी मजदूरी तो मिलनी ही चाहिए जो उसकी शास्त्रीय (वैज्ञानिक) खुराक के लिए काफी हो।······जैसे-जैसे और जब परिस्थिति अनुकूल

हो, तब मजदूरी की दर में उस दर्जे तक वृद्धि होती जानी चाहिए, जिससे कुटुम्ब के कार्यक्षम व्यक्तियों की कमाई से सारे कुटुम्ब की ठीक तरह से गुजर हो सके।' इसी आशय का प्रस्ताव अ० भा० चर्खा-संघ ने कत्तिनों के सम्बन्ध में स्वीकार किया।

इस योजना के अनुसार काम करने के लिए चार बातें आवश्यक थीं :—(१) यह मालूम करना कि साधारणतया किसी व्यक्ति के लिए कम-से-कम आवश्यक भोजन क्या है, और, भिन्न-भिन्न, प्रान्तों में उसकी कीमत क्या है। (वस्त्र की आवश्यकता का अनुमान करना कुछ कठिन नहीं होता)। (२) ऐसी व्यवस्था करना कि श्रमी अपनी मजदूरी के पैसों को फजूलखर्ची में न उड़ाए, वरन् उनसे आवश्यक भोजन, आरोग्यता और शक्ति प्राप्त करें। (३) मजदूरी बढ़ने से खद्दर का दाम बढ़ना, और फल-स्वरूप खद्दर की माँग घटना स्वाभाविक था, इसका उपाय सोचना। (४) दूसरी और तीसरी बात के लिए, अन्यान्य उपायों में, कत्तिनों को खादी का व्यवहार करने के लिए तैयार करना।

पहले यह मालूम किया गया कि कताई-क्षेत्र में रहनेवाली जनता को किस प्रकार का भोजन अनुकूल होगा। फिर, इसके आधार पर योग्य डाक्टरों के साथ सलाह-मशवरा करके, कम-से-कम आवश्यक भोजन का परिमाण निश्चित किया गया। एक आदमी के साधारण आवश्यक दैनिक भोजन के मूल्य का, आहार की वस्तुओं के स्थानीय मूल्य के अनुसार, हिसाब लगाया गया, और इसे आवश्यक खादी की कीमत के साथ जोड़कर दैनिक आठ घंटे के संतोषजनक कार्य की कम-से-कम मज़दूरी निश्चित की गई। यद्यपि देश के विविध हिस्सों के रहने-वाले लोगों के आवश्यकीय आहारों में काफी अन्तर है तो भी यह मालूम हुआ कि उक्त आधार पर हिसाब करके कम-से-कम दैनिक मज़दूरी =) से ≥) तक होनी चाहिए। पहले कताई की रोजाना मज़-दूरी छः-सात पैसे ही थी, और बहुतसी स्त्रियों को इतनी मज़दूरी का

काम भी नहीं मिलता था। नए आधार पर गिने हुए, कताई-दर पहले के दर से २५ से ७५ फीसदी तक बढ़ गए। यह बढ़ा हुआ दर जुदा जुदा सूबों में जारी कर दिया गया।

कुछ केन्द्रों में, प्रारम्भ में कत्तिनों को खादी का व्यवहार करने के लिए राजी करना कठिन था। किन्तु मजदूरी की वृद्धि ने इन कठिनाइयों को दूर करने में मदद की और पर्याप्त संख्यक कत्तिनों ने नए कार्यक्रम के अनुसार काम करने के लिए सम्मति दी। कताई की मजदूरी में वृद्धि होने के कारण प्रायः खादी का दाम दस फी-सैकड़ा बढ़ गया। परन्तु खादी-प्रेमी जनता ने खादी की बिक्री यथा-सम्भव कम न होने दी। इसके अतिरिक्त कत्तिनों की मजदूरी बढ़ने से उनके काम की उन्नति हुई और खादी खरीदनेवाली जनता पर बहुत अधिक भार नहीं पड़ा। पिछले वर्षों में कताई की दैनिक मज़दूरी प्रायः छः आने से आठ आने तक रही है।

**सरकार और न्यूनतम मजदूरी**—केन्द्रीय व्यवस्थापक मंडल ने फरवरी १६४८ में न्यूनतम मज़दूरी सम्बन्धी कानून बनाया है। उसके अनुसार केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों को निर्दिष्ट उद्योगों में न्यूनतम मज़दूरी निर्धारित करने तथा उसमें संशोधन करने का अधिकार रहेगा। न्यूनतम मज़दूरी निर्धारित करने के लिए सरकार सलाहकार तथा उपसमिति नियुक्त करेगी। अन्यान्य उद्योगों में निम्नलिखित उद्योग न्यूनतम मज़दूरी के लिए निर्दिष्ट किए गए हैं: ऊनी गलीचे अथवा कम्बल बनाने के कारखाने, चावल, आटा, या दाल के कारखाने, बीड़ी बनाने का उद्योग, तेल का कारखाना, सड़क और मकान बनाने का कार्य, लाख और अभ्रक का उद्योग, कृषि-श्रम और गोशालाओं आदि का काम। प्रान्तीय सरकारों को इन उद्योगों में अन्य उद्योग सम्मिलित करने का अधिकार दिया गया है।

उपर्युक्त उद्योग-धन्धों की संख्या तथा उनमें लगे हुए श्रमिकों की संख्या को देखते हुए यह स्पष्ट है कि इस कानून का क्षेत्र व्यापक है

और यदि इसे अच्छी तरह अमल में लाया जाय तो देश की अर्थ-व्यवस्था पर इसका गहरा प्रभाव पड़ेगा।

कुछ उद्योगपतियों तथा अन्य लोगों को यह आशंका है कि इस कानून से उद्योगों में मज़दूरी की मद का व्यय बढ़ जायगा, कीमतों की दर चढ़ेगी, अथवा उत्पादन में कमी होगी; और जो उद्योग-धंधे इस भार को सहन नहीं कर सकेंगे, वे बन्द हो जायँगे। इस प्रकार देश में पदार्थों की कमी और उत्पादन-संकट उपस्थित हो जायगा। इसके जवाब में श्री श्रम-मंत्री ने व्ययवस्थापक सभा में कहा था कि जो उद्योग अपने श्रमियों को न्यूनतम मज़दूरी नहीं दे सकता, वह वास्तव में श्रमियों के शोषण पर चलता है, और राष्ट्र के हित में उसे बन्द करना ही ठीक होगा। यदि राष्ट्र को उसकी आवश्यकता है तो सरकार ऐसे उद्योग को इतनी अर्थ-सहायता देगी, जिससे वह अपने श्रमियों को न्यूनतम मज़दूरी दे सके।' श्रम-मंत्री का यह कथन भी ध्यान में रखने योग्य है कि आज जो कृषि-श्रमी यथेष्ट मज़दूरी न मिलने के कारण पूरे उत्साह से काम नहीं कर रहा है, वह न्यूनतम मज़दूरी मिलने पर अवश्य ही अधिक श्रम और उत्साह से काम करेगा; इससे खाद्य उत्पादन में वृद्धि होगी। इसी प्रकार औद्योगिक उत्पादन भी बढ़ेगा। वास्तव में श्रमियों की कार्य-कुशलता बहुत-कुछ उनको दी जानेवाली मज़दूरी पर निर्भर होती है, और न्यूनतम मज़दूरी मिलने की व्यवस्था होने से श्रमियों का सन्तुष्ट होना और उनकी कार्य-कुशलता बढ़ना स्वाभाविक ही है।

अस्तु, यहाँ न्यूनतम मज़दूरी का कानून बनना औद्योगिक इतिहास की बहुत महत्व-पूर्ण घटना है, तथापि जैसा कि ऊपर कहा गया है कि इसकी यथेष्ट सफलता इसके उपयोग पर निर्भर है, और यह कार्य बहुत-कुछ प्रान्तीय सरकारों के करने का है।

**प्रान्तीय सरकारों का कार्य**—प्रान्तीय सरकारें इस विषय की ओर ध्यान दे रही हैं, पर अभी उनका कार्य संतोषप्रद नहीं है। उदाहरण के तौर पर संयुक्तप्रान्तीय सरकार ने दिसम्बर १९४७ में

मज़दूर-जाँच समिति नियुक्त की थी। इसमें उद्योगपतियों के भी प्रतिनिधि थे। समिति ने स्वर्गीय निम्बकर की रिपोर्ट अप्रेल १६४८ में उपस्थित की थी। इसमें मजदूरों का वेतन, मँहगाई, भत्ता, बोनस, काम करने की स्थिति, भरती की प्रणाली, निवास की व्यवस्था, आदि बातों पर विचार किया गया है। सरकार ने इस आवश्यक रिपोर्ट पर अपना निर्णय देने में बहुत देर की। उसका निर्णय नवम्बर १६४८ में प्रकाशित हुआ है। फिर, सरकार ने समिति की सिफारिशों को अंशतः ही स्वीकार किया है। उसने प्रस्तावित न्यूनतम मज़दूरी की बात मान तो ली है, पर भिन्न-भिन्न उद्योगों के लिए अलग-अलग न्यूनतम मज़दूरी रखी है। यह बात 'न्यूनतम मज़दूरी' के सिद्धान्त के विरुद्ध है, क्योंकि न्यूनतम मजदूरी उतनी मजदूरी होती है, जिससे निम्न श्रेणी के लोगों का निर्वाह हो सके। यह जुदा-जुदा स्थानों में तो अलग-अलग हो सकती है, पर एक ही स्थान में जुदा-जुदा धंधों के लिए अलग-अलग नहीं होनी चाहिए। आवश्यकता है कि प्रान्तीय सरकारें इस युग की माँग पर उदारतापूर्वक विचार करें।

**वेतन सम्बन्धी समस्या**—किसी प्रकार का श्रम करनेवाले को कितना वेतन मिले, भिन्न-भिन्न श्रमियों के वेतन में क्या अनुपात रहे, यह समस्या बहुत जटिल है, और इस पर प्रायः बहुत कम विचार किया जाता है। यहाँ भारतवर्ष में वायसराय को मासिक वेतन बीस हजार रुपए से अधिक मिलता है,* (भत्ते और मार्ग-व्यय आदि की रकमें अलग रहीं) उससे नीचे उतर कर भिन्न-भिन्न पदवालों को क्रमशः कम वेतन मिलता है, यहाँ तक कि अनेक निम्न कर्मचारियों को तीस-तीस रुपए महीने में सन्तोष करना पड़ता है। इस प्रकार यहाँ एक कर्मचारी दूसरे कर्मचारी की अपेक्षा सात सौ गुने से अधिक वेतन पाता

* वायसराय और गवर्नरों आदि का भारी-भारी वेतन अंगरेज सरकार के समय का ठहराया हुआ है। आशा है स्वतन्त्र भारत की सरकार इस विषय पर सर्व-साधारण जनता की परिस्थिति के अनुसार विचार करेगी।

है। अनेक देशों में निम्न पदाधिकारियों का वेतन इतना कम और उच्च पदाधिकारियों का वेतन इतना अधिक नहीं होता।

अच्छा, शासन के अतिरिक्त अन्य क्षेत्र की बात सोचें। मिल का मेनेजर चार-चार पांच-पांच हजार रुपए मासिक वेतन क्यों पाता है, जब कि वहाँ दिन भर सख्त मेहनत करनेवाले अनेक मजदूरों को तीस-पैंतीस रुपए महीना, या इससे भी कम मिलता है। यह ठीक है कि मेनेजर की योग्यतावाले व्यक्तियों की संख्या बहुत कम होती है, इस योग्यता को प्राप्त करने में कई वर्ष का समय और हजारों रुपए की रकम खर्च होती है; इसके विपरीत, मजदूर तो अनेक मिल सकते हैं। इसलिए, माँग और पूर्ति के नियम के अनुसार मेनेजर की वेतन बहुत अधिक, और मजदूर को बहुत-कम होती है। किन्तु क्या वेतन की इतनी विषमता उचित है? और, क्या दो व्यक्तियों की, भोजन-वस्त्र आदि की मूल अर्थात् प्राकृतिक आवश्यकताओं में इतना अन्तर होता है? निपुणतादायक पदार्थों तथा कृत्रिम या सामाजिक आवश्यकताओं का विचार न करें तो भी वेतन में इतना अंतर न होना चाहिए।

**वेतन का आदर्श**—भिन्न-भिन्न श्रमियों के वेतन का आधार क्या हो? आर्थिक जगत में माँग और पूर्ति का नियम चल रहा है। क्या वह नीति-युक्त है? हमारी आदत ऐसी पड़ गई है कि जिस बात को नित्य होते देखते हैं, वह हमें कुछ अनुचित नहीं जान पड़ती। हम कह देते हैं कि श्रमी को काम करने की स्वतंत्रता है, यदि उसे अपना वेतन कम जँचती है तो वह काम छोड़ सकता है। इस कथन में सत्यता है, पर निष्ठुरता भी कम नहीं। उपर्युक्त श्रमी अवश्य ही अपना कार्य छोड़ने में स्वतंत्र है, पर वह अपनी उदर-पूर्ति की बात से, अपनी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति की चिन्ता से, किस प्रकार मुक्त हो सकता है? अगर एक बेकार और भूखे मजदूर को कोई पैसेवाला यह कहता है कि तू दिन भर काम कर, तुझे चार आने दिए जाएँगे, तो श्रमी यह जानते हुए भी कि यह वेतन उसके निर्वाह के लिए नितांत कम

है, उससे कैसे इनकार कर सकता है! वह सोचता है, कि कुछ न मिलने से तो जो-कुछ मिल जाय, वही अच्छा है। इस प्रकार यदि वह लाचारी से चार आने स्वीकार करता है तो क्या उसका यह वेतन उचित है? क्या वेतन सम्बन्धी वर्तमान विषमता ही आधुनिक अशान्ति, असन्तोष और समाजवाद-आंदोलन का एक मुख्य कारण नहीं है?

पाठकों के विचार के लिए वेतन सम्बन्धी आदर्श के विषय में हम कुछ बातें नीचे देते हैं। ये बातें तुरन्त ही पूर्ण रूप से अमल में आनी कठिन हैं, तथापि उन्हें आदर्श मानकर इस दिशा में क्रमशः कदम बढ़ाया जाना हम उचित और आवश्यक समझते हैं।

१—जो व्यक्ति दिन भर में अधिक-से-अधिक आठ घन्टे और सप्ताह में छः दिन ईमानदारी से परिश्रम-पूर्वक कोई कार्य करे, उसे इतना वेतन दिया जाना चाहिए जिससे उसका तथा उसके आश्रित (काम न कर सकनेवाले) व्यक्तियों का साधारण निर्वाह हो सके।

[यह वेतन नकदी में कितना हो, इसका विचार स्थानीय परिस्थिति, बाजार-भाव आदि के अनुसार होना चाहिए। अनेक देशों में श्रमियों के काम करने के घन्टों और दिन की औसत इससे कम है, अथवा कम करने का आंदोलन चल रहा है। हम भारतवर्ष में अभी, अधिकांश जनता के विचार से, इसे ही उचित समझते हैं।]

२—कार्य करने के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को, उसकी क्षमता के अनुसार, काम दिए जाने की व्यवस्था होनी चाहिए; जिसे काम न मिल सके, उसके निर्वाह की व्यवस्था राज्य की ओर से रहनी चाहिए।

३—समाज में जिस-जिस कुशल श्रम की आवश्यकता होती है, उनके कम-से-कम वर्ग बना दिए जाने चाहिएँ। प्रत्येक वर्ग में निर्धारित समय काम करनेवाले का वेतन समान होना चाहिए। नीचे से नीचे और ऊँचे से ऊँचे वर्ग के पदाधिकारी के वेतन में यथा-संभव विषमता कम करने का प्रयत्न किया जाय। साधारणतया उनके वेतन में एक

और दस से अधिक का अनुपात न हो।

[ दूसरे महायुद्ध से पहले काँग्रेस का प्रस्ताव था कि साधारण तौर पर किसी पदाधिकारी को मासिक वेतन ५००) अर्थात् वार्षिक ६०००) रु० से अधिक न होना चाहिए। इस समय मुद्रा-प्रसार, और कम उत्पादन के कारण पदार्थों की कीमत बढ़ी हुई है, इसलिए वेतन की उच्चतम सीमा उस अनुपात में बढ़ी हुई रह सकती है। विदेशों में काम करनेवालों को वहाँ होनेवाले अधिक व्यय के विचार से कुछ भत्ता दिया जा सकता है। परन्तु जहाँ तक सम्भव हो, उपर्युक्त सिद्धांत का बराबर ध्यान रखा जाना चाहिए।]

४—देश में कोई भी पद किसी रंग, जाति या धर्म विशेष के व्यक्तियों के लिए सुरक्षित न होना चाहिए। ऊँचे से ऊँचा पद प्राप्त करने का मार्ग प्रत्येक सुयोग्य नागरिक के लिए खुला रहे।

५—निम्न श्रेणी के श्रमियों को, विशेषतया जिनके विषय में यह आशंका हो कि वे अपने जीवन-निर्वाह की वस्तुओं को खरीदने में कमी करके भी वेतन का काफी भाग मादक द्रव्य आदि विलासिता की वस्तुओं में खर्च कर देंगे, उन्हें वेतन का निर्धारित भाग जिन्स में अर्थात् उन वस्तुओं में दिया जाय, जो उनके जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक हो।

---

## सत्ताइसवाँ अध्याय

# सूद

**पूँजी का व्यवहार**—पूँजी का व्यवहार करने-देने के बदले में पूँजीवाले को मूलधन के अतिरिक्त जो द्रव्य आदि दिया जाता है, उसे सूद या ब्याज कहते हैं। कुछ आदमी अपने उत्पन्न धन में से सब खर्च न कर, यथा-शक्ति कुछ जमा करते जाते हैं। इस संचित धन से वे धनोत्पादन का कार्य अथवा भावी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबन्ध करते

है। असमर्थता, अज्ञान या अराजकता आदि की दशा में बहुधा आदमी अपना धन जमीन में गाड़कर रखते हैं। परन्तु जब ऐसी अवस्था न हो, और पूँजीवाला आदमी व्यापार-व्यवसाय की जोखिम भी न उठाना चाहे, तो वह अपनी पूँजी दूसरे लोगों को व्यवहार करने के लिए दे सकता है। ऐसा करने में उसे अपनी आवश्यकताओं या इच्छाओं की तत्कालीन पूर्ति से मिलनेवाले सुख का त्याग करना पड़ता है। इसके प्रतिफल-स्वरूप उसे पूँजी का सूद मिलता है।

साधारणतया सूद पर रुपया उधार देना उतना लाभदायक नहीं होता, जितना उसे व्यापार-व्यवसाय में लगाना। परन्तु वह इससे तो अच्छा ही है कि वह व्यर्थ पड़ा रहने दिया जाय। सूद पर रुपया देनेवाला दूसरों की धन-संबन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इससे उसका धन (सूद द्वारा) बढ़ता है, और जिन्हें वह उधार देता है, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

**सूद के दो भेद; कुल और वास्तविक**—अर्थशास्त्र की दृष्टि से ब्याज के दो भेद हैं—कुल सूद, और वास्तविक सूद। 'कुल सूद' को व्यवहारिक भाषा में प्रायः 'सूद' ही कहते हैं। इस में असली ब्याज के अतिरिक्त ( क ) पूँजीवाले के जोखिम उठाने का प्रतिफल, ( ख ) ऋण की व्यवस्था करने का खर्च और (ग) पूँजीपति की असुविधाओं का प्रतिफल होता है।

पूँजीवाले को जोखिम यह उठानी पड़ती है कि कहीं उधार लेनेवाले की बेईमानी या उसके धन्धे की असफलता के कारण पूँजी मारी न जाय। ऋण की व्यवस्था करने के खर्च में वह खर्च शामिल है, जो पूँजीवाला हिसाब रखने, पहरा देने या रुपया वसूल करने आदि के लिए नियुक्त कर्मचारियों पर करता है। पूँजीपति की असुविधा इस प्रकार हो सकती है कि कभी-कभी कर्जदार कर्ज बहुत अधिक समय के लिए चाहता है, अथवा वह ऋण ऐसे समय चुकाता है, जब वह रकम कहीं अच्छे सूद पर नहीं लगाई जा सकती।

**सूद के प्रति लोगों की भावना**—प्राचीन काल में प्रायः सभी देशों में सूद का विरोध किया गया है। इसका कारण यह मालूम होता है कि बड़े-बड़े उद्योग-धंधों के चलने के पहले, बहुत दुःखी और लाचार आदमी ही ऋण लेते थे, और उनसे सूद लेना निर्दयता या बेरहमी का कार्य समझा जाता था। भारतवर्ष में सूद का एकदम निषेध न करके सूद की दर नियमित करने की ओर ध्यान दिया गया है। गिरवी आदि से सुरक्षित ऋण पर मनु जी ने प्रतिमास ऋण के अस्सीवें भाग, अर्थात् सालाना १५ फी सदी सूद की अनुमति दी है, और अरक्षित ऋण के लिए दो फी-सदी माहवार भी अनुचित नहीं ठहराया है। सूद की दर, ऋण लेनेवाले की जाति पर भी निर्भर रहती थी। नीच जातिवालों से सूद अधिक लिया जाता था।* कुछ शास्त्रकारों ने 'दाम-दुपट' का नियम ठहराया है, अर्थात् सूद की रकम बढ़ाने की सीमा यह नियत कर दी है कि वह मूलधन के दुगने तक हो सके, उससे अधिक नहीं। सूदखोरी अर्थात् अत्यन्त अधिक ब्याज का, धार्मिक दृष्टि से, यहाँ बहुत निषेध है। मुसलमानों के यहाँ तो सूद की बिलकुल मनाही ही है। परन्तु अब आर्थिक युग है। कितने ही अच्छी स्थिति के मुसलमान भी ब्याज की कमाई से परहेज़ नहीं करते।

समाजवादियों का मत है 'कि सम्पत्ति केवल श्रम का फल है। पूँजीपतियों के पास जो सम्पत्ति है, वह उन्होंने मजदूरों को कम मजदूरी देकर, अर्थात् उनके हिस्से की कुछ-कुछ सम्पत्ति अपने लिए बचा कर संग्रह की है। यह उनके द्वारा मज़दूरों का शोषण किए जाने से, जमा हुई है। इस पर वास्तव में उनका कोई अधिकार नहीं है। इस प्रकार इस सम्पत्ति को उधार देकर उस पर सूद लिया जाना अनुचित है।' परन्तु जब तक राज्यों में नागरिकों को व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकारी माना जाता है, पूँजी पर सूद लिया और दिया ही जायगा, अन्यथा

---

* इसका कारण यह प्रतीत होता है कि इन लोगों से रुपया वसूल होना अधिक कठिन होता है।

उद्योग-धन्धे और व्यापार के लिए पूँजी नहीं मिलेगी।

**विविध-ऋणदाता**—अब हम भिन्न-भिन्न ऋण-दाताओं के विषय में विचार करते हैं। बैंकों के विषय में पहले लिखा जा चुका है। यहाँ ग्रामों में बैंकों की व्यवस्था होने की बड़ी आवश्यकता है, जिससे वहाँ वालों को कम सूद पर रुपया उधार मिल सके। यदि मिश्रित पूँजी की कम्पनियों का ऐसा संगठन हो जाय कि वे गाँववालों के जेवर आदि गिरवी रखकर उन्हें महाजनों की तरह रुपया उधार दे सकें तो बहुत उत्तम हो।

देहातों में बनिए या महाजन खेती के लिए पूँजी उधार देते हैं। कभी-कभी अनुत्पादक कार्य या फजूलखर्ची के वास्ते भी उनसे ऋण ले लिया जाता है। महाजन के खिलाफ बहुत-सी बातें कही जाती हैं। इसमें संदेह नहीं कि उसकी कार्य-प्रणाली में कई दोष हैं, पर वह सर्वथा गुणहीन भी नहीं है। उसमें गुण-दोष दोनों का मिश्रण है। प्राचीन काल में महाजन ने ग्रामों के आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। कृषि के धन्धे को समय-समय पर पूँजी की आवश्यकता होती है, और महाजन ने इसकी विविध प्रकार से पूर्ति की है। वह निरा निर्दयी भी नहीं होता। पहले वह किसान की सुख-समृद्धि में ही अपना हित समझता था। पर क्रमशः स्थिति बदलती गई। सरकारी लगान जिन्स की जगह नकदी में लिया जाने लगा। विगत शताब्दी की राजनैतिक उथल-पुथल में लगान का परिमाण बहुत बढ़ गया, और उसे वसूल करने में सहृदयता का भाव कम रह गया। अन्य सरकारी कर भी बढ़ गए। उद्योग-धन्धे नष्ट हो गए। आर्थिक आवश्यकताओं और पूँजीवाद के भावों ने महाजन को लोभी बना दिया। इसके अलावा मालगुजारी और लगान चुकाने की जिम्मेवारी सब से अधिक मानी जाने से, और इसके बाद सहकारी समितियों के ऋण को मुख्य स्थान दिए जाने के कारण, महाजन को अपना रुपया डूबने का भय बना रहता है। इसलिए भी वह सूद अधिक लेने लगा,

तथा हिसाब गढ़ने और झूठा जमा-खर्च करने, आदि के दूसरे बुरे-भले उपायों से भी अपनी आय बढ़ाने लगा।

शहरों में सेठ-साहूकार जायदाद रहन करके अथवा जेवर गिरवी रखकर ऋण देते हैं। ये लोग बहुधा अपने पास रहन रखी हुई जमीन को मोल लेकर जमींदार बन गए हैं। ये कभी-कभी व्यापारियों और दस्तकारों को भी रुपया उधार देते हैं। बहुत से जमींदार, महन्त आदि भी सूद की आमदनी पैदा करते हैं।

गत वर्षों में, ऋणदाताओं में काबुली पठान का भी खास स्थान रहा है। यह सौदागरी के साथ सूदखोरी करता था। उसके शिकार अधिकतर शहरों के मज़दूर तथा हरिजन आदि होते थे। वह इन्हें एक आने, दो आने, या इस से भी अधिक फ़ी-रुपया प्रति मास सूद पर ऋण देता था, और अनेक बार सूद की रकम को मूलधन के साथ मिलाकर उसका पक्का कागज़ लिखा लेता था। उसकी रकम खूब बढ़ती रहती थी। उसका लोगों पर इतना आतंक रहता था कि वे उसका रुपया जैसे-भी-बने चुकाते रहते थे। फिर, पठान कानूनी कार्रवाई से अधिक अपने डंडे का भरोसा रखता था; मार-पीट आदि क्रूर उपाय काम में लाने में उसे कुछ संकोच नहीं होता था। अब ऐसी बातें कम हो गई हैं।

सरकार अकाल के समय बहुधा किसानों को भूमि की उन्नति करने और पशु, बीज तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ खरीदने के लिए, सन् १८८३ के एक्ट के अनुसार, 'तकावी' देती है। और इस रुपए को अच्छी फसल के अवसर पर वसूल कर लेती है। किन्तु राजकर्मचारियों का व्यवहार प्रायः अच्छा नहीं रहा। फिर, रकम भी, कृषकों की संख्या और आवश्यकता को देखते हुए, बहुत कम दी गई। अब इसमें क्रमशः सुधार हो रहा है।

**सूद की दर**—सूद की दर 'माँग और पूर्ति' के नियमानुसार निश्चित होती है। किसी स्थान में एक व्यवसाय के लिए आवश्यक

पूँजी की दर वही होगी, जिस पर पूँजीपति उतना रुपया उधार दे सकें, जितने की माँग है। किसी खास समय में भिन्न-भिन्न व्यवसायों की पूँजियों के कुल सूद की दर, सुरक्षा और जमानत आदि पर निर्भर रहती है। बहुत-से आदमी जमीन, मकान या जेवर आदि गिरवी रखकर रुपया उधार देते हैं। इसमें रुपया डूबने का डर नहीं रहता, इसलिए कुछ कम सूद पर ही संतोष कर लिया जाता है। दस्ती दस्तावेज लिखकर दिए हुए ऋण का रुपया वसूल होने में खतरा जान पड़ता है। खतरा जितना अधिक होगा, उतना ही सूद अधिक लिया जायगा। सुरक्षा या हिफाजत के विचार से कुछ आदमी अपना रुपया सरकारी अथवा सार्वजनिक संस्थाओं को उधार दे देते हैं, अथवा डाकखाने के सेविंग बैंकों में जमा कर देते हैं। इनमें सूद कम मिलता है।

देश में पूँजी अधिक होने पर सूद की दर घटती है, और कम होने पर दर बढ़ती है। अमरीका में इतना धन है कि वहाँ विविध व्यवसायों में खर्च होने पर भी बच रहता है और दूसरे देशवाले ऐसे व्यवसायी उसे सूद पर ले लेते हैं, जिन्हें अपने देश में अधिक सूद देना पड़ता है। इसके विपरीत भारतवर्ष में सूद की दर, पूँजी बहुत कम होने के कारण, अधिक है। साधारण उत्पादक के पास अपनी निजी पूँजी नहीं होती। उसे सूद की भयंकर दर पर रुपया उधार लेना पड़ता है। अनेक स्थानों में अधन्नी रुपए (प्रतिमास) का साधारण नियम है। यह सूद ३७॥) सैकड़ा सालाना पड़ता है। बहुत-से महाजन दस के बारह करते हैं। वे दस रुपए उधार देकर प्रतिमास एक-एक रुपए की किश्त तय करते हैं, जिसे वे साल-भर तक लेते रहते हैं। यदि किसी महीने में किश्त न चुकाई जाय, तो उसका सूद अलग लेते हैं। यह सूद भी बहुत अधिक बैठता है। सूद-दर-सूद (चक्रवृद्धि ब्याज से) तो कभी-कभी दो-चार साल में ही सूद की रकम असल के बराबर होकर मूल धन को दुगना कर देती है। इस दशा में किसी ऋणी का ऋण-

मुक्त होना कभी-कभी असंभव ही हो जाता है। महाजनों का रुपया मारा जाता है, वे नालिश करते फिरते हैं। इससे ऋणी की साख जाती है, पर महाजन को भी विशेष धन प्राप्त नहीं होता। उधर, ऋणी किसानों या व्यवसाइयों की साख गिर जाने के कारण, सूद की दर गिरने में बाधा होती है।

जान-माल की रक्षा, शिक्षा-प्रचार और महाजनी, तथा बैंकों के विस्तार के कारण यहाँ, गत कुछ वर्षों से, सूद की दर साधारणतः धीरे-धीरे गिरने लगी है। सहकारी-साख समितियों की स्थापना से भी इस कार्य में सहायता मिली है। तथापि अन्य अनेक औद्योगिक देशों की अपेक्षा यहाँ सूद का दर अधिक ही है। भिन्न-भिन्न स्थानों में, तथा पृथक्-पृथक् परिस्थितियों में, यहाँ किसानों और मज़दूरों से प्रायः ६० फी सदी से लेकर ३०० फी सदी तक वार्षिक सूद लिया जाता रहा है।

**युद्ध-काल में सूद की दर**—पहले कहा जा चुका है कि युद्ध-काल में सैनिक सामग्री आदि बनाने का काम बढ़ता है, इसके लिए पूँजी की आवश्यकता बढ़ जाती है। इससे सूद की दर चढ़ने की सम्भावना रहती है। फिर, युद्ध के समय पदार्थों की कीमत बढ़ने से लोगों का खर्च बढ़ जाता है, अनेक आदमियों का अपनी आमदनी से गुज़ारा नहीं हो सकता, उन्हें ऋण लेने की आवश्यकता होती है। उधर, ऋण देनेवाले साहूकार आदि ऐसे समय में रुपया उधार देने में जोखिम अधिक समझते हैं, इसलिए वे सूद अधिक लेते हैं।

युद्ध में ग्रस्त राष्ट्रों का सैनिक व्यय बढ़ जाने से उन्हें कभी-कभी अन्य देशों से भी रुपया उधार लेने की बहुत आवश्यकता हो जाती है। शत्रु-पक्ष के देशों से ऋण मिलता ही नहीं है, इससे ऋण मिलने का क्षेत्र परिमित हो जाता है; रुपया पहले के समान गतिशील नहीं होता। इसलिए कभी-कभी सरकारों को भी ऋण, अधिक सूद पर मिलता है।

**कर्ज़दारी या ऋण-ग्रस्तता**—भारतवासियों की ऋण-ग्रस्तता पर विचार करने से पहले यह जान लेना ठीक होगा कि ऋण-ग्रस्तता हमेशा

बुरी ही नहीं होती। एक समय ऐसा अवश्य था कि जब ऋण लेना बहुत बुरा समझा जाता था; कारण उस समय वे ही आदमी कर्ज़ लेते थे, जो आर्थिक दृष्टि से बहुत हीन अवस्था में होते थे। अब तो अच्छे-अच्छे धनवान और पूँजीपति भी ऋण लेते हैं; अनेक संस्थाएँ, कम्पनियाँ और सरकार तक ऋण लेती हैं; इसमें उनकी प्रतिष्ठा नहीं जाती। प्राचीन काल और आधुनिक काल के ऋण-सम्बन्धी इस भेद का रहस्य यह है कि अब आदमी अपने जीवन-निर्वाह के अलावा धन कमाने के लिए भी ऋण लेते हैं। व्यवसाय-कुशल आदमी अपनी ही पूँजी से सन्तोष न कर व्यक्तिगत या सामूहिक रूप में, अन्य व्यक्तियों या संस्थाओं से रुपया उधार लेते हैं, कल-कारखानों की स्थापना करते हैं, जिनसे कुछ समय बाद वे अपना सब ऋण चुका देते हैं, तथा धन कमाते भी हैं। इसी प्रकार अनेक देशों की सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में औद्योगिक उन्नति करने के लिए करोड़ों रुपए का ऋण लेने में संकोच नहीं करतीं। यह रुपया धीरे-धीरे चुकाया जाता है, और कुछ दशाओं में इसके लिए कई-कई दशाब्दियों तक सूद देते रहना लाभदायक समझा जाता है। इस प्रकार ऋण लेने का अच्छा या बुरा होना बहुत कुछ परिस्थिति पर निर्भर है।

यदि भारतीय कृषकों आदि की कर्जदारी को बुरा समझा जाता है, तो इसका कारण यह है कि किसान उस ऋण से अपनी आर्थिक उन्नति नहीं करता; ऋण के सूद से उसका बहुत समय तक छुटकारा नहीं होता। अनेक किसान तथा अन्य व्यक्ति ऋण के कारण दासता का जीवन बिताते हैं। प्रो० राधाकमल मुकर्जी ने इस सम्बन्ध में कहा है कि कुछ किसान पेशगी रुपया लेकर जमींदारों से समझौता कर लेते हैं और जन्म-भर उनके दास बने रहते हैं। यों तो ऐसे दास बम्बई, मद्रास आदि में भी हैं, पर बिहार और छोटा नागपुर में इनकी हालत बहुत बुरी है, वे अपने वेतन के लिए कोई शर्त पेश नहीं कर सकते; उन्हें काम मिलने की कोई गारन्टी नहीं दी जाती, और उन

पर 'नीग्रो' लोगों के जैसा कड़ा निरीक्षण रहता है। वे किसी दूसरे जमींदार के यहाँ शरण नहीं ले सकते; और, कहीं-कहीं तो उनकी खरीद-फरोख्त तक होती है। यह बात उन लोगों के सम्बन्ध में और भी अधिक लागू होती है, जिनको अपनी कुछ भी जमीन नहीं होती, जो आजीविका के साधनों से सर्वथा वंचित तथा दूसरे के ही आसरे रहते हैं।

**किसानों का कर्ज-भार**—भारतवर्ष में जनता का अधिकाँश भाग किसानों का है, अतः यहाँ की ऋण-समस्या का विचार करने के लिए उनकी कर्जदारी का विचार करना ज़रूरी है। सन् १९२८ ई० में शाही कृषि-कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था, 'ये लोग कर्ज में पैदा होते हैं, कर्ज में पलते हैं, और कर्ज में जीवन व्यतीत कर देते हैं, और आखिर में उसे अपने वंशजों के लिए विरासत में छोड़ जाते हैं।' कमीशन ने यह भी कहा था कि यह स्थिति देश की राजनैतिक व्यवस्था के लिए अच्छी नहीं है। यह होते हुए भी किसानों की कर्जदारी दूर करने के लिए कुछ गंभीर प्रयत्न नहीं किया गया।

सन् १९३० ई० तक तो यही मालूम न था कि भारतीय किसानों पर कुल ऋण-भार कितना है। उक्त वर्ष केन्द्रीय बैंकिंग-जाँच-कमेटी ने जाँच आरम्भ की, उसके साथ सहयोग करनेवाली प्रान्तीय कमेटियों ने अपने-अपने प्रांत के कर्ज के जो आंकड़े उपस्थित किए, वे अपूर्ण हैं; और अनेक दशाओं में केवल अनुमान के आधार पर होने के कारण यथेष्ट विश्वसनीय भी नहीं हैं। परन्तु अभी तक उससे अच्छा कोई अन्य हिसाब सामने नहीं आया। इसलिए उसी से काम चलाया जाता है। उसके अनुसार भारत के प्रान्तों में किसानों का ऋण लगभग ९०० करोड़ रुपए होने का अनुमान किया गया था। सन् १९३१ ई० के बाद, फसल की कीमत में कमी हो जाने के कारण यह ऋण बहुत बढ़ा है। सन् १९३९-४० से खेती की पैदावार की कीमत बढ़ी है। अब उपर्युक्त ऋण १५०० करोड़ रुपए होने का अनुमान है, प्रति

किसान ७५ रुपए से भी अधिक।

अब देशी राज्यों की बात लीजिए। इनके अंक वैसे अपूर्ण रूप में भी प्राप्त नहीं हैं, जैसे प्रान्तों के हैं। हाँ, यह सर्व-विदित है कि देशी राज्यों के गाँववालों की दशा प्रान्तों के गाँववालों की अपेक्षा, अच्छी कदापि नहीं है। यदि उनके ग्राम-ऋण को प्रान्तों के ऋण का एक तिहाई मान लें तो भारतवर्ष का कुल ग्राम-ऋण दो हज़ार करोड़ रुपए से अधिक होगा।

प्रांतीय कमेटियों ने यह मालूम करने का भी प्रयत्न किया था कि फी-सैकड़ा कितने व्यक्ति कर्जदार नहीं हैं। भिन्न-भिन्न जिलों के ऋण-मुक्त किसानों की औसत-संख्या भिन्न-भिन्न होने से यह नहीं ज्ञात होता कि वास्तव में कुल मिलाकर कितने किसान ऋण-भार से मुक्त हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार ७० प्रतिशत किसान ऋण-ग्रस्त हैं। दूसरे महायुद्ध के कारण जो मँहगाई हुई और कृषि-पदार्थों की कीमत बढ़ी, उससे किसानों की आय में वृद्धि हुई है, और ऋण की मात्रा में कमी अवश्य हुई है, तथापि अभी किसानों पर ऋण-भार बहुत है, इसमें संशय नहीं।

**कर्जदारी के कारण**—अब हम यह बतलाते हैं कि कर्जदारी के मुख्य कारण क्या हैं। ऋण का पहला कारण यह है कि देश में उद्योग-धन्धों की कमी है, और जनसंख्या क्रमशः बढ़ती जा रही है। इस प्रकार खेती के काम में अधिकाधिक आदमी लगते जा रहे हैं। एक-एक आदमी के हिस्से में भूमि बहुत कम परिमाण में आती है, उसमें खेती करने से औसत-लागत-खर्च बहुत बैठता है; आय कम होती है। आवश्यकता है कि देश में उद्योग-धन्धों की उन्नति की जाय और जनसंख्या भी यथा-सम्भव कम रहे। इन दोनों बातों के सम्बन्ध में विशेष पहले लिखा जा चुका है।

ऋण का दूसरा कारण यह है कि पंचायतों की पुरानी प्रथा न रहने से उनका ऋण-सम्बन्धी मामलों में नियंत्रण नहीं रहा। पहले

पंचायतें यह जानती थीं कि ऋण लेनेवाले और देनेवाले की स्थिति कैसी है, उनके दबाव के कारण ऋण आवश्यक कार्य के लिए ही लिया जाता था, और सूद की दर पर प्रतिबन्ध रहता था। उस समय ऋण-सम्बन्धी मामलों का निपटारा अच्छी तरह, बिना खर्च के ही हो जाता था। पीछे अदालतों की कार्रवाई बहुत जटिल और खर्चीली हो गई। अब पंचायतों की नए ढंग से स्थापना हो रही है; आशा है, इससे कर्जदारी दूर होने में भी सहायता मिलेगी।

ऋण का तीसरा कारण किसानों की साख और हैसियत कम होना, तथा उनसे ब्याज अधिक लिया जाना है। यहाँ किसानों को ज़रूरत के समय कम दर पर, यथेष्ट मात्रा में, और समुचित अवधि के लिए रुपया उधार देने की व्यवस्था नहीं है। दूसरे देशों में सरकार किसानों को नाममात्र के ब्याज पर, बड़ी-बड़ी रकमें पचास-साठ साल तक के लिए उधार देती है। भारतवर्ष में ऐसी व्यवस्था की बहुत आवश्यकता है।

किसानों की ऋण-ग्रस्तता का एक कारण खेती की अनिश्चितता भी है। फसल के लिए तीन-चार साल साधारण या अच्छे आते हैं तो एक-दो खराब भी आते हैं। अच्छे साल में ऋण कुछ कम होता है और साधारण साल में वह वैसा ही बना रहता है, तो खराब साल में वह बढ़नेवाला ठहरा। फिर किसानों की बीमारी भी ऋण को बढ़ानेवाली होती है। पशुओं के रोगों के कारण जब बैल मर जाते हैं तो किसानों को दूसरे बैल खरीदने होते हैं, और इसके लिए ऋण लेना पड़ता है।

प्रायः किसानों पर लगान का भार बहुत अधिक रहा है। उन्हें बहुधा लगान देने तथा बीज आदि खरीदने के लिए ऋण लेना पड़ता है। उनका ऋण अनेक दशाओं में पीढ़ी दर-पीढ़ी चलता रहता है। उन्हें उससे मुक्ति नहीं मिलती।

ऋण का कुछ कारण किसानों का, अनुत्पादक कार्यों के लिए

रुपया उधार लेना बताया जाता है; परन्तु यह कहाँ तक ठीक है ! प्रायः फसल तैयार होते ही, और कुछ दशाओं में उससे भी पहले, किसान पर महाजन और जमींदार या सरकार का भार लदा रहता है, और फसल में से उसके निर्वाह के वास्ते कुछ बचने नहीं पाता। इस प्रकार उसे अन्न या रुपए के रूप में ऋण लेना पड़ता है। यह ऋण अनुत्पादक कार्यों के वास्ते लिया जानेवाला नहीं कहा जा सकता; कारण, खेती करने का, किसान वैसा ही आवश्यक साधन है, जैसा बैल, हल, बीज आदि; वरन् किसान का महत्व अन्य सब साधनों की अपेक्षा अधिक है।

क्या ऋण का कारण किसानों की 'फजूलखर्ची' है ! कुछ किसान विवाह-शादी या जन्म-मरण सम्बन्धी सामाजिक रीति-व्यवहार में अपनी हैसियत से अधिक खर्च करते हैं। निस्संदेह इसमें यथा-सम्भव सुधार होने की आवश्यकता है; परन्तु मनुष्य की प्रकृति और सामाजिक आवश्यकताओं का विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि ऐसे खर्च से पूर्णतया बचा नहीं जा सकता।

**ऋण-ग्रस्त किसानों की रक्षा**—विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि किसानों की ऋण-ग्रस्तता का बहुत-कुछ उत्तरदायित्व इस देश की गत वर्षों की शासन-पद्धति पर है। अंगरेजों के शासन-काल में सरकार ने बहुत अर्से तक इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। सन् १८७४ में दक्षिण में, तथा १८९१ में अजमेर में किसानों ने कर्ज़दारी से तंग होकर हिन्सात्मक विद्रोह किया, और महाजनों की हत्या तक कर डाली। तब सरकार किसानों की दयनीय दशा पर विचार करने को बाध्य हुई। दक्षिण के उपद्रवों की जांच करने के लिए जो कमीशन बैठाया गया था, उसकी सिफारिश पर सन् १८७९ में दक्षिणी-किसान-सहायता कानून बनाया गया। इससे किसानों को विशेष लाभ न हुआ। सन् १८८२-८३ में किसानों को अपेक्षाकृत कम सूद पर तकावी-ऋण देने की व्यवस्था की गई। प्रायः किसानों ने इसका उपयोग कम ही

किया, क्योंकि ऋण थोड़ी मात्रा में, बहुत परेशानी से मिलता है, और इसकी वसूली कड़ाई से की जाती है।

सन् १६०४ में कानून बना कर सहकारी साख समितियाँ स्थापित की जाने लगीं। परन्तु ये किसानों को थोड़े समय के लिए ही ऋण देती है। इनसे उनको पुराने ऋण चुकाने की सुविधा नहीं होती। अब भूमि-बंधक बैंकों की स्थापना हो रही है, जो किसानों की भूमि गिरवी रख कर उन्हें बीस-तीस साल के लिए उचित सूद पर रुपया उधार देते हैं।

सन् १६१८ ई० में भारतीय व्यवस्थापक सभा ने एक कानून बनाया था, जिसका उद्देश्य यह था कि यदि रुपया उधार देनेवाले ने सूद की दर अधिक ठहराई हो, तो अदालतों को अधिकार हो कि वे उसे कम करके फिर से सूद का हिसाब लगवावें। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में स्थानीय परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए, महाजनों द्वारा निर्धारित की हुई सूद की दर नियन्त्रित करने के सम्बन्ध में कानून बनाए गए। इन कानूनों से किसानों को यथेष्ट लाभ नहीं होता। प्रथम तो खर्च बहुत होने के कारण अदालतों में मामले बहुत कम जाते हैं। फिर, ऐसे क़ानूनों के कारण, किसानों को महाजनों से रुपया उधार मिलना कठिन होता है। और, किसानों को रुपया मिलने की दूसरी कोई समुचित व्यवस्था है नहीं।

कुछ प्रान्तों में ऋणदाताओं के लिए लेसेन्स-कानून बनाया गया है। इसके अनुसार, लेन-देन का काम करनेवाले महाजन को सरकार से लेसेन्स लेना होता है। उसके लिए यह आवश्यक है कि वह नियमानुसार हिसाब रखे, और प्रत्येक कर्जदार को छठे महीने (या साल भर में) उसके ऋण का हिसाब लिखकर दे, तथा जब-जब कोई कर्जदार कुछ ऋण अदा करे तो उसे उसकी रसीद देवे। यह व्यवस्था अच्छी है; पर इससे लोगों की ऋण-ग्रस्तता में विशेष कमी नहीं होती।

भारतवर्ष के कुछ प्रान्तों में 'कर्ज-समझौता बोर्ड' स्थापित किए गए हैं। ये बोर्ड ऋण के मूलधन और ब्याज का विचार करते हुए, साहूकार और कर्जदार की सहमति से ऋण की ऐसी रकम निर्धारित करते हैं, जिसका दिया जाना उचित है। फिर, किसान की हैसियत, तथा आय-व्यय और बचत के लिहाज से इस रकम की किस्तें ठहरादी जाती हैं। इन बोर्डों से कृषक जनता को कुछ लाभ हो रहा है।

इस प्रकार सरकार ने गत वर्षों में किसानों को ऋण चुकाने में मदद देने के लिए कुछ व्यवस्था की, पर इससे उन्हें विशेष लाभ नहीं हुआ। इसके लिए तो उनकी आय ही बढ़नी चाहिए, इसके विविध उपायों के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है।

**किसानों की ऋण-मुक्ति**—किसानों का ऋण-भार और अधिक न बढ़े, और उन्हें सूद की चिन्ता से छुटकारा मिले, इसके लिए यह आवश्यक है कि उन्हें, पुराने ऋण से मुक्ति दिलाने के उपायों को अच्छी तरह अमल में लाया जाय। स्थूल रूप से ऐसी योजना की रूप-रेखा कुछ इस प्रकार हो सकती है—प्रत्येक प्रान्त में प्रांतीय व्यवस्थापक सभा द्वारा निर्वाचित कुछ व्यक्तियों की एक कमेटी रहे, जिसके निरीक्षण और नियंत्रण में प्रत्येक जिले के कुछ सरकारी और गैर-सरकारी अनुभवी आदमी अपने-अपने जिले के गाँवों के प्रत्येक किसान के विषय में यह मालूम करें कि उस पर कुल ऋण कितना है, उनमें कितना भाग मूल ऋण है, और कितना ब्याज; तथा ब्याज मद्दे कितनी रकम दी जा चुकी है। जिस-जिस ऋण के मूलधन या ब्याज के मद्दे कुल रकम, मूलधन के दूने के बराबर, दी जा चुकी है, वे सब ऋण पूरे तौर से चुकाए हुए समझे जायँ। शेष ऋणों की ब्याज की रकम में, और एक निर्धारित अवधि से अधिक के ऋणों के मूलधन की रकम में भी काफी कमी की जाय; और वह रकम निर्धारित की जाय, जो वास्तव में दी जानी उचित है। जो किसान इस कम की हुई रकम को न दे सकें, उनका ऋण एकदम या धीरे-धीरे चुकाने का दायित्व सरकार

अपने ऊपर ले, और किसानों से मालगुजारी के साथ छोटी-छोटी किश्तों में वसूल करे।* स्मरण रहे कि इस व्यवस्था का एक आवश्यक अंग यह है कि सरकार मालगुजारी में काफी कमी करे।

किसानों को एक बार ऋण-मुक्त कर देना ही काफी नहीं है। इस बात की भी आवश्यकता है कि ऋण-मुक्त होने के बाद किसान फिर अनुपयोगी कार्यों के लिए ऋण न लें। खेती तथा अन्य आवश्यक कामों के वास्ते उन्हें सहकारी साख समितियों से, अथवा पंचायतों द्वारा ऋण दिए जाने की व्यवस्था होनी चाहिए।

**मजदूरों के ऋण की समस्या**—मजदूरों की ऋण-ग्रस्तता, उनके ऋणी होने के कारण, तथा उन कारणों के दूर किए जाने के सम्बन्ध में कुछ बातें वही हैं, जो किसानों के विषय में ऊपर कही जा चुकी हैं। ऋण-भार की चिन्ता के कारण मजदूर का स्वास्थ्य ही नष्ट नहीं होता, उसकी कार्यक्षमता भी क्षीण होती है। ऋण चुकाने के लिए वह अपनी शक्ति के बाहर परिश्रम करता है, इससे वह बीमार पड़ता है; और ऋण-मुक्त होने के बजाय, और अधिक कर्जदार बनता जाता है। प्रायः उससे, किसान की अपेक्षा, अधिक ब्याज लिया जाता है, कारण, उसके पास भूमि या जेवर आदि कोई ऐसी सम्पत्ति नहीं होती, जिसे वह रहन या गिरवी रख सके।

मजदूरों का ऋण-भार कम करने के लिए आवश्यक है कि उन्हें वेतन मासिक के बजाय, साप्ताहिक दिया जाय, जिससे उन्हें अपने भरण-पोषण की वस्तुएँ खरीदने में सुभीता हो, और ऋण लेने की ज़रूरत कम रहे। इसके अलावा मज़दूरों की आवश्यकताओं का विचार करके उन्हें आवश्यक ऋण अच्छी शर्तों पर और साधारण ब्याज पर मिलने की सुविधा होनी चाहिए। साथ ही बहुत से धन्धों में मज़दूरी की दर बढ़ाने तथा न्यूनतम मजदूरी स्थिर की जाने की बहुत

* भावनगर राज्य ने इसी प्रकार महाजनों को इकट्ठी रकम देकर किसानों को उनके ऋण से मुक्त करने का अच्छा उदाहरण उपस्थित किया है।

आवश्यकता है। इसके लिए उनकी कार्यक्षमता बढ़ाने की भी व्यवस्था होनी चाहिए; इसके सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है।

मज़दूर-संगठनों को चाहिए कि मज़दूरों में ऐसा प्रचार करें कि वे अपनी आय का बहुत सा भाग मद्यपान आदि में न खर्च करें, किफायत से रहें, यथा-सम्भव कभी कोई चीज़ उधार न लें, और अपनी आवश्यकताओं का सामान सहकारी स्टोर आदि से लें।

**अन्य ऋण-ग्रस्तों का विचार**—किसानों और मज़दूरों के अतिरिक्त देश में और भी बहुत से आदमी ऋण ग्रस्त हैं। इनमें मध्य श्रेणी के आदमियों की दशा विशेष चिन्तनीय है। यदि ये लोग अपनी आवश्यकता कम रखें, किफायत से काम लें, दूसरों के देखा-देखी सामाजिक रीति-व्यवहार में, अथवा अपनी 'प्रतिष्ठा' बनाए रखने के भ्रम में अपनी हैसियत से अधिक खर्च न करें तो इनमें से बहुत सों का सहज ही उद्धार हो सकता है। शिक्षा-प्रचार, मितव्ययिता, बैंकों, सहकारी समितियों, और मिश्रित पूँजीवाली कम्पनियों की वृद्धि से सभी ऋण-ग्रस्तों की रक्षा में सहायता मिलेगी।

**सूद लिया जाना कहाँ तक उचित है?**—आजकल आदमी प्रायः सूद लेते हैं; इसलिए प्रायः उसके उचित होने में कोई शंका नहीं की जाती। तथापि समय-समय पर कुछ सज्जनों ने ऐसा मत प्रकट किया है कि सूद लेना उचित नहीं है। मुसलमानों के यहाँ इसकी मनाही है। समाजवादी भी सूद को अनुचित मानते हैं, इसका ज़िक्र पहले किया जा चुका है। दूसरे भी कितने ही सज्जन सूद लेने के विरुद्ध हैं। मिसाल के तौर पर श्री० किशोरलाल मश्रूवाला ने 'लोकजीवन' में कहा है—"रुपए का कोई ब्याज न होना चाहिए, क्योंकि रुपया स्वयं कुछ उत्पन्न नहीं कर सकता। रुपया औद्योगिकता को प्रोत्साहन देने का एक मात्र अथवा मुख्य साधन नहीं है, और न ही उसे बनाया जाना चाहिए।" परन्तु अगर रुपए का सूद न मिले तो कोई आदमी रुपया उधार देगा ही नहीं; और, वर्तमान दशा में बहुत

से आदमी आवश्यक पूँजी न मिलने से, अपनी आजीविका का काम भी न कर सकेंगे।

अस्तु, आवश्यकता है कि सामाजिक व्यवस्था इस तरह की हो कि साधारण तौर से आदमियों को रुपया उधार लेने की ज़रूरत न रहे; और, विशेष कार्यों के लिए रुपए का प्रबन्ध सरकार की ओर से हो। ऐसी स्थिति कब आएगी, यह नहीं कहा जा सकता। तथापि यह दृष्टिकोण विचार करने योग्य है। स्वतन्त्र भारत में इसका विचार होना चाहिए।

## अट्ठाइसवाँ अध्याय

# मुनाफ़ा

**मुनाफे का अर्थ**—किसी पदार्थ की कीमत से उसके उत्पादन का सब खर्च—कच्चे माल का मूल्य, चालक शक्ति का व्यय, यन्त्रों की घिसाई, विज्ञापन, बीमा-खर्च, लगान, मजदूरी, सूद, प्रबन्धक की कमाई* —निकाल देने पर जो शेष रहता है, वह मुनाफा है। यह साहस या जोखिम का प्रतिफल है। रेल, नहर आदि कुछ कामों की प्रारम्भिक अवस्था में मुनाफे का सहसा हिसाब नहीं लग सकता। कभी-कभी तो दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह वर्ष या इससे भी अधिक समय के आय-व्यय का हिसाब लगाने पर मुनाफे की मात्रा मालूम होती है। फिर यह भी आवश्यक नहीं कि हर एक काम में मुनाफा होवे ही। बहुतेरे कामों में हानि भी होती है। परन्तु जब हानि होती है, तो उस काम की पद्धति में परिवर्तन किया जाता है, अथवा वह बिलकुल बन्द

*प्रबन्धक या मैनेजर का कार्य धनोत्पादन में एक आवश्यक अंग है। वह अन्य श्रमजीवियों के काम की देखभाल करता है। उसकी आय को, जो बहुधा निश्चित होती और प्रति मास मिलती है, अर्थशास्त्र में मज़दूरी नहीं कहते; 'प्रबन्धक की कमाई' कहते हैं।

कर दिया जाता है; हाँ, ऐसा करने में समय लगता है।

**कुल मुनाफा**—अर्थशास्त्र की दृष्टि से मुनाफे के दो भेद हैं—कुल मुनाफा, और वास्तविक मुनाफा। कुल मुनाफे में बहुधा वास्तविक मुनाफे के अलावा (क) साहसी की निजी पूँजी का सूद, (ख) उसकी अपनी जमीन का किराया, (ग) उसके अपने श्रम की मज़दूरी, (घ) बीमे तथा घिसावट आदि का खर्च, और (च) साहसी की विशेष सुविधाओं से होनेवाला लाभ सम्मिलित है। साधारण बोलचाल में कुल मुनाफे को प्रायः मुनाफा ही कहते हैं।

कुल मुनाफे में, असली मुनाफे के अलावा जो अन्य मदें ऊपर बताई गई हैं, उन्हें जरा स्पष्ट कर देना ठीक होगा। (क) साहसी जो धंधा करता है, उसमें कुछ पूँजी उसकी भी होती है। वह चाहे तो इस पूँजी को दूसरे आदमियों को उधार देकर उसका सूद ले सकता है। (ख) अगर उसकी भूमि का उपयोग होता है, तो यह भूमि दूसरों को देकर इसका लगान लिया जा सकता है। (ग) साहसी अपने काम की देखभाल करने में जो श्रम करता है, उसकी मज़दूरी (या वेतन) का भी हिसाब लगाया जा सकता है। इस प्रकार साहसी की पूँजी, भूमि और श्रम का प्रतिफल उसके असली मुनाफे के अंश नहीं है। (घ) असली मुनाफे का हिसाब लगाने के लिए, मशीन आदि का बीमे तथा घिसावट में जो खर्च होता है, वह भी कुल मुनाफे में से निकाल देना चाहिए। (च) किसी-किसी साहसी को अपने धन्धे में एकाधिकार होता है, इससे उसका मुनाफा बढ़ जाता है। कभी-कभी साहसी को अनायास ही बहुत मुनाफा हो जाता है, जैसे युद्ध छिड़ जाने पर पदार्थों की कीमत चढ़ जाने से।

**असली मुनाफा**—कुल मुनाफे में से उपर्युक्त मदों का खर्च अलग कर देने पर जो शेष रहता है, वह असली मुनाफा है। पहले कहा जा चुका है कि असली मुनाफा साहस या जोखिम का फल होता है। कोई भी धन्धा किया जाय उसमें हानि की आशंका तो रहती है।

न-मालूम कभी कोई दुर्घटना हो जाय, कोई मशीन अचानक बिगड़ जाय, माल तैयार होने पर बाजार में उसकी माँग कम रह जाय, या उसकी कीमत गिर जाय। इस प्रकार की सम्भावना होते हुए भी साहसी अपना धन्धा चलाता है और हानि-लाभ की जोखिम उठाता है भूमि, श्रम, और पूँजी का प्रतिफल चुका कर जो शेष रहे, उसे वह स्वयं लेता है। सम्भव है, शेष कुछ न रहे, या बहुत कम रहे। इस विषय की जोखिम उठाना साहसी का काम है, और उसे मिलनेवाला प्रतिफल (असली) मुनाफा है।

**मुनाफे की कमी-बेशी के कारण**—कुल मुनाफे का कम-ज्यादा होना कई बातों पर निर्भर है—

(१) उत्पादन-व्यय जितना कम होगा, उतना ही मुनाफा अधिक रहेगा। उत्पादन-व्यय कम होने के ये तीन कारण मुख्य हैं—(क) काम करनेवालों के काम की मात्रा बढ़ जाने पर उनकी मजदूरी का पहले जैसी बना रहना। (ख) काम की मात्रा और खाने-पीने आदि की चीजों की कीमत पहले जितनी बनी रहने पर काम करनेवालों की मजदूरी की दर का घट जाना। (ग) लगान या सूद की दर कम हो जाना।

(२) मुनाफे की कमी-बेशी बहुत-कुछ कारखानेवालों की बुद्धिमानी, दूरंदेशी और प्रबंध करने की योग्यता पर भी निर्भर है। देश में अयोग्य कारखानेवालों की संख्या अधिक होने से चतुर कारखाने के मालिकों के मुनाफे की दर बढ़ जाती है। शिक्षा और कला-कौशल की वृद्धि के साथ-साथ अयोग्य कारखानेवालों की संख्या कम होती है, और चतुर कारखानेवालों की संख्या बढ़ती जाती है। इससे उनके मुनाफे की दर दिनोंदिन घटती जाती है।

(३) मुनाफे की दर कुछ विशेष सुविधाओं पर भी निर्भर रहती है—जैसे भूमि का अच्छा होना; पूँजी का सस्ता (कम ब्याज पर) मिल जाना, आबपाशी का समय पर तथा अच्छा हो जाना, नजदीक में ही

मंडी बन जाना, रेल की लाइन निकल जाना, या लड़ाई छिड़ जाना आदि।

(४) मुनाफे पर प्रतियोगिता का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिस व्यवसाय में अधिक मुनाफा होता है, उसे दूसरे व्यवसायी भी करने लगते हैं। वे उसमें अधिक पूँजी लगाकर माल कम खर्च में तैयार करने और सस्ता बेचने का प्रयत्न करते हैं। इससे पहले व्यवसायी को भी कीमत की दर घटानी पड़ती है; और, मुनाफे की मात्रा कम हो जाती है।

**भारतवर्ष में साहस का क्षेत्र**—यहाँ बहुत से आदमी, जिनके पास कुछ धन है, वे उससे कोई उत्पादन-कार्य नहीं करते। वे उसे जोड़कर रखते हैं, जेवर बनवा लेते हैं; बहुत हुआ तो वे उससे कुछ जायदाद खरीद लेते हैं, या उसे बैंक में जमा कर देते हैं। वे उससे किसी उद्योग धन्धे का काम नहीं करते; कारण उन्हें रुपया डूब जाने या नुकसान होने की आशंका रहती है। भारतवर्ष में उत्पादन-कार्य कम होने का एक मुख्य कारण यही है कि यहाँ ऐसे साहसी आदमियों की कमी है जो हानि-लाभ की जोखिम उठा कर भिन्न-भिन्न व्यवसायों को योग्यता-पूर्वक चला सकें। इसका स्पष्ट प्रमाण यही है कि यहाँ तरह-तरह की प्राकृतिक सुविधाएँ होते हुए भी यह देश उत्पादन में बहुत पिछड़ा हुआ है। अब हम इस बात का विचार करेंगे कि भारत में साहस के लिए कितना क्षेत्र पड़ा हुआ है।

**कृषि में**—यहाँ कितनी ही भूमि, बंजर या दलदल आदि ऐसी पड़ी है, जिसका कुछ उपयोग नहीं होता। साहसी आदमी उसे उपजाऊ बना सकता है। वह खेती की उन्नति के लिए नए-नए प्रयोग कर सकता है। कृषकों की संख्या अधिक, और उनके हिसाब से भूमि कम होने से यहाँ विस्तृत खेती के लिए क्षेत्र बहुत कम है; कुछ इने-गिने आदमी ही उसमें लग सकते हैं, पर वे भी इसका साहस नहीं करते। फिर, गहरी खेती के लिए तो यहाँ अनन्त क्षेत्र मौजूद है। साहसी आदमी

बढ़िया बीज, अच्छी खाद, उत्तम पशु और औजारों आदि का उपयोग करें और पैदावार बढ़ावें।

**उद्योग-धंधों में**—पहले बताया जा चुका है कि हम अपने बहुत से कच्चे पदार्थों की निर्यात कर देते हैं, विदेशों वाले उस से तरह-तरह का सामान तैयार करते हैं, और हम उनसे उसे काफी ऊँचे भाव से खरीदते हैं। क्या यह हमारे लिए अपमान की बात नहीं कि हम अपनी रुई को बाहर भेजें और उसका विदेशों द्वारा तैयार किया हुआ कपड़ा खरीदकर अपनी ज़रूरत पूरी करें। साहसी आदमियों को चाहिए कि भारतवर्ष को कपड़े में परावलम्बी न रहने दें। इसी प्रकार वे ऊनी और रेशमी वस्त्र, घड़ी, खिलौने, खेल का सामान, लोहे तथा चीनी मिट्टी का सामान, जूते, कागज, लिखने-पढ़ने का सामान, तरह-तरह के औज़ार तथा अन्य अनेक वस्तुएँ बना कर भारतवर्ष को औद्योगिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाने का बीड़ा उठावें।

**व्यापार में**—पहले कहा गया है कि हमारा विदेशी व्यापार अधिकांश में विदेशी कम्पनियों द्वारा, विदेशी जहाजों में, विदेशी बैंकों की सहायता से होता है। ऐसा कब तक होता रहेगा? साहसी आदमियों की बहुत आवश्यकता है, जो इस स्थिति में आमूल परिवर्तन करदें। हमारे देशी कारोबार में साहसियों की बहुत आवश्यकता है। उदाहरण के तौर पर यहाँ किसान, कारीगर, छोटे व्यापारी, बड़े व्यापारी और उद्योगपतियों के लिए आवश्यकतानुसार तरह-तरह की साख का प्रबन्ध करनेवाले काफी बैंक होने चाहिएँ। साहसी व्यक्तियों के वास्ते अनन्त क्षेत्र है।

इसी प्रकार रेल, मोटर, हवाई जहाज, आदि के अनेक काम हैं। अब तक देश पराधीन था, और भारतीय साहसियों को बहुत सी सुविधाओं से वंचित रहना पड़ता था। अब अपनी सरकार है। देश-प्रेमी साहसी उसके साथ सहयोग कर देशोन्नति में सहायक हों।

अब हम भारतीय जनता की कुछ अलग-अलग श्रेणियों के मुनाफे का विचार करते हैं।

**किसानों का मुनाफा**—भारतवर्ष में कृषि-कार्य की अधिकता है। बहुत से आदमी अपनी भूमि पर अपनी ही मेहनत तथा पूँजी से कुछ पैदा कर लेते हैं। इस दशा में लगान, मज़दूरी, सूद, और 'प्रबंधक की कमाई' से साहस का फल अर्थात् मुनाफा अलग प्रतीत नहीं होता। बहुत-से भारतीय किसानों को लाभ बहुत कम होता है। खासकर जिनके खेत छोटे-छोटे और दूर-दूर हैं, अथवा गैर-मोरूसी या शिकमी-दर-शिकमी हैं, उन्हें तो बहुधा बिलकुल ही मुनाफा नहीं होता। पर उन बेचारों को खेती का काम छोड़कर कोई दूसरा लाभकारी कार्य करने की सुविधाएँ नहीं होतीं। इसलिए वे वर्षों और बहुधा पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक बिना मुनाफे ही कृषि-कार्य करते रहते हैं, जिसमें उन्हें अपने श्रम की मामूली-सी मजदूरी तो मिल सके।

**कारीगरों का मुनाफा**—पहले छोटी मात्रा की उत्पत्ति की दशा में बहुत से कारीगर अपनी-अपनी पूँजी से स्वतंत्र कार्य करते थे। उसके ये स्वयं ही निरीक्षक या व्यवस्थापक भी होते थे। कुछ बड़े-बड़े नगरों में पूँजीपति, कारीगरों को रुपया उधार देते और बदले में उनका माल खरीदते या अपनी इच्छानुसार माल बनवालेते थे। इस प्रकार इसमें कारीगरों को कभी-कभी अच्छा मुनाफा हो जाता था। आजकल मशीनों के माल की खपत बढ़ जाने से स्वतंत्र कारीगरों का महत्व कम हो गया है। वे प्रायः अपने माल को स्वयं बेचते हैं। उसके कच्चे सामान की लागत तथा उसमें लगी हुई पूँजी का सूद और श्रम की मज़दूरी बाद देकर जो कुछ बचता है, वही उनका मुनाफा है। हमारे बहुत से कारीगर किसी साहूकार के ऋणी होते हैं, अथवा उससे कच्चा माल लेकर काम करते हैं। इन्हें अपना तैयार माल प्रायः उसी के हाथ और बहुत-कुछ उसके द्वारा ही ठहराए हुए भाव से बेचना होता है। इस दशा में इन्हें मुनाफा बहुत कम होता है, या बिल्कुल नहीं होता; उनकी मजदूरी

निकल आवे, यही बहुत है।

**साहूकार का मुनाफा**—यहाँ महाजन या बनिए किसानों को रुपया उधार देते हैं, और उसके बदले में, फसल तैयार होने के समय, बाजार से कुछ सस्ते भाव पर, अन्न आदि लेते हैं। इसी में उनका सूद भी आजाता है। बहुधा ऐसा भी होता है कि ऋण देते समय ही पदार्थ का वह भाव ठहर जाता है, जिस पर किसान अपना माल महाजनों को बेचें। इस माल को महाजन अपने यहाँ जमा रखते हैं, और फसल के बाद जब उसका भाव चढ़ जाता है, तब धीरे-धीरे बेचते हैं। ग़रीब किसान अपनी खेती सम्बन्धी आवश्यकताओं या विवाह सगाई आदि की रीति-रस्मों के वास्ते और सरकारी लगान आदि चुकाने के लिए, प्रायः इतना माल बेच डालते हैं कि कुछ समय के बाद स्वयं उन्हीं को कुछ माल बनिए से, महँगे भाव पर खरीदना पड़ जाता है। अस्तु, इस क्रय-विक्रय से महाजन को काफी मुनाफा होता है।

कुछ साहूकार कारीगरों को रुपया उधार देकर उनका तैयार किया हुआ माल बाजार-भाव से सस्ते भाव पर खरीद लेते हैं। कुछ दशाओं में ऋण देते समय ही वे कारीगर से उसके बनाए जाने वाले पदार्थ का भाव तय कर लेते हैं। सस्ते भाव से लिए हुए माल को अच्छे दामों पर बेच कर साहूकार यथेष्ट मुनाफा लेता है।

**दुकानदारों का मुनाफा**—'देशी व्यापार' शीर्षक अध्याय में यह बताया जा चुका है कि यहाँ अधिकाँश दुकानदार अपनी वस्तुओं की कीमत निर्धारित करके नहीं रखते, वे ग्राहक को देखकर कीमत बताते हैं। उदाहरण के लिए उसी वस्तु के एक आदमी से छः आने, दूसरे से सात आने और तीसरे से आठ आने या इससे भी अधिक माँग लेते हैं, और फिर, जैसा जिस ग्राहक से तय हो जाय, वैसा दाम लेलेते हैं। यह वस्तु वास्तव में पाँच आने या इससे भी कम होती है, इसके विषय में ग्राहक की जानकारी जितनी कम होती है, दुकानदार का मुनाफा उतना ही अधिक होता है। इस प्रकार, जब बाजार में कोई नई वस्तु बिकने

आती है, तो क्योंकि उसकी लागत से अधिकांश ग्राहक अपरिचित होते हैं, इसके बेचनेवाले को लाभ अधिक होने की सम्भावना होती है। इस प्रकार भारतवर्ष में अधिकाँश दुकानदार जितना माल बेचते हैं, उसके अनुपात से, उनका औसत मुनाफा काफी होता है; परन्तु यहाँ सर्वसाधारण के प्रायः निर्धन होने के कारण, पदार्थों की बिक्री का परिमाण कम होने से, बहुधा दुकानदारों का कुल मुनाफा मामूली ही रहता है। [खेद है कि बहुत से दुकानदार मुनाफे के लिए विदेशी, खराब, स्वास्थ्य-नाशक, मादक तथा उत्तेजक पदार्थों को बेचने में संकोच नहीं करते।]

**आढ़तियों का मुनाफा**—भारतवर्ष में बड़े-बड़े आढ़तिए प्रायः रुई, सन, अनाज या कुछ अन्य पदार्थों का व्यापार करते हैं। इनका काम बनियों या बड़े-बड़े किसानों से, फसल के अवसर पर, माल लेकर बड़ी मंडियों अथवा बन्दरगाहों में भेज देना होता है। ये बम्बई, कलकत्ता, मदरास, आदि के निर्यात करनेवाले सौदागरों से पहले ही यह तय कर लेते हैं कि अमुक समय पर इतना माल इस भाव पर उन्हें देंगे। ये लोग अपने कारोबार में काफी चतुर होते हैं, और बहुधा किसानों या दुकानदारों के भोलेपन या नासमझी से अनुचित लाभ भी उठाते हैं। भारतवर्ष के दूसरे लोगों की तुलना में इनका मुनाफा काफी अधिक रहता है।

**आयात-निर्यात करनेवालों का मुनाफा**—भारतवर्ष के आयात-निर्यात करनेवाले कुछ बड़े-बड़े सौदागर हरेक प्रांत में हैं। ये संसार की मुख्य-मुख्य मंडियों से बराबर तार द्वारा बाजार-भाव का समाचार मँगाते रहते हैं। इसलिए जब विदेशों में किसी ऐसी चीज का भाव चढ़ता है, जो भारतवर्ष से जाती हो, या ऐसी चीज का भाव उतरता है, जो भारतवर्ष में आती हो, तो अधिकाँश मुनाफा इन्हीं सौदागरों को होता है। [भारतवर्ष के उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं को अकसर बहुत समय पीछे विदेशों के भाव का पता लगता है।]

**पुस्तक-प्रकाशकों का मुनाफा**—देशी भाषाओं के अधिकांश लेखक अपने श्रम का प्रतिफल पाने के लिए बेहद आतुर रहते हैं। वे प्रकाशकों की मनचाही शर्तों को स्वीकार कर लेते हैं। हमारे देखते-देखते कई प्रकाशक साधारण पूँजी से काम शुरू करके अब बड़े पूँजीपति हो गए हैं। उनकी बढ़ी हुई पूँजी का कुछ भाग अवश्य ही उनके भारी साहस या जोखिम, तथा पूँजी के सूद आदि का फल है; तो भी उसका बड़ा हिस्सा उन लेखकों के परिश्रम का फल है, जिन्हें बाजार-दर से दाम चुकाए जाने पर भी यथेष्ट प्रतिफल नहीं मिला है। हाँ, सभी लेखक ऐसे नहीं, जो चुपचाप प्रकाशकों की सब बातें शिरोधार्य कर लें, अथवा एक हो बार कुछ प्रतिफल लेकर उन्हें अपनी रचना के प्रकाशन का पूर्ण अधिकार दे दें। साथ ही, कुछ प्रकाशक ऐसे भी हैं, जो लाभ होने पर निर्धन और संकट-ग्रस्त लेखकों का समुचित आदर-मान करने तथा साहित्य के नए-नए अंगों की पूर्ति करने से पीछे नहीं हटते।

पिछले वर्षों में जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने, तथा सरल और जल्दी हजम होनेवाला साहित्य बाजार में अधिक परिमाण में आने तथा बिकने के कारण अच्छी और गम्भीर विषयों की पुस्तकों की खपत कम रही है। इसलिए उनके प्रकाशकों का मुनाफा भी कम रहने वाला ठहरा। 'देशी व्यापार' शीर्षक अध्याय में यह बताया जा चुका है कि कुछ प्रकाशकों ने पुस्तकों की कीमत तथा कमीशन की दर बहुत अधिक बढ़ा दी है, दलालों की संख्या बढ़ गई है, और मुनाफा बहुत अधिक होने पर भी वह कई व्यक्तियों में बँट जाता है; किसी एक व्यक्ति को बहुत अधिक मुनाफा नहीं होता।

**कल-कारखाने वालों का मुनाफा**—इनके मुनाफे की मात्रा खूब होती है। मजदूरों को बहुधा साधारण वेतन पर कार्य करना होता है। यदि मजदूर कभी हड़ताल भी करें तो पूँजीपति भूखे नहीं मरेंगे, पर बेचारे मजदूरों के पास इतना पैसा कहाँ कि बेकार रहकर

बाल-बच्चों-सहित मजे में खाते-पीते रहें। इसलिए उनका कष्ट बहुत अधिक होता है। कारखानेवाले अपनी शक्ति या प्रभाव बढ़ाने, तथा सुसंगठित होने के लिए समितियाँ बना लेते हैं। वे सदा यही सोचा करते हैं कि अधिकाधिक मुनाफा पावें और धनी बनें। पर अब मज़दूर भी जोर पकड़ रहे हैं। फिर, युग-संदेश यह है कि कारखाने वाले मनमाना मुनाफा न लें, मजदूरों के साथ न्याय हो। मजदूरों के न्यूनतम वेतन की बात छब्बीसवें अध्याय में, तथा मुनाफे में साझे की बात आठवें अध्याय में, कही जा चुकी है।

**युद्ध और मुनाफा**—पहले बताया जा चुका है कि युद्ध-काल में पदार्थों की कीमत बढ़ जाती है। इसका एक मुख्य कारण यह होता है कि व्यापारियों की इच्छा बहुत अधिक लाभ कमाने की रहती है। इसके लिए वे अपने माल के स्टाक को छुपा कर रख लेते हैं, और बाजार में पदार्थों की कमी को कृत्रिम रूप से बढ़ा देते हैं। सरकार इसे यथा-सम्भव रोकने का प्रयत्न करती है, फिर भी कुछ व्यापारी उसकी पकड़ में नहीं आते। वे अपना माल धीरे-धीरे निकाल कर चढ़े हुए दाम पर बेचते हैं। यद्यपि युद्ध-काल में सरकार द्वारा कीमत नियंत्रित कर दी जाती है; अनेक व्यापारी इसकी अवहेलना कर पदार्थों को अधिक-से-अधिक मुनाफा लेकर बेचते हैं। कल-कारखाने वालों की तो युद्ध में खूब चाँदी होती है। यद्यपि सरकार उनके बढ़े हुए मुनाफे पर कभी-कभी सत्तर-अस्सी फीसदी तक 'अतिरिक्त-मुनाफा-कर' ( 'एक्सेस प्राफिट टेक्स' ) लगा देती है, तथापि उन्हें कुछ दशाओं में मुनाफे की काफी आमदनी हो जाती है।

यही नहीं कि व्यापारी या कल-कारखाने वाले युद्ध से उत्पन्न स्थिति में खूब मुनाफा कमाते है, अनेक बार मुनाफे के लिए ही युद्ध शुरू कराए जाते हैं। इसमें विशेष भाग उन कल-कारखानों के मालिकों का होता है, जो युद्ध-सामग्री—तोप, बन्दूक, हवाई जहाज, मशीनगन, टैंक आदि—बनाते हैं। प्रथम महायुद्ध के बाद अमरीका और इङ्गलैंड आदि

के कई एक ऐसे कारखानों का पता लगा था जिन्होंने मुनाफा कमाने के लिए गौण रूप से युद्ध को प्रोत्साहन दिया था। इस प्रकार युद्ध आरम्भ होने तथा जारी रहने में व्यापारियों की मुनाफा कमाने की प्रवृत्ति का बड़ा भाग है। आवश्यकता है कि व्यापारी लोकहित या समाज-सेवा का काफी ध्यान रखें।

**मुनाफे का नियन्त्रण**—इस अध्याय में यह कहा गया है कि कल-कारखानेवालों का तथा आयात-निर्यात करनेवालों का मुनाफा प्रायः बहुत होता है। अनेक दुकानदार भी चीज़ों के दाम निर्धारित करने में बड़ी मनमानी करते हैं, अथवा ग्राहक को देखकर, एक चीज के भिन्न-भिन्न दाम लेते हैं। समाज-हित के लिए इसका नियन्त्रण होना आवश्यक ही है। सरकार कुछ दशाओं में तो मुनाफे का नियंत्रण करती भी है। उदाहरण के लिए बहुत से स्थानों में सरकार पाठ्य-पुस्तकों का मूल्य निर्धारित कर देती है, अथवा ऐसा नियम बना देती है कि उनकी कीमत प्रति रुपया इतने पृष्ठ के हिसाब से रखी जाय। इस प्रकार इन पुस्तकों में मुनाफा बहुत नियन्त्रित रहता है।

कल-कारखानों अथवा मिश्रित पूँजीवाले कंपनियों के मुनाफे को नियन्त्रित करने की विधि यह है कि निर्धारित प्रतिशत से अधिक मुनाफा होने की दशा में सरकार उन पर ऐसा अतिरिक्त-कर लगा दे, जो मुनाफे की वृद्धि के साथ-साथ बढ़ता जाय। इस प्रकार सरकार मुनाफे में से खासा भाग ले लेती है।

ऐसा भी हो सकता है कि मुनाफे का नियन्त्रण, बिना सरकारी कार्रवाई के ही हो जाय। कहीं-कहीं कारखाने के मालिक और मजदूर आपस में यह निश्चय कर लेते हैं कि फी-सदी अमुक मुनाफे से अधिक जितना मुनाफा होगा, वह सब, या उसका निर्धारित अंश मजदूरों को बाँट दिया जायगा। इससे मजदूरों का उत्साह बढ़ जाता है, उनकी मेहनत और अधिक उत्पादक हो जाती है, और मुनाफा भी अधिक होने लगता है। यह अधिक मुनाफा मजदूरों के अधिक दिल लगाकर

काम करने का फल होता है। इसे मजदूरों को देने से पूंजीवालों की हानि नहीं होती; उलटा, उनका और मजदूरों का सम्बन्ध दृढ़ हो जाता है।

ये, मुनाफे के नियन्त्रण के थोड़े-से उदाहरण हुए, जिनका सम्बन्ध देश के थोड़े से ही आदमियों से है। मुनाफा लेनेवालों की कुल संख्या तो कहीं बड़ी है। उन सब के मुनाफे का नियन्त्रण किस प्रकार हो? समस्या बहुत जटिल है।

पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ यह बताया जाता है कि अब से सवा दो हजार वर्ष पूर्व मौर्य-काल में यहाँ क्या व्यवस्था थी। आचार्य कौटल्य के विचार से व्यवसाय द्वारा अपरिमित या बेहद मुनाफा लेना और धनवान बनना चोरी और डकैती के बराबर था। इसलिए उसने व्यवसाइयों को 'चोर न कहे जानेवाले, चोर' कहा है। वह तैयार वस्तुओं की बिक्री से होनेवाला लाभ साधारण तौर से उनकी लागत का पाँच प्रति-सैकड़ा निश्चित करता है। कुछ दशाओं में वह इसका परिमाण दस प्रति-सैकड़ा तक उचित समझता है। व्यापारी निश्चित मुनाफे से अधिक न लें, इसके लिए उसने कई नियम बनाए हैं; उदाहरण के लिए उसका आदेश है कि शुल्काध्यक्ष शुल्क अर्थात् चुंगी वसूल करने के पदार्थों के परिमाण और गुण का निरीक्षण करे, और प्रत्येक पदार्थ की कीमत निश्चित की जाय। इस कीमत को व्यापारी गुप्त न रखे, वह इसकी घोषणा करे। इस दशा में वह मनमाना मुनाफा ले ही नहीं सकता था।*

अब अधिक-से-अधिक मुनाफा लेना व्यवसाय-कुशलता का लक्षण माना जाता है; स्वतन्त्रता के नाम पर, व्यापार में किए जानेवाले सरकारी हस्तक्षेप का विरोध होता है तथापि लोकहित के लिए मुनाफे का नियन्त्रण है बहुत उपयोगी। जहाँ बहुत आवश्यक हो, इसके लिए कानून का आश्रय लिया जाय। अच्छा तो यह है कि लोकमत ही ऐसा

* हमारे 'कौटिल्य के आर्थिक विचार' के आधार पर।

हो जाय कि आदमी साधारण मुनाफे से संतोष किया करें। आजकल उपभोग के पदार्थों की संख्या बहुत अधिक होने से, सब वस्तुओं के लिए मुनाफे की दर एक-सा निर्धारित करना उचित न होगा, तथापि यह सहज ही मालूम हो सकता है कि सर्वसाधारण की दृष्टि से किस वस्तु पर अधिक-से-अधिक कहाँ तक मुनाफा लिया जाना ठीक है; जो व्यक्ति उस सीमा का उल्लंघन करे, वह समाज में निन्दा-योग्य माना जाना चाहिए।

**मुनाफा और आदर्श**—सूद के अध्याय में यह कहा गया है कि अन्यान्य लोगों में समाजवादियों के मत से समस्त सम्पत्ति के हकदार मजदूर हैं; पूँजीपतियों की पूँजी उनकी लूट का फल है। समाजवादी मुनाफे को व्यवसाइयों की लूट कहते हैं। परन्तु वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था में मुनाफे का महत्वपूर्ण भाग है। साधारणतया मुनाफे के अभाव में आदमी साहस क्यों करने लगा, और बिना साहस मुनाफा कहाँ! आजकल आदमी जितने व्यवसाय करता है, सब में उसका उद्देश्य मुनाफा प्राप्त करना रहता है। पर क्या किसी कार्य की उपयोगिता की कसोटी उस कार्य से मिलनेवाला द्रव्य है, और उपयोगिता का माप मुनाफे के अनुसार समझा जाना उचित है? क्या मानव जीवन की उपयोगिता केवल यह है कि किसी भी प्रकार मुनाफे के रूप में द्रव्य संग्रह किया जाय?

हमने पहले कहा है कि वास्तविक मुनाफा साहस का फल है। कभी-कभी कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण मुनाफे का परिमाण बहुत बढ़ जाता है। साहसी को खासकर ऐसे अवसर पर उपभोक्ताओं के हित की अवहेलना न करनी चाहिए। साहसी के जीवन का उद्देश्य मुनाफा कमाना नहीं, सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति या लोक-हित करना, होना चाहिए।

———

## उनतीसवाँ अध्याय

# वितरण और असमानता

**समानता का युग**—पहले, प्राचीन काल में जबकि मनुष्य-समाज शिशु-अवस्था में था, समानता का विचित्र युग था; गरीब और अमीर का, किसान और ज़मींदार का, या मजदूर और पूँजीपति का कोई भेद-भाव न था। लोगों में स्वामित्व और मिलकियत का विचार न था। आदमी अपनी आवश्यकता के अनुसार भूमि जोतते और उसकी पैदावार का उपभोग करते थे; जमींदार का उसमें कोई दखल न था; जमींदार उस समय था ही नहीं। दस्तकार और कारीगर अपने हाथों से वस्तुएँ तैयार करते, और उनके बदले में अपनी आवश्यकताओं के पदार्थ दूसरों से ले लेते। अपने काम लायक साधारण पूँजी उनके पास होती थी; उनके लिए वे किसी पूँजीपति का आसरा नहीं ताकते थे।

**असमानता का जन्म और वृद्धि**—धीरे-धीरे परिस्थिति बदली। आबादी बढ़ी, सभ्यता का विकास हुआ, जरूरतें बढ़ीं, लोगों में स्वामित्व का भाव आया। जिसका जहाँ तक वश चला, उसने उतनी भूमि पर अधिकार कर लिया, वह उसका स्वामी बन बैठा। जिस किसी ने 'भूस्वामी' से जोतने बोने के लिए जमीन ली, उससे लगान लिया जाने लगा। 'भूमिपति' को घर-बैठे आमदनी होने लगी और किसान को पसीना बहाने पर भी काफी भोजन वस्त्र मिलने का निश्चय न रहा। यह कृषि सम्बन्धी उत्पादन की बात हुई। कुछ इसी प्रकार का परिवर्तन उद्योग-धंधों में हुआ। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होने और मशीन या यन्त्रों का उपयोग होने की दशा में दस्तकारियों का ह्रास हो गया, कल-कारखाने वाले ही उत्पन्न माल के अधिकारी होने लगे, मजदूर

दिनभर कड़ी मेहनत करने पर भी मामूली मजदूरी पानेवाले रह गए। सब मुनाफा पूँजीपतियों की जेब में आने लगा। इस प्रकार सम्पत्ति का वितरण असमान रूप से होने लगा। इस समय 'उन्नत' देशों में एक ओर तो मुट्ठी भर आदमी पूँजीपति हैं, जिन्हें यही चिन्ता रहती है कि इतने धन का क्या करें; दूसरी ओर, उनके लाखों करोड़ों देशबन्धु घोर परिश्रम करने पर भी अपनी शारीरिक आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर पाते।

आर्थिक विषमता भारतवर्ष में भी है, और बढ़ती जा रही है। तनिक विचार कीजिए कि जमींदार, महाजन, कल-कारखाने के मालिक और उच्च राजकर्मचारियों आदि का जीवन कैसा है, जमीन-आसमान का अन्तर है। एक ओर मुट्ठी-भर राजा महाराजाओं, वायसराय और गवर्नरों तथा कुछ पूँजीपतियों के इन्द्रभवन हैं, दूसरी ओर असंख्य लोगों की घास-फूस की टूटी-फूटी झोपड़ी है, या उनका भी अभाव है। एक ओर कुछ धनवान तरह-तरह के पकवानों का इतना उपभोग करते हैं कि उन्हें प्रायः बदहज्मी का रोग रहता है। दूसरी ओर उनकी जूठन को उठाने वाले गरीब आदमी आपस में तथा चील कव्वों और कुत्तों से संघर्ष लेते हैं। कुछ आदमी दिन में कई-कई बार अपनी पोशाक बदलते हैं, दूसरी ओर लाखों आदमी दिगम्बर-भेष वाले हैं, और अर्द्ध-नग्नों की तो कुछ सीमा ही नहीं। कहाँ तक लिखें, पाठक स्वयं विचार करलें।

**मजदूरी से पूँजी और राज्य का झगड़ा**—इस युग में किसानों और जमींदारों का, तथा मजदूरों और पूँजीपतियों का झगड़ा मुख्य है। भारतवर्ष कुछ समय से कृषि-प्रधान है, इसलिए यहाँ आर्थिक विषमता बहुत-कुछ किसानों और बड़े जमींदारों में मिलती रही है। अब जमींदारी प्रथा हट रही है। और, इधर कल-कारखानों का विस्तार हो रहा है। इससे मजदूरों और पूँजीपतियों का भी संघर्ष बढ़ता जा रहा है। उन्नत औद्योगिक देश में तो मजदूरी और पूँजी

का ही झगड़ा प्रमुख होता है। प्रत्येक अपने को उत्पन्न धन में से अधिक-से-अधिक का अधिकारी मानता है। राज्य की सहानुभूति बहुधा पूँजी के साथ होती है, इसलिए वह भी इस झगड़े में शामिल हो जाता है। इनमें से प्रत्येक का दावा संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है ❀—

मजदूर कहता है—"सब धन मैं पैदा करता हूँ। शरीर ( और दिमाग ) को पूरी तरह थका देने पर भी मुझे और मेरे कुटुम्ब को खाने-पहनने के लिए, काफी धन नहीं मिलता। मेरे परिश्रम से पूँजी-पति मौज उड़ाता है। मेरी ही बदौलत उसे देश के कानून बनाने का अधिकार मिला है, और वह ऐसे कानून बनाता रहता है जिससे वह तो अधिकाधिक सुखी हो, और मैं ज्यादह-ज्यादह दुखी होता जाऊँ। कारखाने का बनानेवाला असल में मैं हूँ। यह ठीक है कि पूँजीपति ने उसमें बड़े-बड़े वैज्ञानिक लगाए हैं, परन्तु, उसे उनको वेतन देकर रखने की शक्ति भी तो मुझसे ही मिली है। उन वैज्ञानिकों के दिमाग से निकली हुई बातों को अमल में मैं ही लाता हूँ। तभी व्यवसाय में सफलता होती है। फिर भी मैं भूखा मरता हूँ, मेरी मानसिक उन्नति नहीं होने पाती। मैं भी अपने देश का वैसा ही नागरिक हूँ, जैसा पूँजीपति। पूँजीपति राज्य को ऐसे कार्य में क्यों सहायता देता है, जिससे मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार मारा जाता है! क्या मैं देश के धनोत्पादन में दिन-रात पसीना नहीं बहाता!"

उधर पूँजीपति कहता है—"मेरे कारखाने में शारीरिक कार्य सब से घटिया दर्जे का काम है, और मैं उसका वैसा ही प्रतिफल (मजदूरी) दे देता हूँ। मजदूरों की सहायता से बने हुए माल के लिए उपयुक्त मंडी मैं ही तलाश करके उसे वहाँ ले जाता हूँ। (पूँजीपति यहाँ यह भूल जाता है कि माल लेजाने के लिए रेल, जहाज आदि सब साधन

❀"A Review of the Political Situation in Central Asia" के आधार पर।

मजदूरों के सहयोग से ही चलते हैं )। मैं वैज्ञानिकों को अपने काम में लगाता हूँ। मैं पहले मजदूरों की मजदूरी चुकाता हूँ, उसके बाद मुनाफा मेरी जेब में आता है। बाजार के उतार-चढ़ाव, संसार की बड़ी-बड़ी घटनाओं, स्वदेश या विदेश की माँग, नए फेशन और नई आवश्यकताओं आदि के कारण मुझे मुनाफा मिलता है। इसमें मजदूर कुछ नहीं करते। इसलिए उन्हें मेरे लाभ का कोई हिस्सा पाने का क्या अधिकार! फिर भी मैं समय-समय पर उनकी मजदूरी बढ़ाता रहता हूँ। लेकिन उनकी माँग हद से ज्यादा बढ़ी हुई है। मैं जितना ही ज्यादा दबता हूँ, उतना ही वे हड़ताल की धमकी अधिक देते हैं। मजदूरों के नेता शांति से विचार करें। उनकी उचित शिकायतें सुनने और उन्हें दूर करने को मैं सदा तैयार हूँ। लेकिन वे वृथा ही मुझ से द्वेष करें, तो इसका क्या इलाज !"

और, अब राज्य कहता है—"हमने मजदूरों के काम करने के घंटे कम कर दिए हैं। उनके संघों और सम्मेलनों के संगठित होने की अनुमति दे दी है। उनकी स्त्रियों और बच्चों की सुविधा के नियम बना दिए हैं। मजदूरी की उचित दर निश्चत कर दी है। उन्हें दुर्घटनाओं से बचाने के लिए कानून भी बना दिए हैं, व्यवस्थापक सभाओं में उनके प्रतिनिधि ले लिए हैं। परन्तु हम पूँजीपतियों को इस बात के लिए मजबूर नहीं कर सकते कि वे उन्हें मुनाफे में अधिक हिस्सा दें। राज्य का आधार देश का धन है। जब धन थोड़े-से आदमियों के हाथ में होता है, तो उससे बड़े-बड़े काम आसानी से हो सकते हैं। अगर देश का धन असंख्य जनता में बँटा हुआ हो तो बड़े-बड़े काम करने में उतनी सुविधा नहीं होती। पूँजीपतियों के रहने में ही राज्य और देश को सुख है। इसलिए हमारा पूँजीपतियों से घनिष्ठ सम्बन्ध होने में मजदूरों को बुरा न मानना चाहिए।"

मज़दूर, पूँजीपति और राज्य के उपयुक्त कथन में कहाँ तक सचाई है, इस विषय में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में कुछ मत-भेद हो सकता

है। पर इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि आर्थिक असमानता बहुत हानिकर है।

**असमानता से हानि**—आर्थिक विषमता से बहुत सी हानियाँ हैं—(१) इसके कारण गरीब आदमी अपने आपको राज्य के लिए यथेष्ट उपयोगी नहीं बना पाते; उनका अधिकांश समय अपने जीवन-निर्वाह की चिन्ता में ही व्यतीत होता है। (२) अमीर या पैसे वाले आदमी गरीबों का शोषण करते हैं, और दोनों श्रेणियों में संघर्ष और द्वेष-भाव रहता है। कुछ धनवान व्यक्ति गरीबों पर दया करके उनकी सहायता या कुछ दान-धर्म आदि करते हैं। पर कुल मिलाकर वह बहुत सीमित ही होता है, और उससे समस्या हल नहीं होती। (३) प्रायः धनवान व्यक्ति शासन-यंत्र पर अनुचित प्रभाव डाल कर मनमाने कानून बनवा लेते हैं। राज्य-पद्धति दूषित हो जाती है, वह लोकहितकर नहीं रहती। इससे अन्त में विद्रोह और क्रान्ति होकर रहती है, जिसमें धन-जन आदि का भयंकर विनाश होता है।

**असमानता के कारण**—असमानता के खासकर दो कारण होते हैं—प्रकृति और परिस्थिति। कल्पना करो एक आदमी जन्म से अंधा है, या लँगड़ा लूला है, या उसके दिमाग में कोई खास विकार है। ऐसा आदमी तन्दुरुस्त और हृष्ट-पुष्ट आदमी से बराबरी नहीं कर सकता। इन दोनों में प्राकृतिक या कुदरती असमानता है। इसे दूर करने में विशेष सफलता नहीं मिल सकती।

अब दूसरे प्रकार की असमानता का विचार करें। एक आदमी गरीब और निम्न श्रेणी के परिवार में पैदा होने के कारण यथेष्ट शिक्षा नहीं पा सका; उसके पास ऐसी पैत्रिक सम्पत्ति नहीं, जिससे वह कोई अच्छा कारोबार चला सके। अपनी आजीविका के लिए उसे मामूली नौकरी करने को मजबूर होना पड़ता है। दूसरी ओर अमीर खानदान का आदमी आसानी से उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकता है, और अपनी पूँजी के बल पर कोई कारखाना आदि स्थापित करके बहुत से नौकर

रख सकता है। इन दोनों आदमियों में जो असमानता है वह उनकी परिस्थितियों की भिन्नता के कारण है। इसे दूर करना समाज और राज्य का कर्तव्य है।

**प्राचीन व्यवस्था**—आर्थिक असमानता दूर करने के आंदोलन आजकल क्यों इतने तीव्र होते जाते हैं, और पहले क्यों नहीं उठते थे? इसका एक कारण तो यही है कि गृह-शिल्प या छोटी-छोटी दस्तकारियों की दशा में, धन के वितरण में उतनी असमानता नहीं होती, जितनी आधुनिक बड़ी मात्रा की उत्पत्ति वाले कल-कारखानों में। दूसरा कारण यह मालूम होता है कि पहले पूँजीपतियों और निर्धनों की एक-दूसरे के विरुद्ध दलबन्दी नहीं थी, वरन् एक बड़े परिवार के सदस्यों की भाँति वे आपस में यथेष्ट सहानुभूति और प्रेम रखते थे। धनिकों को अपने धन का अभिमान नहीं था। वे अपने धन को सर्वसाधारण के उपयोग में लगाते थे। उनके बगीचे, पुस्तकालय, अजायबघर, विश्राम शालाएँ आदि सबके लिए खुली थीं।

**भारत का विचार**—भारतवर्ष की ही बात लीजिए। रामायण में बड़े बड़े नगर, लम्बे-चौड़े बाजार, बहुत कीमती जेवर, तथा पुष्पक विमान आदि का वृत्तान्त होने से यह सिद्ध है कि यहाँ उस प्राचीन काल में भौतिक उन्नति काफी हो गई थी। थोड़े समय में बहुत सा माल तैयार करनेवाले विशाल यन्त्रों का बन सकना असम्भव नहीं था। परन्तु कई नीतिकारों ने उनके निर्माण और प्रचार आदि का स्पष्ट निषेध किया है। निदान, यहाँ बड़ी मात्रा की उत्पत्ति पर प्रतिबन्ध लगा हुआ था। कौटल्य के अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि यद्यपि उस समय भिन्न-भिन्न व्यवसाय-संघों में बहुत-से आदमियों के मिलकर काम करने की व्यवस्था थी, परन्तु वहाँ उनके पास अपने-अपने औजार होते थे। सब अपने-अपने काम के स्वयं निरीक्षक होते थे। उसका प्रतिफल वे अपनी योग्यता के अनुसार पाते थे। काम करनेवाले व्यक्ति श्रमजीवी होने के साथ-साथ छोटे-छोटे पूँजीपति भी होते

थे। इस प्रकार देश का अधिकांश धन मुट्ठी-भर के पूँजीपतियों के हाथ में जाना। और बेशुमार आदमियों का मजदूर अथवा बेकार बनाना रोका गया था।

फिर, प्राचीन भारत में कानून किसी आदमी को अपनी सम्पत्ति का मनमाना उपभोग नहीं करने देता था। आचार्य कौटल्य ने लिखा है कि 'जो पुरुष अत्याधिक व्यय करनेवाला हो, अथवा अहितकर कार्य करनेवाला हो, उसकी सूचना 'गोप' अथवा स्थानीय अधिकारी को दी जाय।' इससे स्पष्ट है कि अपने स्वार्थ, ऐश्वर्य या भोग-विलास आदि में अधिक व्यय करने को कौटिल्य ने अपराध समझा है। अस्तु, प्राचीन काल में पहले तो आर्थिक असमानता बहुत होने न पाती थी; दूसरे, जो थोड़ी-बहुत होती थी, उसका परिणाम समाज के लिए अहितकर न होने पाता था।

हिन्दुओं की प्राचीन रीति-रस्मों में इस बात का बहुत विचार रखा जाता था कि धनवान और निर्धन सुख-दुख में, हर्ष एवं शोक में, एक-दूसरे से यथेष्ट सहयोग करें; निर्धनों को कभी भी अपनी निर्धनता के कारण विशेष कष्ट न पाना पड़े। जन्म-मरण, विवाह-शादी, तीज-त्योहार—प्रत्येक अवसर पर एक बिरादरी के सब आदमियों में आर्थिक स्थिति के भेद-भाव बिना, कुछ वस्तुओं का आदान-प्रदान होता था। धनवानों की सहायता और दान-पुण्य से निर्धनों की आर्थिक कठिनाइयाँ दूर होती थीं, और, निर्धनों की साधारण भेंट स्वीकार कर धनवान इस बात का परिचय देते थे कि उनमें अहंकार या घमंड नहीं है। अब आदमी अनेक बातों का असली रहस्य भूल गए हैं, कुछ बातों की धुंधली यादगार कुरीतियों के रूप में बनी हुई है।

**वर्णाश्रम धर्म और आर्थिक व्यवस्था**—आजकल हिन्दुओं में जो चार वर्ण माने जाते हैं, ये पहले श्रम-विभाग या मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार थे। कुछ आदमी बुद्धि-प्रधान होते हैं, दूसरे बल-प्रधान, वासना-प्रधान या सेवा-प्रधान होते हैं। प्राचीन भारत

में बुद्धिमान मनुष्यों (ब्राह्मणों) का, धन-हीन होने पर भी, बहुत आदर-मान था। उन्हीं का परामर्श लेकर राजा अपना कार्य करता था। क्षत्रिय धनवान न होने पर भी शक्तिशाली थे और वे उसी में सुखी थे। वैश्य धनवान होते थे; परन्तु जब वे अपने धन से दूसरों का उपकार करते रहते थे, तो किसी को उनसे ईर्षा क्यों होती ? शूद्र शारीरिक श्रम करते थे; परन्तु अपने भोजन-वस्त्र आदि के लिए तरसते न रहकर पूर्ण रूप से निश्चिन्त रहते थे। इस प्रकार प्राचीन काल में, समाज के एक अंग को दूसरे से डाह नहीं होती थी। परन्तु अब वह आदर्श लुप्त-सा हो गया है। जाति-प्रथा में ऊँच-नीच का भाव आ गया है, धनी मनुष्य दूसरों के हित या भलाई की चिन्ता नहीं करते। लोगों में वैश्य-वृत्ति प्रधान है; और वह भी बहुधा बड़े खराब रूप में।

इसी प्रकार आश्रम-धर्म की बात लीजिए। पहले यहाँ चार आश्रम थे—ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इनमें से पहला आश्रम विद्या प्राप्त करने के लिए था। लड़के और लड़कियाँ जब अलग-अलग गुरुकुलों में रहती थीं उनमें धनी-निर्धन का कोई भेद-भाव नहीं माना जाता था। राजा और रङ्क दोनों की सन्तान से एकसा व्यवहार होता था; सबका खान-पान, रहन-सहन आदि समान था। पाठक जानते हैं, कृष्ण और सुदामा ने एक ही गुरु के यहाँ शिक्षा पाई थी। अस्तु, इसी प्रकार वानप्रस्थ और संन्यास में भी आर्थिक असमानता न होती थी। निदान, चार आश्रमों में से तीन आश्रमों में आर्थिक भेद-भाव न था। जो कुछ भेद-भाव हो सकता था, वह केवल एक आश्रम में, गृहस्थाश्रम में, हो सकता था। (इसमें संयुक्त-परिवार की परिपाटी के कारण, असमानता विशेष नहीं हो पाती थी)। परन्तु अब तो हम जल्दी ही गृहस्थ बन जाते हैं, और मरने तक इसी में बने रहते हैं। इस प्रकार हम लोग अपना जीवन ज्यादहतर उस आश्रम में व्यतीत करते हैं, जिसमें आर्थिक भेदभाव अधिक होने की संभावना होती है। अब संयुक्त-परिवार की प्रथा भी प्रायः हट गई है। ऐसी दशा में आर्थिक विषमता का

बोलबाला क्यों न हो !

**समानता के आधुनिक उद्योग**—औद्योगिक देशों के बहुत से आन्दोलन की तह में मुख्य प्रश्न यही है कि वहाँ धन की असमानता दूर हो जाय, और निर्धनों पर धनवानों या व्यवसायपतियों के अत्याचार न हों। किन्तु अभी तक कोई सन्तोषजनक मार्ग नहीं निकला। यदि देश के सारे धन को वहाँ की जनता में बराबर-बराबर बाँट दिया जाय, और उससे होनेवाली साधारण कुव्यवस्था और कठिनाइयों का सामना किया जाय तो भी कुछ समय के बाद भिन्न-भिन्न मनुष्यों की कार्य-क्षमता में अन्तर होने के कारण, उनकी आर्थिक अवस्था में भी असमानता हो जाना स्वाभाविक है।

कुछ सज्जनों का विचार है कि विरासत, या पैतृक सम्पत्ति मिलने का नियम उठा दिया जाय। प्रत्येक आदमी के मरने पर, उसकी जायदाद की मालिक ( राष्ट्रीय ) सरकार हो, और वह उसके उत्तराधिकारियों के निर्वाह की समुचित व्यवस्था कर दिया करे। यह बात भी कहाँ तक उपयोगी तथा व्यावहारिक है, इस सम्बन्ध में कुछ निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। संभव है इससे लोगों में ज्यादह धन-संग्रह करने और पूँजीपति बनने की अभिलाषा कम हो जाय, और समाज में कुछ अधिक समानता आ जाय।

**समानता और समाजवाद**—आर्थिक विषमता और पूँजीवाद से समाजवाद की लहर आगई है। यह विशेषतया रूस में प्रचलित है। इसके अनुसार, मुख्य आर्थिक बात यह है कि उत्पत्ति और विनिमय के सब साधनों पर राज्य का अधिकार होता है, और राज्य का संगठन इस प्रकार किया जाता है कि शासन एवं व्यवस्था में श्रमजीवियों अर्थात् मजदूरों का प्रभुत्व रहता है। समाजवादियों का मत है कि उत्पत्ति के चार साधनों में से भूमि तो प्रकृति की ही देन है, पूँजी श्रम से ही संचित होती है, और व्यवस्था भी एक प्रकार का श्रम ही है। इस प्रकार धन की उत्पत्ति का केवल एक ही साधन रहता है, वह है श्रम।

इसलिए श्रमजीवियों का ही, उत्पन्न धन पर स्वामित्व रहना चाहिए। समाजवादियों के मतानुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रहेगी, खेती और कल-कारखानों की मालिक सरकार होगी, प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार मेहनत करेगा; और, उनके परिश्रम से जो धन पैदा होगा, वह सरकार द्वारा, उनकी आवश्यकतानुसार वितरण किया जायगा। आजकल मुद्रा में पदार्थों को खरीदने की शक्ति है, इसलिए कुछ आदमी इससे भूमि खरीदकर या कल-कारखाने आदि चलाकर अपनी सम्पत्ति बढ़ाते हैं, अथवा धन को जोड़कर रखते हैं। उनके लड़के बिना परिश्रम लखपति और करोड़पति बनते हैं, जबकि दूसरों को उनकी अधीनता में घोर श्रम करते हुए भी यथेष्ट भोजन-वस्त्र नहीं मिल पाता। समाजवादी व्यवस्था में ऐसा न होगा; सब की आवश्यकताएँ सरकार द्वारा पूरी होंगी और सब ही परिश्रम करनेवाले होंगे। फिर यह आर्थिक विषमता न रहेगी।

**धन-वितरण की पद्धति में सुधार**—करोड़ों आदमियों के समाज में आर्थिक असमानता बिल्कुल ही न रहे, ऐसी तो आशा नहीं की जा सकती। और, उसकी आवश्यकता भी नहीं है। लोगों की आर्थिक स्थिति में साधारण अन्तर रहना विशेष बुरा नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि यह अन्तर बहुत अधिक न हो; धनवान गरीबों पर अत्याचार न कर सकें, और प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा अवसर और सुविधाएँ मिलती रहें कि वह अपना यथेष्ट विकास कर सके और अपनी कार्यक्षमता बढ़ा सके। स्पष्ट है कि धन-वितरण-पद्धति में बहुत सुधार होने की आवश्यकता है।

पहले बताया जा चुका है कि धन की उत्पत्ति के चार साधन हैं—भूमि, श्रम, पूँजी, और व्यवस्था। व्यवस्था के अन्तर्गत प्रबन्ध और साहस दोनों का समावेश होता है, इनमें प्रबन्ध एक विशेष प्रकार का श्रम ही है। इस प्रकार व्यवस्था में साहस मुख्य है। उत्पत्ति के इन साधनों—भूमि, श्रम, पूँजी और साहस—के स्वामियों को उनका

प्रतिफल अर्थात् लगान, मजदूरी, सूद और मुनाफा दिया जाता है। इस धन-वितरण में किन-किन बातों का ध्यान रखा जाना आवश्यक है, यह पहले लिखा जा चुका है। समाज तथा राज्य को निरन्तर इस ओर ध्यान देते रहना चाहिए कि कोई वर्ग—जमींदार, महाजन, या पूँजीपति आदि—जनता का शोषण करनेवाला न हो। देश की शासनपद्धति भी ऐसी न होनी चाहिए कि आर्थिक असमानता बढ़ाने में सहायक हो।

**असमानता दूर करने के उपाय**—अच्छा हो कि आदमी आपस में ऐसा व्यवहार करें कि असमानता तथा उसके कारण होने वाले कष्टों का अवसर न आवे। इसके लिए सरकार को कुछ करने की आवश्यकता न रहे; कानून बनाने का प्रसंग ही न आवे। यद्यपि कुछ आदमी काफी उदार मनोवृत्ति वाले होते हैं, सर्वसाधारण से ऐसे स्वार्थ-त्याग और निर्लोभिता की आशा नहीं की जा सकती। इसलिए सरकार को चाहिए कि नीचे लिखे उपायों को यथा-सम्भव काम में लाने की ओर ध्यान दे; स्मरण रहे कि आगे की पंक्तियों में हमने जो द्रव्य का परिमाण सूचित किया है, वह रुपए की वर्तमान (सन् १९४८ की) कीमत के आधार पर समझना चाहिए।

१—राज्य के विविध कर्मचारियों के वेतन में एक सीमा से अधिक अन्तर न होना चाहिए। ऊंचे दर्जे वालों को बहुत अधिक, और नीचे दर्जे वालों को बहुत कम वेतन मिलना ठीक नहीं। [ देखिए, पृष्ठ ४०१-२ ]

साधारणतया किसी कर्मचारी को अपने परिवार के लिए सौ रु० मासिक से कम, और एक हजार रु० मासिक से अधिक न मिलना चाहिए। इस दिशा में कदम बढ़ाने के लिए आरम्भ में कम-से-कम मासिक पचास रु०, तथा अधिक-से-अधिक मासिक दो हजार रु० देने का प्रयत्न होना चाहिए। एक खास रकम से अधिक वेतन पानेवालों पर उत्तरोत्तर बढ़ने वाला वेतन-कर लगाया जा सकता है।

२—जमींदारी और जागीरदारी प्रथा उठा दी जानी चाहिए।

भारतवर्ष के प्रान्तों में ज़मींदारी प्रथा उठा कर कैसी व्यवस्था की जा रही है, यह पहले बताया जा चुका है।

३—प्रत्येक किसान के लिए इतनी भूमि की व्यवस्था होनी चाहिए, जिसकी आय से उसके परिवार का निर्वाह हो सके। इस भूमि में खेती वह स्वयं अथवा उसके परिवार के आदमी करें। अपवाद-रूप कुछ विशेष दशाओं को छोड़कर किसी किसान के पास इतनी अधिक भूमि न हो कि वह दूसरों से खेती करा कर लाभ उठावे। [संयुक्तप्रान्तीय जमींदारी-उन्मूलन कमेटी ने किसी किसान के पास रहने वाली ज़मीन कम-से-कम दस एकड़, और अधिक-से-अधिक तीस एकड़ ठहराई है। देखिए, पृष्ठ ३७७-८।]

४—किसानों से केवल 'आर्थिक' लगान लिया जाना चाहिए, उससे अधिक नहीं। बे-मुनाफे की खेती पर तो कोई लगान लगाना ही न चाहिए।

५—जिन उद्योग-धंधों का संचालन सरकार सुचारू रूप से तथा किफायत से कर सके, उनका राष्ट्रीकरण किया जाना चाहिए।

६—मजदूरों के लिए न्यूनतम वेतन तो दिया ही जाना चाहिए; यथा-सम्भव उन्हें इससे अधिक ही मिले। मुनाफे में से भी उन्हें निर्धारित भाग दिया जाय, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए।

७—खेती से तथा उद्योग-धंधों से खासकर उपभोग के पदार्थों की उत्पत्ति की जानी चाहिए। देश की ऐसी आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद ही लाभ की वस्तुओं की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन और व्यापार पर यथेष्ट नियंत्रण रहना चाहिए; और इन पर काफी कर लगना चाहिए।

८—उद्योगपतियों का मुनाफा स्थिर किया जाना चाहिए। साधारणतया एक हजार रुपए मासिक से अधिक आय वालों पर साठ से लेकर नब्बे प्रतिशत तक उत्तरोत्तर अधिक आय-कर लगाया जाना चाहिए।

९—आयात-निर्यात की प्रत्येक वस्तु पर लोकहित की दृष्टि से कड़ा नियंत्रण रहना चाहिए। यथा-सम्भव विदेशी व्यापार को निरुत्साहित किया जाना चाहिए। (देखिए, पृष्ठ ३४४-४५)।

१०—किसी मनुष्य के मरने पर उसकी जायदाद पर एक निर्धारित दर से कर लगाया जाय। उत्तराधिकारियों से विरासत-कर लिया जा सकता है।

ये अथवा इस तरह की जो अन्य बातें, जहाँ तक समयोचित हों, अमल में लाई जानी चाहिएँ।

**विशेष वक्तव्य**—आर्थिक विषमता के कारण भारतवर्ष में भी समाजवाद की लहर बढ़ती जा रही है। यह ठीक है कि यहाँ अधिकांश आदमी अपनी हीनावस्था के कारण का विचार न कर, उसको अपने भाग्य का दोष समझते हैं। वे अपनी स्थिति सुधारने के लिए आंदोलन करने को सहसा तैयार नहीं होते। पर, आखिर कब तक? रोटी-कपड़े की जरूरत भाग्यवादियों को भी क्रांतिवादी बना देती है। एक ओर भारत का प्राचीन आदर्श है, दूसरी ओर आधुनिक समाजवाद। हमारे लिए वर्त्तमान काल में दोनों का मिश्रण उपयुक्त होगा। हम केवल दूसरों की नकल के भरोसे क्यों रहें? अन्य देश जिस बात के लिए खून-खराबी करते हैं, उसे हम अहिंसा द्वारा ही क्यों न प्राप्त करें! हमें समाजवाद का स्वागत करने से झिझक न हो; हाँ, उस पर हमारी संस्कृति की छाप हो; वह हमारी अपनी चीज़ बन जाय। भारतीय समाजवाद भारतीय जनता का हित तो करे ही, अपने अहिंसा और प्रेम-भाव के कारण, वह संसार के लिए भी शिक्षाप्रद और कल्याणकारी हो। शुभम्

## परिशिष्ट—१

# अर्थशास्त्र का भारतीय दृष्टिकोण

**भारतीय अर्थशास्त्र की प्राचीनता**—भारतवर्ष में अर्थशास्त्र का विषय बहुत प्राचीन समय से है। अनेक पाठकों को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि यहाँ अर्थशास्त्र का प्रादुर्भाव संसार-भर के सब देशों में, सम्भवतः सबसे पहले हुआ। यद्यपि यहाँ का बहुत सा प्राचीन साहित्य नष्ट हो गया है, कौटल्य (चाणक्य) के अर्थशास्त्र से इस बात का अकाट्य प्रमाण मिल जाता है कि यहाँ अब से कम-से-कम सवा दो हजार वर्ष पहले इस विद्या के विविध ग्रन्थों का अध्ययन किया और कराया जाता था—जब कि आधुनिक राष्ट्रों का जन्म भी नहीं हुआ था। आचार्य कौटल्य के अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत व्यापक होता था, उसकी तुलना में आधुनिक अर्थशास्त्र बहुत ही संकुचित है। इस विषय पर हमने अपनी 'कौटल्य के आर्थिक विचार' पुस्तक में अच्छी तरह प्रकाश डाला है, जिसका कुछ बातों का उल्लेख इस पुस्तक में कहीं-कहीं इसलिए किया गया है, कि पाठकों को प्राचीन विचार-धारा की कुछ झलक मिल सके, और वे उसकी, आधुनिक विचार-धारा से तुलना कर सकें। अस्तु, यहाँ हमें भारतीय अर्थशास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता का विचार करना है।

**भारतीय अर्थशास्त्र की विशेषता**—प्रायः अर्थशास्त्र का क्षेत्र विशुद्ध आर्थिक विषयों तक परिमित माना जाता है; उसमें आवश्यकताओं, और उनकी पूर्ति के उपायों का विवेचन रहता है। बहुधा आवश्यकताओं को बढ़ाने, रहन-सहन का दर्जा ऊंचा करने, धन की उत्पत्ति अधिक करने, सस्ता खरीदने, मँहगा बेचने व्यापार-व्यवसाय

द्वारा दूसरे व्यक्तियों या देशों का अधिक-से-अधिक धन आकर्षित करने आदि पर जोर दिया जाता है। समाज में रहनेवाले दूसरे भाइयों के प्रति यथेष्ट कर्तव्य पालन करने, लोक-सेवा और विश्व-बंधुत्व आदि की भावनाओं की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। संसार को ऐसे विविध राष्ट्रों में, और राष्ट्र को ऐसे विविध मानव समूहों या श्रेणियों में, विभक्त समझा जाता है, जिनके स्वार्थ एक-दूसरे से टकराते हों। इसका परिणाम राष्ट्रीय संकट और विश्वव्यापी महायुद्ध है। ऐसा अर्थशास्त्र लोक हितकारी नहीं होता। फिर, हमारी पुस्तक तो 'भारतीय' अर्थशास्त्र है। हमने इसमें आर्थिक विषयों का विवेचन, भारतवर्ष की परिस्थितियों का ध्यान रखकर, किया है। इसके अलावा उत्पादन, उपभोग, व्यापार और वितरण--सभी बातों में पाठकों के सामने भारतीय दृष्टिकोण रखने का प्रयत्न किया है। भारतीय विचार-धारा के अनुसार चार पुरुषार्थ माने गए हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इसलिए चाहे कुछ अर्थशास्त्री इसे अप्रासंगिक या अनधिकार-चेष्टा कहें, हम भारतीय अर्थशास्त्र में धार्मिक अर्थात् नैतिक और सामाजिक कर्तव्य सम्बन्धी विचारों का समावेश अनिवार्य मानते हैं। यही तो भारतीय अर्थशास्त्र की विशेषता है।

**भारतीय दृष्टिकोण का महत्व**—मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति भोग-विलास या इच्छाओं और कामनाओं की पूर्ति की ओर होती है, और वह इसके लिए अधिक से-अधिक अर्थ या धन उपार्जन करता है। यहाँ तक कि वह धनोत्पत्ति को ही जीवन का लक्ष्य बना लेता है। वह दिन-रात इसमें लगा रहता है। वह समझता है कि वह जितना अधिक द्रव्य-संग्रह करेगा, उतनी ही अधिक उसकी इच्छाओं की पूर्ति होगी। परन्तु होता है, इसके विपरीत। ज्यों-ज्यों उसके पास धन बढ़ता है, उसकी इच्छाएँ और भी अधिक बढ़ जाती हैं। इस प्रकार पहले की अपेक्षा उसके अभाव अधिक हो जाते हैं। उसे अपना सारा प्रयत्न छाया के पीछे दौड़ने के समान मालूम होता है। वह छाया को पकड़ने

के लिए जितना अधिक जोर लगाता है, छाया उतनी ही तेजी से आगे बढ़ती जाती है। अस्तु, ऐसे आदमी को जन्म भर शान्ति नहीं मिलती अन्त में जब जीवन-लीला समाप्त होने को होती है तो कवि के शब्दों में वह यह कहकर अपनी सफलता घोषित करता है कि 'भोगाः न भुक्ता, वयमेव भुक्ता'। वह सोचता है कि क्या ही अच्छा होता कि मैं भोग-विलास रूपी छाया के पीछे न दौड़कर उसकी ओर पीठ फेर लेता, फिर छाया स्वयमेव मेरी सेवा में उपस्थित होती। भारतीय धर्मशास्त्रों का आदेश है कि मनुष्य अर्थ या धन के पीछे न लगा रहे धनोपार्जन में धर्म अर्थात् कर्तव्यों ( व्यक्तिगत और सामाजिक ) का ध्यान रखे, अर्थ पर धर्म का अंकुश रहे। इसी प्रकार 'काम' अर्थात् वासना में स्वच्छन्द होना भी अनुचित और घातक है। जिस प्रकार अर्थ की बागडोर धर्म के हाथ में रहनी चाहिए, उसी प्रकार 'काम' पर मोक्ष-भाव का नियन्त्रण रहना आवश्यक है। मोक्ष का अर्थ है, भौतिक बन्धनों से मुक्ति।

इस विचार-धारा पर और प्रकाश डालने के लिए जयपुर के सुप्रसिद्ध दैनिक 'लोकवाणी' ( ११ दिसम्बर १९४८ ) में प्रकाशित, 'वास्तविक अर्थशास्त्र'-शीर्षक लेख * आगे दिया जाता है।

**वास्तविक अर्थशास्त्र**—मनुष्य, समाज का अविभाज्य अङ्ग है। वह समाज के अङ्ग के रूप में ही जन्म लेता है, बढ़ता है, बनता है और खत्म हो जाता है; किन्तु साथ ही वह एक व्यक्ति भी है, उसकी स्वतंत्र आत्मा और अस्तित्व भी है जो अपने समय और परिस्थिति से बनकर उससे अलग भी उठ सकती है। इन दो अस्तित्वों का समन्वय, इन दोनों की पारस्परिक प्रेरणा और उन्नति ही मनुष्य का पुरुषार्थ है और जो अर्थ-शास्त्र इस पुरुषार्थ की विवेचना करे, इसकी व्यवस्था करे, उसे ही वास्तविक अर्थशास्त्र कहना चाहिए।

**चार पुरुषार्थ; धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष**—भारतीय विचार-

*ले०—श्री० जवाहिरलाल जी जैन, प्रबन्ध-सम्पादक 'लोकवाणी'।

धारा ने मानव पुरुषार्थ के कुछ खास विभाग कर दिए हैं। समाज के अंग के रूप में, समाज के पोषण और प्रगति के लिए मनुष्य जो कुछ करे उसे धर्म का नाम दिया गया है। धर्म नाम के पुरुषार्थ में व्यक्ति के, समाज के प्रति समग्र कर्तव्य का समावेश हो जाता है। काम के पुरुषार्थ में व्यक्ति का अपने प्रति जो कर्तव्य है, अपने शरीर के, अपने भौतिक व्यक्तित्व के प्रति जितना कुछ उसे करना है, जितना कुछ करने के लिए वह भौतिक होने के नाते बाध्य है, कला और सौंदर्य की जो कुछ अभिव्यक्ति उसमें स्वाभाविक रूप से होती है, वह सब काम के पुरुषार्थ में निहित है। धर्म और काम की साधना के लिए, जो कुछ साधन, जो कुछ अवलम्ब मनुष्य को चाहिए वे सब अर्थ नाम के पुरुषार्थ से प्राप्त होते हैं।

मनुष्य, शरीर और आत्मा का संयोग है, शाश्वत और अनित्य का समन्वय है, क्षणिक और सनातन का सम्मेलन है वह क्षणिक के रूप में उत्पन्न होकर सनातन की ओर, शाश्वत की ओर, आत्मा की ओर, निराकार की ओर बढ़ता है और अन्त में भौतिकता, क्षणिकता को छोड़कर, शरीर को छोड़ निराकार में, शाश्वत में लुप्त हो जाता है, मोक्ष को प्राप्त कर लेता है' मनुष्य के जीवन की प्रगति भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर है। वह ज्यों-ज्यों भौतिक बन्धनों को कम करता-करता, उन से ऊपर उठता, उनसे छुटकारा पाता है, मोक्ष पाता जाता है, वह चौथे और अन्तिम पुरुषार्थ की ओर अग्रसर होता जाता है। भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर बढ़ना उसका चरम पुरुषार्थ—मोक्ष है, जहाँ व्यक्ति और समाज दोनों उसके लिए एकाकार होकर निराकार होजाते हैं, स्व'म हो जाते हैं।

**सच्चे अर्थशास्त्र का पश्चिमी अर्थशास्त्र से भेद**—इस विस्तृत अर्थ में तो संसार के सारे शास्त्र पुरुषार्थ में शामिल हो जाते हैं, लेकिन अगर धर्म और काम के साधन के रूप में, अर्थ-पुरुषार्थ की प्राप्ति के आशय में भी अर्थशास्त्र को समझा जाय, तब भी इसका रूप और क्षेत्र

उस अर्थशास्त्र से दूसरे ही प्रकार का होगा, जो आज पश्चिम में, और उसकी देखा देखी पूर्व में अर्थशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध है।

सच्चा अर्थशास्त्र जैसा अभी कहा गया है धर्म और काम के साधनों का विवेचन और आयोजन है। वह पश्चिमी अर्थशास्त्र के 'आर्थिक मनुष्य' और उसके हिताहित के कल्पनापूर्ण विवेचन से बिलकुल अलग है। यह अर्थशास्त्र समाज और व्यक्ति की आवश्यकताओं का—धर्म और काम का समन्वय करता है।

इस अवस्था में यह अर्थशास्त्र उसी प्रकार के उत्पादन का समर्थन करेगा जिसमें समाज की रक्षा हो, समाज के अधिकांश भाग को हानि पहुँचा कर, अपने पेट को मोटा कर लेने को अर्थशास्त्र, उन्नति नहीं कहेगा। वह यंत्रों के अन्धाधुन्ध उपयोग से मानव-श्रम को बेकार कर देने का समर्थन नहीं करेगा। वह कम-से-कम भाव में खरीदने और ऊँचे-से-ऊँचे भाव में बेचने को वाजिब नहीं मानेगा, बल्कि जिस चीज़ की अधिक-से-अधिक, समाज को आवश्यकता हो उसका उत्पादन करने, यथासम्भव परावलम्बन से अधिक-से-अधिक बचने पर जोर देगा। वह, ज्यादा मुनाफा होता है, इसलिए बम बनाना लाभदायक है—ऐसा नहीं ही सोचेगा, बल्कि बम बनाने के कारखाने के बजाय अगर लोहे का उपयोग हल बनाने में अच्छा होता हो, तो उसी का समर्थन करेगा, लाभ चाहे उत्पादक को उससे कम हो या अधिक। दूसरी ओर वह, व्यक्ति को केवल मशीन बनाकर, केवल 'आटोमैटन' बनाकर नहीं छोड़ देगा, वह व्यक्तित्व के अभाव, मानव आत्मा के अभाव को मानकर नहीं चलेगा। वह जीवन का परम पुरुषार्थ-मोक्ष, मानव-कमजोरियों का खात्मा, मानकर ही आगे बढ़ेगा और मनुष्य के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के साधन देना अनिवार्य मानेगा। इसी तरह का दृष्टिकोण उसका वितरण, विनिमय और व्यय (उपभोग) के विषय में होगा।

**कर्तव्यों और अधिकारों का समन्वय**—संक्षेप में समाज और व्यक्ति के—आत्मा और शरीर के—कर्त्तव्यों और अधिकार का पूरा

समन्वय और आत्मा की उन्नति के लक्ष्य (मोक्ष) को परम पुरुषार्थ मानते हुए धर्म और काम के केवल साधन रूप में अर्थ को मानकर जिस शास्त्र की रचना की जाय, वही वास्तविक अर्थशास्त्र हो सकता है। वही जनता का वास्तविक हित कर सकता है। जहाँ साधन को ही लक्ष्य मान लिया जाय, अर्थ स्वयं देवता बनाकर बिठा दिया जाय, जहाँ समाज केवल काम का दास होकर समाज और व्यक्ति दोनों की बलि करदे, वहाँ उस दृष्टिकोण से जो अर्थशास्त्र रचा गया है वह केवल विषमता द्वेष, युद्ध और नाश का ही कारण हो सकता है।

**भारत और संसार की वास्तविक उन्नति**—सच्चा अर्थशास्त्र समाज और व्यक्ति, धर्म और काम को साधन रूप में, मनुष्य की भौतिक और नैतिक उन्नति को लक्ष्य मानकर चलने से ही बन सकता है, और वही अर्थशास्त्र भारत और संसार की वास्तविक उन्नति का कारण हो सकता है। केवल भौतिकता, व्यक्ति और काम पर आधारित एकांगी पश्चिमी अर्थशास्त्र तो हमें बंधन की ओर, दुख की ओर, नाश की ओर ही ले जा सकता है, आत्मा की ओर, शान्ति ओर, समृद्धि की ओर मोक्ष की ओर नहीं। यही उपनिषद्कारों के महान सूत्र 'सा विद्या या विमुक्तये' का रहस्य है।

---

# परिशिष्ट—२

# कांग्रेस की आर्थिक नीति

स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् कांग्रेस का ही एक रूप भारतवर्ष के शासक-पद पर विराजमान है; उसके दूसरे रूप का उद्देश्य देश में जनता से सम्पर्क बनाए रखना और उसका राज्य स्थापित करना है। इससे स्पष्ट है कि कांग्रेस की नीति का कितना महत्व है। पाठकों को उसका कुछ परिचय हो जाय; इसलिए उसका, जयपुर अधिवेशन

(दिसम्बर १९४८) में स्वीकृत आर्थिक कार्यक्रम सम्बन्धी प्रस्ताव आगे दिया जाता है।

**आर्थिक कार्यक्रम सम्बन्धी प्रस्ताव**—आर्थिक संकट के ख्याल से, जिसमें होकर देश गुजर रहा है, सरकार तथा जनता दोनों का यह कर्त्तव्य है कि वे काँग्रेस द्वारा निर्धारित उद्देश्यों को बढ़ावें तथा आज के भार को इस प्रकार विस्तृत करें कि उस जिम्मेदारी को, सबको वहन करना पड़े। ऐसा न रहे कि कोई तो उसके नीचे दब कर चटनी हो जाय और कोई एक दम उत्तरदायित्व से मुक्त रहे। राष्ट्र को कुछ दिनों तक तपस्या करनी चाहिए और समस्त फजूलखर्चियों को बन्द कर देना चाहिए। उत्पादन तथा मूल्य-वृद्धि के वर्तमान संकट का सामना करने के लिए, विचारपूर्वक तथा सहयोग के साथ समूचे राष्ट्र को प्रयत्न करना चाहिए।

उत्पादन बढ़ाने के लिए मानवीय तथा पदार्थीय समस्त साधनों का उपयोग करना चाहिए। जनता को अधिक उत्पादन करना चाहिए तथा खर्च कम करना चाहिए और बचत को सरकारी सुरक्षा में जमा कर देनी चाहिए, चौतरफा अधिक बचत करनी चाहिए। शासन की पूर्णता तथा देश की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए सरकार को अपने खर्चे में कठोरतापूर्वक कटौती करनी चाहिए।

**छोटी मात्रा की उत्पत्ति**—यह तो आवश्यक ही है कि राष्ट्र के शक्ति-साधनों तथा भोजन-उत्पादन को बढ़ाने के लिए ऊंचे पैमाने पर प्रबन्ध किया जाय, जिससे भोजन तथा अन्य आवश्यक सामग्रियों के सम्बन्ध में देश स्वयं पूर्ण बन जायगा; पर साथ ही छोटे पैमाने के प्रयत्न भी किए जायँ, क्योंकि वे शीघ्र फलदायी होते हैं। यह एक सुनिश्चित योजना के अनुसार किया जाना चाहिए। घरेलू धंधों तथा छोटे पैमाने के उद्योगों की ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए; अच्छा हो, यह कार्य सहकारी आधार पर किया जाय, जिससे बहुत लोगों को काम मिले और उपभोक्ताओं को आवश्यक सामग्रियों का शीघ्रतापूर्वक

उत्पादन बढ़े। विकेन्द्रीकृत उत्पादन की यह योजना देश की स्थायी आर्थिक व्यवस्था का एक अंग होना चाहिए।

**खाद्यान्न की प्राप्ति**—शहर के निवासियों को आश्वासन देने के लिए विशेषकर उद्योग सम्बन्धी मजदूरों को इस कमी के जमाने में नियन्त्रित दर पर गल्ला देना चाहिए और उसे किसानों से ऐसे भाव पर खरीदना चाहिए कि उन्हें भी लाभ हो और उपभोक्ताओं को भी हल्का मालूम पड़े। खाद्यान्न संग्रह करने की योजना को सफल बनाने के लिए किसानों को सरकार से सहयोग करना चाहिए।

**सूती वस्त्र सम्बन्धी नीति**—यह कांग्रेस सरकार की सूती वस्त्र सम्बन्धी नीति का समर्थन करती है तथा प्रान्तीय सरकारों से कहती है कि वे यह देखें कि मिल के बने कपड़ों का, तथा निम्न तल के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक अन्य सामग्रियों का, अच्छा 'कोटा' नियंत्रित दर पर ग्रामीणों के लिए उपलब्ध है। ज्यादा अच्छा हो, यदि यह काम अ० भा० चर्खा संघ और ग्रामोद्योग संघ के सहयोग से किया जाय। समस्त देश में खादी तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के लिए गंभीर आन्दोलन किया जाय।

**औद्योगिक झगड़े न हों**—उत्पादन की ओर प्रयत्न बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि औद्योगिक झगड़ों का परिहार कर दिया जाय, क्योंकि उन झगड़ों से उत्पादन में कमी पड़ती है तथा देश की प्रगति रुक जाती है। यह कांग्रेस केन्द्रीय सरकार को औद्योगिक समझौते के लिए प्रयत्न करने तथा सामाजिक रक्षा के लिए बधाई देती है तथा यह सिफारिश करती है कि सब प्रांतों में संगठित आधार पर औद्योगिक झगड़ों को शान्तिपूर्ण तथा उचित ढंग से सुलझाने के लिए विधिवत व्यवस्था की जाय। उचित मजदूरी तथा श्रम की दशाओं, मूल सम्पत्ति पर उचित मुनाफा, समस्त औद्योगिक उत्पादनों से सम्बन्धित मामलों से, श्रम सम्पर्क स्थापित करने के तरीकों जैसे केन्द्रीय, प्रादेशिक तथा इकाई उत्पादन समितियों का निर्माण इत्यादि विषयों पर विचार करने के लिए

केन्द्रीय, प्रादेशिक तथा कार्य-सम्पादन सम्बन्धी व्यवस्था की जाय।

कांग्रेस यह भी अपील करती है कि जो लोग उत्पादन से सम्बन्धित हैं, वे सब लोग इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भरसक प्रयत्न करें। उद्योगपतियों को अपने मुनाफे को कम कर देना चाहिए तथा उत्पादन-वृद्धि में सहायता करनी चाहिए। मजदूरों को यह समझ लेना चाहिए कि इस परिस्थिति में हड़ताल करना विषम परिस्थिति पैदा करना है तथा सारे समाज की हानि करना है।

**औद्योगिक नीति**—भारत सरकार ने मिश्रित आर्थिक बचत की समर्थन करने वाली अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा कर दी है, तथा अपने व्यक्तिगत उद्योगों के विस्तार तथा विकास के लिए विस्तृत क्षेत्र छोड़ दिया है। उद्योगपतियों को इस संकट-काल में देश के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन अवश्य करना चाहिए। कांग्रेस की यह नीति है कि उद्योग, राष्ट्र-हित के लिए किए जायँ; बड़े-बड़े उद्योग धन्धे सरकार के नियंत्रण तथा स्वामित्व में रहें। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उद्योगपतियों के उचित हितों का हल न हो।

केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकारों से आगे यह प्रार्थना की जाती है कि वे मजदूरों के रहने के लिए मकानों की उचित व्यवस्था करें। गृह-निर्माण में शीघ्रता करने तथा व्यय में कमी करने की दृष्टि से स्थानीय उपलब्ध सामानों का अधिक उपयोग किया जाय।

जीविकोपयोगी वस्तुओं की मूल्यवृद्धि तथा झगड़ों के तय करने की त्रुटिपूर्ण प्रथा के कारण उत्पन्न कठिनाइयों की कांग्रेस को पूरी जानकारी है तथा वह दोनों को दूर करने के लिए, प्रभावपूर्ण युक्तियों का प्रयोग करने के लिए उत्सुक है। कांग्रेस यह भी चाहती है कि श्रमजीवी वर्ग राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध करने वाली शोषक शक्तियों से अपनी रक्षा करे। उद्योग में लगे हुए प्रत्येक व्यक्ति का इस समय सबसे बड़ा कर्तव्य यही है कि वह उत्पादन को जारी रखने में प्रयत्नशील रहे।

———

परिशिष्ट—३

# भारत के विभाजन का आर्थिक प्रभाव

**विभक्त भारत का स्वरूप; पाकिस्तान और भारतीय संघ**—१५ अगस्त १९४७ का दिन भारतवर्ष की स्वतन्त्रता-प्राप्ति का दिन है। पर इसी दिन से भारत के दो टुकड़े हो गए, पाकिस्तान और भारतीय संघ। पाकिस्तान के दो भाग हैं, पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान। मुख्य भाग पश्चिमी पाकिस्तान है, इसमें पश्चिमी पंजाब, सिन्ध विलोचिस्तान और पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त तथा इस ओर की रियासतें हैं। पूर्वी पाकिस्तान में पूर्वी बंगाल, और आसाम के सिलहट जिले का अधिकाँश भाग है।

भारत के ये हिस्से निकल जाने पर जो शेष रहा, वह अब भारतीय संघ कहलाता है। इसमें बम्बई, संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त, बिहार, मदरास उड़ीसा आसाम, पश्चिमी बंगाल, पूर्वी पंजाब, दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा और कुर्ग तथा इन प्रान्तों के बीच आनेवाली या इनसे मिली हुई रियासतें हैं।

पाकिस्तान और भारतीय संघ में जो प्रान्त इस समय हैं, वे सब अपने पहले पूरे-पूरे रूप में नहीं हैं। दो प्रान्त—बंगाल और पंजाब—दोनों राज्यों में बँट गए हैं। बंगाल के कुल क्षेत्रफल ( ७७ हजार वर्गमील ) का ६६ प्रतिशत और पंजाब के कुल क्षेत्रफल (९९ हजार वर्गमील) का ६२ प्रतिशत से कुछ अधिक पाकिस्तान में चला गया है; और इन प्रान्तों का शेष भाग भारतीय संघ में रहा है। आसाम के सिलहट जिले का अधिकांश भाग अब पाकिस्तान में और शेष भारतीय संघ में है।

**विस्तार और जनसंख्या**—रियासतों सहित, पाकिस्तान का क्षेत्रफल ३ लाख ६३ हज़ार वर्गमील अर्थात् कुल भारत का २३ प्रतिशत है।

उसकी कुल जनसंख्या सन् १६४१ की गणना के अनुसार ६ करोड़ ६८ लाख अर्थात् कुल भारत की जनसंख्या का १७ प्रतिशत है। विभाजन के बाद दोनों राज्यों के कितने ही आदमी एक राज्य को छोड़कर दूसरे में गए हैं, कुछ बेचारे रास्ते में मर ही गए। यह स्पष्ट है कि भारतीय संघ की तुलना में पाकिस्तान बहुत छोटा राज्य है। फिर इसके दो भाग एक-दूसरे से बहुत दूर दूर होने से उनका आपस में यथेष्ट सम्बन्ध नहीं रह सकता।

**विभाजन में आर्थिक दृष्टिकोण का अभाव**—भारतवर्ष का इन दो राज्यों में विभाजन किसी आर्थिक योजना के अनुसार नहीं हुआ। यह वास्तव में मुसलिम साम्प्रदायिकता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के गठबंधन का फल है। मास्को रेडियो ने इसके सम्बन्ध में कहा था कि मि० चर्चिल के समर्थन से यह योजना भारत में ब्रिटेन का सैनिक तथा आर्थिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिए उपस्थित की गई है।' प्रमुख आयरिश पत्र 'आयरिश प्रेस' ने लिखा था कि ब्रिटेन ने हटते समय भारत का आयर्लैंड की तरह विभाजन करके उसे निर्बल बना दिया।'

सन् १६३५ के विधान से अँगरेजों ने बर्मा को भारत से अलग करके यहाँ चावल और मिट्टी के तेल की भारी कमी कर दी थी। सन् १६४७ में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ होनेवाले इस विभाजन ने देश पर नया आर्थिक प्रहार कर डाला। यह विभाजन भारतीय संघ और पाकिस्तान दोनों के लिए हानिकर है, इससे पाकिस्तान की हानि बहुत अधिक है। साम्प्रदायिक नेताओं का यह दावा कि पाकिस्तान एक आर्थिक प्रदेश होगा, इसे किसी अन्य प्रदेश पर निर्भर होने की आवश्यकता न होगी—कितना निरर्थक था; यह आगे दिए हुए तथ्यों से भली भांति प्रमाणित हो जायगा।

**भूमि, जलवायु और नहरें**—पहले हम यह जानलें कि पाकिस्तान बननेवाले भू-भाग की भूमि और जलवायु आदि कैसी है। पाकिस्तान की भूमि उपजाऊ है। पूर्वी पाकिस्तान में वर्षा यथेष्ट होती है। परन्तु

पश्चिमी पाकिस्तान की भूमि में पानी बहुत कम बरसता है, इसके विविध भागों में वर्षा का औसत ५ से १५ इंच तक है। हाँ, सतलुज, जेहलम, चनाव तथा सक्खर के बांध की नहरों से पश्चिमी पंजाब और सिंध में सिंचाई खूब होती है। इस लिए इस क्षेत्र में खेती की अच्छी उन्नति हो सकती है।

पंजाब की बड़ी-बड़ी नहरों से सींचा जानेवाला क्षेत्र अब अधिकांश में पाकिस्तान में चले जाने से भारतीय संघ में बहुत कम रह गया है। केवल जमुना और सरहिन्द नहर पूर्वी पंजाब को सींचती हैं। सतलुज की नहर से बीकानेर की कुछ भूमि सींची जाती है।

**कृषि और खाद्य पदार्थ**—पूर्वी बंगाल में पश्चिमी बंगाल की अपेक्षा खेती करने योग्य भूमि के साधन कम हैं। कृषि-भूमि सीमित है, और जनसंख्या का घनत्व बहुत है—कुछ जिलों में जनसंख्या प्रति वर्गमील एक हजार से भी अधिक है। दूसरे महायुद्ध से पूर्व भी बंगाल में खाद्य सामग्री की कमी थी; बर्मा और आसाम के चावल से उसकी पूर्ति की जाती थी। हाँ, जूट-उत्पादन का अधिकांश क्षेत्र अब पूर्वी पाकिस्तान में है। परन्तु जूट की सब मिलें पूर्वी बंगाल से बाहर होने के कारण उसे इसका सामान बनाने से होनेवाला लाभ नहीं मिल सकता।

कृषि और खाद्य सामग्री की दृष्टि से पश्चिमी पाकिस्तान की स्थिति अच्छी है। पश्चिमी पंजाब और सिंध में सिंचाई के साधन पर्याप्त होने से यहाँ गेहूं चावल और कपास खूब पैदा होता है; ये चीज़ें इस प्रदेश की जनता के लिए काफी होती हैं, और कुछ बच भी रहती हैं। परन्तु यहाँ ज्वार, बाजरा, मक्का आदि अन्न कम होते हैं, जो कि निर्धन जनता के मुख्य भोजन हैं।

पाकिस्तान में गन्ना उत्पन्न करनेवाली भूमि, वहाँ की जनता की आवश्यकता की दृष्टि से बहुत कम है, इसलिए उसे शक्कर के लिए आयात पर निर्भर रहना होगा। यहाँ तेलहन भी, क्षेत्रफल और

जन-संख्या के हिसाब से, बहुत कम पैदा होता है। कहवा और रबर यहाँ पैदा नहीं होता (ये चीजें दक्षिण भारत में ही होती हैं)। चाय पूर्वी बंगाल तथा सिलहट जिले में होती है, परन्तु वह कम ही है।

भारतीय संघ में जूट की मिलें पश्चिमी बंगाल में हैं, पर जूट पैदा होने का सारा क्षेत्र उसके बाहर होने से, अब वह अपनी मिलों के लिए कच्चा माल प्राप्त करने में परमुखापेक्षी हो गया। इसी प्रकार वह अब सिंध में पैदा होनेवाली बढ़िया किस्म की कपास से भी वंचित हो गया है। बिलोचिस्तान और सीमाप्रान्त के अलग हो जाने से भारतीय संघ में सेब, अंगूर, किसमिस, छुहारे आदि मेवा और फलों की कमी हो गई है। सब से अधिक हानि तो यह हुई कि अब इसमें पश्चिमी पंजाब और सिंध के अतिरिक्त-उपजवाले प्रान्त नहीं रहे, जिनसे दूसरे प्रान्तों की उपज की बहुत-कुछ कमी दूर हो जाती थी।

**बन सम्पत्ति**—पूर्वी पाकिस्तान में बन-प्रदेश की बहुत कमी है। पश्चिमी पाकिस्तान के प्रान्त—सीमाप्रान्त, बिलोचिस्तान, सिन्ध और पश्चिमी पंजाब—बहुत सूखे हैं, इनमें बन नहीं हैं। इसका परिणाम यह होगा कि यहाँ, बन-सम्पत्ति से होने वाले धन्धों के लिए अनुकूलता नहीं होगी। भारत के बन-प्रदेश या तो हिमालय के भागों में है, या दक्षिण में। ये सब भाग भारतीय संघ के अन्तर्गत हैं। इस प्रकार विभाजन के कारण भारतीय संघ की बन-सम्पत्ति में कोई न्यूनता नहीं आई।

**खनिज सम्पत्ति**—पाकिस्तान में कोयला केवल पश्चिमी पंजाब और बिलोचिस्तान में ही मिलता है, वह भी घटिया तथा थोड़े ही परिमाण में। सिन्ध तथा पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में तो कोयला है ही नहीं। पाकिस्तान में कोयले की खानों के पास लोहा आदि न होने के कारण यहाँ धातुओं को शुद्ध करने का कोई धंधा नहीं चलाया जा सकता। खनिज पदार्थों में से यहाँ केवल नमक की पहाड़ियाँ हैं। भारतवर्ष में जितना कोयला पाया जाता है उसका ६८ प्रतिशत से अधिक भाग पश्चिमी बंगाल, बिहार और गोंडवाना में मिलता है। ये सब

प्रदेश भारतीय संघ में हैं। भारतवर्ष का ८० प्रतिशत अभ्रक विहार में होता है। पाकिस्तान में यह बिल्कुल नहीं होता। यह बिजली का सामान बनाने के लिए ज़रूरी होता है। भारतीय संघ में बाक्साइट भी अच्छी मात्रा में मिलता है, जो कि अल्यूमीनियम के उद्योग के लिए उपयोगी होता है। सिमेंट और तेज़ (पेट्रोलियम) की दृष्टि से भी भारतीय संघ की स्थिति पाकिस्तान की अपेक्षा अच्छी है।

**उद्योग धंधे**—खनिज पदार्थों की कमी के कारण पाकिस्तान उद्योग धंधों में बहुत पिछड़ा हुआ है। यहाँ कल-कारखाने बहुत ही कम हैं, जो हैं वे अपेक्षाकृत छोटे आकार के हैं, और उनमें मौसमी कारखानों की अधिकता है। इस प्रकार यहाँ औद्योगिक व्यवसाय में स्थायित्व कम है, इससे श्रमजीवी जनता को बहुत कष्ट होता है। पाकिस्तान के कुल कारखानों में ७० फीसदी अकेले पश्चिमी पंजाब में, और २८ प्रतिशत सिन्ध में ही हैं। सन् १९४२ में सारे भारत के सूती कपड़े के ३९६ कारखानों में से पश्चिमी पाकिस्तान में केवल ८ ही थे। इसी प्रकार ऊनी कपड़े के १६ कारखानों में से यहां केवल एक था; यह था पश्चिमी पंजाब में। सिन्ध, बिलोचिस्तान और सीमाप्रान्त में एक भी नहीं था। अब पूर्वी पाकिस्तान की बात लीजिए। बंगाल की ९७ जूट-मिलें सबकी-सब पश्चिमी बंगाल में अर्थात् भारतीय संघ में हैं; पूर्वी पाकिस्तान में एक भी नहीं। कपड़े की २९ मिलों में से केवल ६ पूर्वी बंगाल में हैं। लोहे और फौलाद का एक भी कारखाना पूर्वी या पश्चिमी पाकिस्तान में नहीं है।

**यातायात के साधन**—उद्योग-धंधों के विकास के लिए यातायात के साधनों की आवश्यकता स्पष्ट ही है। भारतवर्ष अन्य औद्योगिक देशों की अपेक्षा बहुत पीछे है, और पाकिस्तान तो भारतीय संघ से भी पीछे है। रेलें भारतीय संघ में ३२,६११ मील हैं और पाकिस्तान में ७,९०० मील। सड़कें भारतीय संघ में २,४६,६०५ मील हैं, और पाकिस्तान में ४९,८६१ मील। भारतवर्ष के जिन प्रान्तों में यातायात के

साधन बहुत कम थे, वे अब पाकिस्तान के अंग हैं। सीमाप्रान्त तथा बिलोचिस्तान में इन साधनों का अभाव सा ही समझना चाहिए। जो थोड़ी सी रेलें इस प्रदेश में हैं, वे प्रायः सैनिक आवश्यकता के कारण बनाई गईं थीं, और बहुत घाटे पर चलती हैं। भूमि विषम और पहाड़ी होने के कारण यहाँ रेलें तथा सड़कें बनाना बहुत कठिन तथा व्यय-साध्य है। पंजाब और सिन्ध में भूमि चौरस या हमवार होने से, यहाँ रेलें और सड़कें बनाने में इतना खर्च नहीं होता, पर इस क्षेत्र की पैदावार अधिकतर खेती के पदार्थों की होने से यहाँ व्यापार छोटे पैमाने पर होता है। इसलिए यहाँ रेलें और सड़कें बनाने में रुपया खर्च करना कुछ लाभदायक नहीं रहता। पूर्वी पाकिस्तान में यातायात के साधनों की दशा पश्चिमी पाकिस्तान की अपेक्षा अच्छी है. पर वह भी विशेष सन्तोषप्रद नहीं।

भारतीय संघ में यातायात, पाकिस्तान की अपेक्षा, कहीं अच्छा है; कारण यहाँ उद्योग-धंधे और व्यापार अपेक्षाकृत उन्नत अवस्था में हैं। हाँ, आसाम में यातायात की व्यवस्था कम है, इसे बढ़ाने की आवश्यकता है। इस का प्रयत्न हो रहा है।

**व्यापार**—पाकिस्तान के पास खासकर जूट, कपास, गेहूँ, चावल, नमक और मेवा अपनी ज़रूरत से अधिक है। वह इन्हीं चीज़ों को निर्यात करेगा। दूसरी ओर उसे कोयला, लोहा, और कपड़ा, तथा चीनी, कागज़ आदि तरह-तरह की बहुत सी तैयार चीज़ों की ज़रूरत होगी। इस विषय में उसका भारतीय संघ से जो समझौता हुआ है, उसका उल्लेख 'विदेशी व्यापार' अध्याय में किया जा चुका है। यह स्पष्ट है कि जब तक पाकिस्तान अपने उद्योग धंधों की उन्नति न करे, उसकी आयात, निर्यात से अधिक रहेगी। इस प्रकार उसका विदेशी व्यापार उसके विपक्ष में रहेगा। यह बात हर दशा में अहितकर ही नहीं होती, परन्तु जब कि उसके चिरकाल तक बने रहने की सम्भावना हो तो अवश्य ही अहितकर होती है।

विभाजन के कारण भारतीय संघ को जो जूट, गेहूँ, कपास और नमक आदि की आयात करनी पड़ेगी, उसका संकेत ऊपर हो चुका है।

**पाकिस्तान की आर्थिक उन्नति की योजना**—पाकिस्तान का निर्माण चाहे जिन कारणों और परिस्थितियों से हुआ हो, वह अब एक स्वतंत्र राज्य है। उसके लिए आवश्यक है कि वह आर्थिक दृष्टि से उन्नत हो, और खेती तथा उद्योग धन्धों में यथेष्ट प्रगति करे। उसके पास खेती के लिए आवश्यक भूमि तथा खेती करनेवाले आदमियों की कमी नहीं। इसलिए वह इस दिशा में सहज ही उन्नति कर सकता है। परन्तु औद्योगिक उन्नति के लिए पाकिस्तान के पास यथेष्ट खनिज साधनों की बहुत कमी है। अभी वहाँ औद्योगिक श्रमियों की भी कमी है। हाँ, पश्चिमी पंजाब तथा पूर्वी बंगाल में जल-विद्युत पैदा करने की अनुकूलता है।

पाकिस्तान को सबसे अधिक आवश्यकता होगी, पूँजी की। इसकी वहाँ पहले ही कमी थी। फिर, उसने हिन्दुओं (व्यापारियों और पूँजीपतियों) को निकाल कर तथा कशमीर में भारतीय संघ से लड़ाई छेड़कर अपने आपको दिवालिया ही बना डाला। अब उसके पास इंगलैंड अमरीका आदि से ऋण लेने के सिवा और कोई चारा नहीं है। परन्तु ऐसा करने से पाकिस्तान पर साहूकार राष्ट्रों का हानिकारक राजनैतिक प्रभाव पड़ने की बहुत आशंका है। पाकिस्तान की शैशवावस्था की स्वतंत्रता का सहज ही दम घुट सकता है।

इसलिए बेहतर है कि वह भारतीय संघ से मित्रतापूर्ण व्यवहार करे; कशमीर आदि की लड़ाई में अपना जन-धन बर्बाद न करे और अपने वृथा अहंकार को त्याग कर आर्थिक संधियों और समझौतों से काम ले। उसे जिन तैयार चीजों की ज़रूरत हो, वे यथा-सम्भव भारतीय संघ से ले, और इस प्रकार अन्य देशों से व्यापार बढ़ाने और उनका कर्ज़दार होने की अपेक्षा भारतीय संघ से ही अपना सम्बन्ध बढ़ावे।

**भारतीय संघ सम्बन्धी विचार**—भारतीय संघ में औद्योगिक

साधन और सम्भावनाएँ बनी हुई हैं। विभाजन के बाद भी इस राज्य में ६८ प्रतिशत औद्योगिक श्रमी और अधिकांश महत्वपूर्ण खनिज सम्पत्ति विद्यमान है। हाँ, इसकी कृषि-पैदावार की स्थिति कुछ कमजोर हो गई है; क्योंकि अतिरिक्त उत्पादन करनेवाले कुछ क्षेत्र अब उससे बाहर हो गए हैं। खाद्यान्नों के अलावा अब उसे अपने कारखानों के लिए जूट और कपास आदि की अधिक आवश्यकता होगी। जूट तो उसे पाकिस्तान से ही लेना होगा। अस्तु, अच्छा है कि भारतीय संघ, पाकिस्तान से सद्व्यवहार-पूर्वक आर्थिक संधियाँ करे। उसे जिस कृषि-पैदावार आदि की आवश्यकता हो, वह जहाँ तक पाकिस्तान से मिल सके, वहाँ से ही ली जाय। हमें ध्यान रखना है कि पाकिस्तान आखिर हमारा पड़ोसी है; यदि वह निर्बल और निस्तेज हुआ और वहाँ विदेशी राष्ट्रों का अड्डा जमा तो यह भारतीय संघ के लिए भी हितकर न होगा।

**विशेष वक्तव्य**—निदान, हम भारतवर्ष के इन दोनों राज्यों के पारस्परिक सहयोग में ही दोनों का कल्याण मानते हैं। राष्ट्र-पिता म० गांधी का कहना था कि 'अगर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का बँटवारा ही हो तो वह दो भाइयों के बीच के बँटवारे या एक कुटुम्ब के लोगों के आपसी बँटवारे की तरह हो।' अफसोस! सम्प्रदायवाद के उन्माद ने हमें ऐसा न करने दिया। इसका दुष्परिणाम भी हमारे सामने आगया। अस्तु, अब तो हम महात्मा जी की इच्छानुसार दो भाइयों, या एक कुटुम्ब के आदमियों की तरह रहें। एक दूसरे की भूतकाल की भूलों और त्रुटियों को भुलाकर हम इस तत्व को ग्रहण करें कि यदि सम्प्रदायवाद ने हमें एक दूसरे से पृथक् किया है तो हमारी आर्थिक आवश्यकताएँ हमें एक-दूसरे से प्रेम-पूर्वक व्यवहार करने के लिए आमंत्रित कर रही हैं। हम गम्भीरतापूर्वक सोचें और अपना कर्तव्य निर्धारित करें। शुभम्।

